संस्कृत-समीक्षा : सिद्धान्त और प्रयोग

अलंकार प्रकाशन, ६६६ झील, दिल्ली-५१

संस्कृत-समीक्षा
सिद्धान्त और प्रयोग

डॉ० सत्यदेव चौधरी
शास्त्री, एम० ए० [हिन्दी, संस्कृत], पीएच० डी०
रीडर, हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मूल्य : साठ रुपये (६०.००)

संस्करण : प्रथम १९८३

प्रकाशक : अलंकार प्रकाशन,
६६६ झील, दिल्ली-११००५१

मुद्रक : मयूर प्रैस, दिल्ली-३३

Sanskrit-Sameeksha : Sidhanta Aur Prayog
by Dr. Satyadev Choudhary Rs. 60/-

दो शब्द

संस्कृत-समीक्षा के सिद्धान्त और प्रयोग पक्षों का यह अद्भुत संगम विषयवस्तु को सर्वांगीण रूप में प्रस्तुत करेगा। आशा है सुधी पाठकों को यह प्रयास रुचिकर प्रतीत होगा।

—सत्यदेव चौधरी

मर्मज्ञैः काव्यतत्त्वस्य कृतं यदि विमर्शनम्।
सर्वथा स्याच्छिरोधार्यं मम तुष्टिप्रदं परम्॥

विषय-सूची

खण्ड : १

खण्ड : २

संस्कृत-ग्रन्थकार : ईस्वी शती के अनुसार

दूसरी शती ई० पूर्व से दूसरी शती ई० तक के बीच : भारत

पहली शती	कालिदास (संभवतः पहली अथवा पांचवीं शती), अश्वघोष
दूसरी शती	: वात्स्यायन
चौथी शती	: विशाखदत्त
पांचवीं शती	: कालिदास (संभवतः पहली अथवा पांचवीं शती)
छटी शती	: भामह
सातवीं शती	: अमरुक (आठवीं शती से पूर्व), दण्डी, भट्ट नारायण, भट्टि, भारवि, माघ, हर्षवर्धन (हर्षदेव), शंकराचार्य, (६३२-६६४ अथवा ७८८-८२०) भवभूति
आठवीं शती	: दामोदर गुप्त (आठवीं नवीं शती), वामन (आठवीं-नवीं शती) शंकराचार्य (६३२-६६४ अथवा ७८८-८२०)
नवीं शती	: आनन्दवर्धन, राजशेखर (नवीं-दसवीं शती), रुद्रट
दसवीं शती	: कुन्तक (दसवीं-ग्यारहवीं शती) अभिनवगुप्त (दसवीं-ग्यारहवीं शती), त्रिविक्रमभट्ट, धनञ्जय
ग्यारहवीं शती	: क्षेमेन्द्र, दामोदर मिश्र, भोजराज, मम्मट, महिमभट्ट, बिल्हण
बारहवीं शती	: रुय्यक, हेमचन्द्र, जयदेव, पीयूषवर्ष (बारहवीं-तेरहवीं शती), श्रीहर्ष
तेरहवीं शती	: जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ
चौदहवीं शती	: मल्लिनाथ, विश्वनाथ
पन्द्रहवीं शती	: केदारभट्ट, गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपाल (पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती)
सोलहवीं शती	: केशवमिश्र
उन्नीसवीं शती	: जीवानन्द
आधुनिक	: नवकिशोरकर, मणिराम

संस्कृत-समीक्षा : सिद्धान्त और प्रयोग

१.

वैदिक साहित्य में काव्यशास्त्र के स्रोत

काव्य के अध्ययन के दो सहज परिणाम हैं—आस्वाद-प्राप्ति और गुण-दोष-परीक्षण, और ये दोनों परस्पर असम्पृक्त तथा अन्योन्याश्रित हैं। अध्ययन करते समय हम गुण-दोष-परीक्षण करते चलते हैं तथा उसी के अनुरूप साथ ही साथ हमें काव्यास्वाद भी प्राप्त होता रहता है। आस्वाद-प्राप्ति के पश्चात् जब कभी हम किसी काव्य का गुण-दोष-परीक्षण करने लगते हैं तो आस्वाद-प्राप्ति पृष्ठाधार बनकर इस कार्य में हमारी सहायता करती है। इस प्रकार काव्य का समीक्षण और आस्वादन परस्पर असम्पृक्त हैं, किन्तु नामकरण उसी का होता है जिसका प्राधान्य रहता है। जो अप्रधान होता है वह आधार, पोषक एवं साधन बना रहता है, और जो प्रधान होता है वह आधेय, पोष्य एवं साध्य।

काव्य-समीक्षा का आरम्भ भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से माना जा सकता है, यद्यपि जनश्रुति एवं दन्तकथा इसकी परम्परा शिव से स्वीकृत करती है,[1] किन्तु नाट्यशास्त्र से इतर किसी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की उपलब्धि-पर्यन्त यह श्रेय भरत मुनि को मिलता रहेगा। इनसे पूर्व निस्सन्देह कोई काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं है, पर काव्य-समीक्षा-विषयक संकेत एवं स्रोत वैदिक साहित्य से ही मिलना आरम्भ हो जाते हैं। कुछ स्थल लीजिए—

—देवकृत काव्य को देखो जो कि अमर तो है ही, यह कभी जीर्णता को भी प्राप्त नहीं होता। —**देवस्य पश्य काव्यम्, न ममार न जीर्यति।** (अथर्ववेद १०८.३२)। वाल्मीकि और कालिदास, शैक्सपियर और मिल्टन, तुलसी और प्रसाद, आदि महान् कवियों के काव्य भी अजर-अमर हैं।

—काव्य के मर्म को सहृदय ही जानता है, बेचारा असहृदय, काव्य का पाठमात्र करने वाला व्यक्ति, जो कि अर्थों को नहीं जानता, तो बस उस स्तम्भ के समान है जो केवल भार उठाये हुए है। उसकी स्थिति ऐसे है जैसे अग्नि के बिना ईंधन का ढेर पड़ा हो—रूखा-रूखा और दीप्ति-हीन।[2] किन्तु जो अर्थ को—वास्तविक मर्म को—जानता है वही 'भद्र' (सुकल्याण : काव्यास्वाद) का भोगी है। वही ज्ञान के द्वारा

---

१. काव्यमीमांसा (राजशेखर), पृष्ठ ३, देखिए आगे पृष्ठ ३६

२. **यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।**
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

सकल पापों—सांसारिक पूर्वाग्रहों से—विमुक्त होकर [काव्यानन्द-रूपी] स्वर्ग को प्राप्त करता है।[1]

—[काव्य के मर्म का अज्ञाता] अन्धा भी है और बहरा भी। वह तो वाणी (काव्य) को देखता हुआ भी नहीं देखता, इसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता। किन्तु जो इसका ज्ञाता है उसके आगे तो यह वाणी अपना सर्वस्व खोलकर रख देती है—ठीक ऐसे, जैसे एक ऋतु-स्नाता पत्नी अपने पति को चाहती हुई उसे अपना सर्वस्व समर्पित कर देती है।[2]

—जो मन्त्रों के अक्षरों और अर्थों को नहीं जानता, वह केवल ऋचाओं [के पाठमात्र] से भला क्या लाभ प्राप्त कर सकता है ?[3] इधर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में काव्य को भी शब्द और अर्थ के सहितभाव पर आधारित मानकर उसके बहुविध लक्षण स्थिर करने के प्रयास किये गये हैं। 'वागर्थ' के इस 'सम्पृक्तभाव' का स्रोत कदाचित् उपर्युक्त प्रकार के वेद-वचन माने जा सकते हैं।

काव्य-समीक्षा का एक ध्येय यह भी होता है कि पाठक को चुनी हुई अर्थात् उत्कृष्ट सामग्री का ज्ञान हो जाए, जिससे कि वह प्रत्येक प्रकार के काव्य-पठन के श्रम से बच सके। समीक्षक उत्कृष्ट साहित्य को पाठक के आगे ऐसे उपस्थित कर देता है जैसे कि छालने में से छने हुए सत्तू। वस्तुतः स्वयं कवि भी काव्य-रचना करते समय शब्द-चयन करता चलता है। अनेक पर्यायवाची शब्दों में से वह एक ऐसे शब्द का प्रयोग करता है जो उसके अभीष्ट भाव को प्रकट करता है—शब्द और अर्थ का यह सहित-भाव, जिसके कारण साहित्य 'साहित्य' कहाता है, कवि की चयन-शक्ति पर आधारित रहता है। वैदिक ऋषि मानो इसी भाव को लक्षित करते हुए कहता है—'जो वीर जन अपने मन से वाणी को इस प्रकार से छानते हुए, जैसे कि कोई छालनी

---

१. स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत सकलं भद्रमश्नुते, नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥
तुलनार्थ—

काव्ये × × × नाट्ये च × × × निविडनिजमोहसंकटता-निवारणकारिणा, विभावादिसाधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयांशेन भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानो रसः। —हिन्दी अभिनवभारती, पृष्ठ ४६४

२. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वा शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ ऋग्वेद १०.७१.४

३. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति च इत् तद् विदुस्ते अमी समासते॥
—अथर्व० ९.१०.१८

द्वारा सक्तु को छानता है, प्रयोग करते हैं, उनकी वाणी में सुकल्याणी 'लक्ष्मी' (काव्य-पक्ष में : आह्लादकता) वास करती है'—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधि वाचि ।।

—ऋग्वेद १०.७१.२

—कवि अपने वाग्वैदग्ध्य के आधार पर वर्ण्य विषय को बहुविध अभिव्यक्ति प्रदान करता है तथा उसे स्वच्छ रूप में प्रस्तुत कर देता है। वैदिक ऋषि के शब्दों में—'**सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः ।**'[1]

—काव्यभाषा यथावश्यक रूप में मधुर होनी चाहिए। लालित्य उसकी काम्य—सम्पदा है। शृंगार और करुण, अद्‌भुत और शान्त रसों में माधुर्य गुण अपेक्षित रहता है। वैदिक ऋषि भी वाणी की इस विशिष्टता की कामना करता हुआ कहता है—मेरी जिह्वा के अग्र भाग में मधुरता हो और जिह्वा के मूल में मधुरता हो × × × मैं जो भाषा बोलूं वह मधुर हो[2]। काव्य-रचना का क्षण कवि की तन्मयता एवं आत्मविभोरावस्था का क्षण होता है। उसका एक के बाद एक भाव शब्द के रूप में स्वतः निःसृत होता चला आता है। उसे इन्हें सजाने, संवारने की आवश्यकता नहीं पड़ती। काव्यशोभा के उपकरण-स्वरूप अलंकार प्रतिभावान् कवि के आगे मानो हाथ बांधे चले आते हैं—**अलंकरणान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहंपूर्विकया परापतन्ति ।** (ध्वन्यालोक २.१६ : वृत्ति)। इसी भाव को उधर वैदिक ऋषि ने इन शब्दों में व्यक्त किया था, 'हे इन्द्राग्नी, तुम दोनों के लिए मेरी पूर्व-स्तुति इस प्रकार स्वतः निःसृत हो चली थी, जैसे कि बादलों से वृष्टि'—**पूर्व्यस्तुतिः अभ्राद् वृष्टिरिवाजनि,**[3] और ऐसी [काव्य-] वाणी मधु की लहरों का स्रवण करने वाली होती है।[4] हृदय के भीतर रहती हुई यह वाणी मन से छन कर जब बाहर निकलती है तो सरिता के समान प्रवहमान होने लगती है।[5] यह वाणी

---

१. एक अन्य वचन भी—
सहस्रधारः परिषिच्यते हरिः पुनानो वाचम् । ऋग्वेद ९. ८६.३३

२. जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वा मूले मधूलकम् ।
× × ×
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ।। अथर्ववेद १.३४

३. इयं वामस्य मन्मनः इन्द्राग्नी पूर्व्यस्तुतिः ।
अभ्राद् वृष्टिरिवाजनि । ऋग्वेद ७.९४.१

४. वां मध्व ऊर्मिं दुहते सप्त वाणीः । ऋग्वेद ८.५९.३

५. सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः । ऋग्वेद ४.५८.६

हृदय-रूपी समुद्र से उद्भूत होती है, [तथा इतनी आकर्षक होती है] कि शत्रु भी इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते,[1] [अर्थात् वह निज और पर का भेद मिटा कर सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक बन जाती है, और इस प्रकार सहृदय को रसास्वादन-सक्षम बनाने में समर्थ होती है ।] काव्य वर्ण्य विषय को अमर बना देता है । तभी वैदिक ऋषि ने कवियों से कहा, 'अमरता के लिए वाणियों द्वारा प्रयास करो । देवताओं की स्तुति में गुह्य पदों को बनाओ । इसी से वे अमरता को प्राप्त करेंगे'—

सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ ।
विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन, येन देवासो अमृतत्वमानशुः ॥ ऋग्वेद १०.५३.१०

रस (काव्यानन्द) को ब्रह्मास्वाद-सहोदर कहा गया है । इसके आस्वादन के क्षण में प्रमाता निज और पर के भावों से, तथा राग-द्वेष से विमुक्त होकर तन्मयता एवं आत्मविमोरता की स्थिति में पहुँच जाता है । काव्यशास्त्र की इस मान्यता की तुलना निम्नोक्त उपनिषद्-वचन से कीजिए—

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति । आश्चर्यवत् पश्यति वीतशोकः ।
ये पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः ॥

नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्र का अभिन्न अंग है । इसके स्रोत के सम्बन्ध में स्वयं भरत मुनि ने चारों वेदों के प्रति आभार प्रकट करते हुए कहा—ऋग्वेद से पाठ्य लिया गया, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस ।[2] नाटक के चार अंग माने गये हैं—संवाद, गीत, संगीत और नृत्य । इनमें से संवाद का स्रोत ऋग्वेद के निम्नोक्त संवाद माने जा सकते हैं—विश्वामित्र-नदी-संवाद, यम-यमी-संवाद, सरमा-पणिस्-संवाद, इन्द्र-वरुण-संवाद आदि । इसी प्रकार शेष तीनों अंगों के स्रोत भी वैदिक साहित्य में उपलब्ध हो जाते हैं ।

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर वाक् के सात रूप भी माने गये हैं,[3] और तीन रूप भी ।[4] भाष्यकारों के अनुसार सात रूपों से आशय सात स्वरों अथवा छन्दोभेदों से है, और तीन रूपों से आशय है—ऋक्, यजुः और साम से, जो कि काव्य के

---

१. एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे । ऋग्वेद ४.५८.५

२. जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामेभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि ॥ (नाट्यशास्त्र)

३. एकं गर्भं दधिरे सप्त वाणी । ऋग्वेद ६. १. ६.
आ मातरा विविशुः सप्त वाणी ।—वही ७. १. १.

४. तिस्रो वाचः प्रवद ज्योतिरग्रा ।—वही ७. १०१. १.
तिस्रो वाचः उदीरते । —वही९. ३३. ४.
प्रसवे ते उदीरते तिस्रो वाचो मखस्युवः । वही ९. ५०. २.

क्रमशः गद्य, पद्य और गेय—इन तीनों रूपों के प्रतीक हैं। इस प्रकार पद्यवद्ध और गद्यवद्ध—काव्य के पहले ये दो भेद होते हैं। पद्यवद्ध काव्य के फिर दो भेद—गेय और अगेय। फिर गेय काव्य, स्वरों अथवा छन्दों के आधार पर, सात प्रकार का होता है। चाहें तो इन स्थलों को काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में निर्दिष्ट काव्य-भेदों का स्रोत मान सकते हैं।

वेद सदोप वाणी को गर्हित मानता है। इन्द्र के शत्रुओं (अनार्यों) को 'मृध्रवाचः'[1] कहा गया है, क्योंकि वे मृध्र अर्थात् म्लेच्छ अथवा भ्रष्ट वाणी को वोलने वाले हैं। उन्हें 'वध्रिवाचः'[2] भी कहा गया है, क्योंकि अनार्यों की भापा आर्यों के लिए वध्रि (वांझ) के समान है। इस प्रकार 'मृध्र' शब्द के आधार पर 'अशुद्ध उच्चारण' पहला दोष है, और 'वध्रि' शव्द के आधार पर दूसरा दोप है—'अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति में असमर्थता।' यही स्थिति काव्य पर भी घटित होती है। वह काव्य भी क्या जो अशुद्ध रूप से उच्चरित तथा अर्थगम्यता में असमर्थ हो? काव्य-शास्त्र पहले दोप को 'च्युतसंस्कृति' के अन्तर्गत मान सकता है और दूसरे दोप को 'असमर्थता' के अन्तर्गत। यहां यह उल्लेख्य है कि वेदों के मन्त्रों के अशुद्ध उच्चारण करने वाले को—चाहे यह अशुद्धता स्वरों और वर्णों की भी क्यों न हो—शिक्षाकार ने यजमान का घातक, अतएव दण्ड का भागी ठहराया है।[3] ठीक इसी प्रकार की धारणाएं काव्यशास्त्रियों ने भी प्रस्तुत की हैं।[4]

---

१. दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः।—वही ५. २९. १०
यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः........।—वही, १०. २३. ५

२. ...इन्द्र...अमित्रानरन्धयत् मानुषे वध्रिवाचः। वही, ७.१८.१

३. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
—महाभाष्य (पस्पशाह्निक)

४. (क) सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते॥
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः॥
—काव्यालंकार (भामह) १.११.१२.

(ख) गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ काव्यादर्श १. ६, ७

अब वेदार्थ-निरूपक 'निरुक्त' नामक वेदांग को लीजिए। इसमें अलंकारों के मूलाधार उपमा अलंकार का पर्याप्त विवेचन किया गया है, जो कि संक्षेप में इस प्रकार है। गार्ग्य के अनुसार उपमा का लक्षण है—**'यदतत् तत्सादृश्यम्'**, अर्थात् एक दूसरे से भिन्न उपमेय और उपमान को समान बतलाना उपमा कहाता है। उपमा के तीन अंग हैं—उपमेय, उपमान और सादृश्य। सादृश्य-कथन दो प्रकार का संभव है—(क) किसी श्रेष्ठ गुण से, अथवा अत्यन्त प्रसिद्ध [कर्म या व्यक्ति] से किसी हीन गुण अथवा अप्रसिद्ध [कर्म या व्यक्ति] की समानता बताना। (ख) किसी हीन गुण वाले [उपमान] से अधिक गुण वाले [उपमेय] की समानता बताना। सादृश्यवाचक शब्द ये हैं—इव, न, चित, नु, भूत, आदि, तथा इनके आधार पर उपमा के अनेक भेद सम्भव हैं।[1]

काव्यशास्त्र के प्रमुख विषयों में से एक है शब्दशक्ति। इसके सम्बन्ध में भी निरुक्त में स्पष्टतः संकेत मिलते हैं। निम्नोक्त स्थल लीजिए :

अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।

अर्थात्, अपने व्यवहार को सुचारु रूप से चलाने के लिए [विभिन्न पदार्थों का] नामकरण किया जाता है जो कि शब्दपरक (ध्वन्यात्मक, नादात्मक, उच्चारण-गम्य) होता है। स्पष्ट है कि 'संज्ञाकरण' शब्द में अभिधाशक्ति-विषयक स्रोत निहित है। —**'अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि'**, **'गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता'**[2]—ऋग्वेद के इन दो वाक्यों में से प्रथम वाक्य में 'गो' शब्द से अभिप्रेत है—'गौ के चर्म से बना आसन', और द्वितीय वाक्य में 'गो' शब्द से अभिप्रेत है—'गौ की आंत'।[3] ये दोनों अर्थ वाच्यार्थ न होकर लक्ष्यार्थ हैं। इस प्रकार निरुक्त में लक्षणाशक्ति-विषयक संकेत भी उपलब्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में उपलब्ध काव्यशास्त्र-विषयक सामग्री का यह एक दिग्दर्शन मात्र है। यही धारणाएं आगे चलकर धीरे-धीरे पनपती और विकसित होती चली गयीं, और अन्ततः काव्यशास्त्र का रूप धारण कर गयीं। वेदों में काव्य-चमत्कारपूर्ण स्थल तो यत्र-तत्र बहुसंख्या में मिल जाते हैं, जिनमें से कुछ एक इसी लेख में आगे प्रस्तुत किए जा रहे हैं। किन्तु स्पष्ट है कि उपर्युक्त काव्यशास्त्रीय धारणाएं इन स्थलों को लक्ष्य में रखकर नहीं, अपितु स्वतन्त्र रूप में, और वह भी प्रकारान्तर से, प्रतिपादित हुई हैं।

---

१. निरुक्त (यास्क) ३.१३

२. सोम को दुहते हुए गाय (अर्थात् गाय के चर्म से बने आसन) पर बैठते हैं।

३. फेंका हुआ [तीर, जो कि] गाय (अर्थात् गात की आंत) से मढ़ा हुआ है, [दूर] जा पड़ता है। निरुक्त २.५

काव्यसौन्दर्य-द्योतक स्थल

अब अन्त में वैदिक साहित्य[1] से कुछ ऐसे स्थल लिये जा रहे हैं जिनमें काव्य-सौन्दर्य लक्षित होता है। यों चाहें तो हम इन्हें शब्दशक्ति, रस, अलकार आदि के भेदों के उदाहरण-स्वरूप स्वीकार कर सकते हैं। इनमें लक्षणा अथवा व्यन्जना की द्युति मिलेगी। शृंगार, करुण आदि रसों की चमत्कृति उपलब्ध होगी, तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति आदि बहुविध अलंकारों की सुन्दरता तो अनेक स्थलों में देखने को मिलेगी। किन्तु यहाँ इन्हें इस उद्देश्य से प्रस्तुत किया जा रहा है कि हम इनमें काव्य-सौन्दर्य देख सकें, इनमें काव्यशास्त्रीय विभिन्न तत्त्वों को ढूंढने की दृष्टि से ये स्थल प्रस्तुत नहीं किये जा रहे।

अब कुछ मन्त्र ऋग्वेद से लीजिए—

कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती॥ ऋग्० १.१२३.१०

तरुणी उषा का मन अपने वल्लभ सूर्य को देखकर नाच उठा। वह स्मित-वदना अपने प्रिय को उसका अभीष्ट [सुख] प्रदान करने के लिए उसके सम्मुख खड़ी हो गयी और उसने अपने वक्षःस्थल को खोल दिया।

जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः। ऋग्० १. १२४. ७

उषा लोगों को अपना रूप उस प्रकार दिखा देती है, जिस प्रकार कामयुक्त नारी ऋतुकाल में सुन्दर वस्त्र धारण कर पति को अपना रूप दिखाती है, तथा उषा अपने भीतर छिपे हुए सब द्रव्यों के रूपों को उस प्रकार दिखा देती है, जिस प्रकार हँसती हुई अथवा हास्य स्वभाव वाली कोई नारी हँसकर अपने दाँतों को दिखाती है।

ता इन्नवेव समना समानीरमीतवर्णा उषसश्चरन्ति।
गूहन्तीरभ्वमसितं रुशद्भिः शुक्रास्तनूभिः शुचयो रुचानाः॥ ऋग्० ४.५१.९

ये उषाकाल—जो कि अब भी वैसे के वैसे हैं, वैसे ही अपनी चमकती हुई आकृतियों से युक्त हैं, वैसे ही जाज्वल्यमान हैं तथा वैसे ही इनसे किरणें फूट रही हैं, इनके वर्ण में कोई अन्तर नहीं आया—[आगे की ओर] बढ़ रहे हैं तथा [बढ़ते समय] काले राक्षस [के समान अन्धकार] को ढपते चले जा रहे हैं।

वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अपध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान्॥ ऋग्० १०. ७३. ११

...ुछ स्थल प्रस्तुत कर
... कर सकते है।

जब मेघ ने नभोमण्डल को घेर लिया तब जल को खींचने वाली रश्मियां इन्द्र (मेघ प्रेरक वायु) के पास आकर बोलीं, हे इन्द्र ! हमारी गति ऐसी हुई है जैसी कि जाल में बन्धे हुए पुरुष की। इस अन्धकार को हटाइये जिससे हम देख सकें।

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्याकर्त्तोर्विततं संजभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥ ऋग्० १. ११५. ४

यही सूर्यदेव का महत्व है कि वह सायंकाल के समग्र विस्तृत रश्मिजाल को समेट लेता है—और जहाँ इसने अपने रश्मिजाल को अथवा घोड़ों को लौटाया कि रात्रि अपनी चादर चारों ओर फैला देती है।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥ ऋग्वेद १०. १२९. ३

सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व प्रगाढ़ अन्धकार ही अन्धकार था। कुछ भी पता नहीं चलता था—ऐसे, जैसे जल के भर जाने से नीचे की वस्तुओं का पता नहीं चलता। यह सब उस [सत्त्व ब्रह्म] की महिमा से उत्पन्न हुआ है।

नाहं तन्तुं न विजनाम्योतुं न यं वियन्ति समरेऽतमानाः।
कस्यस्वित्पुत्रः इह वक्त्वानि परो वदात्यवरेण पित्र॥ ऋग्वेद ६. ९१. २

इन दोनों मन्त्रों का भावार्थ कुछ इस प्रकार है—सूर्य वैश्वानर के पास न तन्तु हैं, न ताना है, न बाना है, न वह बुनना जानता है, तथापि वह इस दिन रूपी विस्तृत वस्त्र को बुन डालता है—यही आश्चर्य है। रात्रि भी तन्तु आदि सामग्री के बिना अपना विस्तृत अन्धकारमय पट बुन डालती है, और प्रातः होते ही बुने हुए लम्बे वस्त्र को लपेट लेती है।

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिर्लमिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः॥
—ऋग्वेद ६. ६१. २

यह सरस्वती—जल वाली नदी—बढ़े हुए वेग वाले जल के कारण पहाड़ों के शिखरों को ऐसे काटती हुई जा रही है जैसे पत्थर काटने वाला [व्यक्ति] अपनी छेनी से पत्थर को तोड़ता-फोड़ता है। इस पार और अवार को तोड़ने वाली नदी से बचने के लिए हम [कोई] बाधा डालें।

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्य धीताम्। ऋग्वेद १०.४.६

[हे अग्ने !] जिस प्रकार जंगल में घूमने वाले, और [समय आ पड़ने पर] अपने शरीर को छोड़ने वाले, अर्थात् मृत्यु की चिन्ता न करने वाले, दो तस्कर दस (अनेक) रस्सियों से [पथिकों को] बाँध डालते हैं, उसी प्रकार [अग्नि-मन्थन करते समय] अध्वर्यु की दोनों बाहुओं ने दस अँगुलियों से तुम्हें (अग्नि को) बाँध लिया है।

कुह स्विद् दोषा, कुह वस्तोरश्विना
कुहाभिपित्वं करतः, कुहोषतुः ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न
न योषा कृणुते सधस्थ आ ।। ऋग्वेद १०.४०.२

[बहुत दिनों बाद आये अश्विदेवों से काक्षीवती घोषा पूछती है—'हे अश्विनो! कहाँ रात को [रहे] ? कहाँ दिन में [रहे] ? [यह] आना-जाना कहाँ करते हो ? कहाँ रहते हो ? यह कौन हैं जो तुमको शयन में बुलाता है—ऐसे, जैसे—विधवा [भाभी] अपने देवर को बुलाती है, अथवा घर में स्त्री (पत्नी) [अपने] पुरुष को बुलाती है ।

○ ○

अब कुछ स्थल उपनिषदों से प्रस्तुत हैं—

ऊर्ध्वमूलो ऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः । कठोपनिषद् ३.१

[यह जगत्] ऐसा सनातन पीपल का पेड़ है जिसका मूल-भाग ऊपर की ओर है और शाखाएँ नीचे की ओर हैं ।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।। कठोपनिषद् ३.३

आत्मा को रथी जान, शरीर को रथ जान, बुद्धि को सारथि और मन को लगाम जान ।

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः । कठोपनिषद् ४.८

[यह वह तत्त्व है जो कि] ऐसे गुप्त रहता है जैसे दो अरणियों में अग्नि गुप्त रहती है, अथवा गर्भिणी स्त्री के शरीर में गर्भ स्थित रहता है ।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।। कठोपनिषद् ५.९

जैसे एक ही अग्नि जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थों में प्रविष्ट होने पर उनके विभिन्न रूपों को धारण कर लेता है, उसी प्रकार एक ही अन्तरात्मा अनेक भूतों में प्रवेश करके अनेक रूपों में व्यक्त होता है। वह [उन प्राणियों के] बाहर भी है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
जंघन्यमानाः[1] परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।। मुण्डकोप० २.८

---

१. कठोपनिषद् में 'जंघन्यमानाः' के स्थान पर 'दन्द्रम्यमाणाः' पाठ है, अर्थात् इधर-उधर भटकते हुए ।

अविद्या के मध्य में रहने वाले और अपने आपको बुद्धिमान् तथा पण्डित मानने वाले वे मूढ़ पुरुष अन्धे से ले जाये जाते हुए अन्धे के समान पीड़ित होते सब ओर भटकते रहते हैं।

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद् भवेदपरिखेदतः ॥ माण्डूक्योपनिषद् २.४१

जिस प्रकार कुशा के अग्र भाग से एक-एक बूंद द्वारा समुद्र को उलीचा जा सकता है उसी प्रकार सब प्रकार की खिन्नता का त्याग कर देने पर मन का निग्रह हो सकता है।[1]

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता ।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः ॥ माण्डूक्योप० २.१७

जिस प्रकार [अपने स्वरूप से] निश्चय न की हुई रज्जु अन्धकार में सर्पधारा आदि भावों से कल्पित की जाती है, उसी प्रकार आत्मा में भी तरह-तरह की कल्पनाएं हो रही हैं।

यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते ।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ॥ माण्डूक्योप० ३.५

जिस प्रकार एक घटाकाश के धूलि और धुएँ आदि से युक्त होने पर समस्त घटाकाश उनसे युक्त नहीं होते, उसी प्रकार [एक जीव के सुखादिमान् होने पर सब] जीव भी सुखादि धर्मों से लिप्त नहीं होते।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.५

प्रकृति को—जो कि एक-समान आकार वाली बहुत सी प्रजा (पदार्थों) को उत्पन्न करने वाली है, तथा तेज, अप् और अन्न रूपा है—एक जीव तो सेवन करता हुआ भोगता है, किन्तु दूसरा जीव गुरूपदेश-रूप प्रकाश से अविद्या-रूप अन्धकार के नष्ट होने जाने के कारण उसी प्रकृति को छोड़ देता है। इसी आशय को उपनिषत्कार ने निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत किया है—[इस] एक बकरी (पक्षे—प्रकृति) को, जो कि अपने अनुरूप बहुत सी प्रजा उत्पन्न करने वाली है, तथा लोहित, शुक्ल और कृष्ण वर्ण की है, अर्थात् चित्र-विचित्र है (पक्षे—प्रकृति भी चित्र-विचित्र होती है), एक बकरा (पक्षे—जीव) सेवन करता हुआ भोगता है और दूसरा अज (पक्षे—जीव) उस भुक्तभोगा को (पक्षे—माया-स्वरूपिणी को) त्याग देता है।[2]

१. स्पष्ट है कि यहाँ उपमान-वाक्य नितान्त असम्भव है।

२. उक्त अर्थ शंकर-भाष्य के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

अंगाद् अंगात् संभवसि हृदयादधिजायसे।
स त्वमंगकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमामम् मयीति ॥[1]

—बृहदारण्यकोपनिषद् ६.४.६

[हे वीर्य !] तुम मेरे प्रत्येक अंग से प्रकट होते हो, [विशेषतः मेरे] हृदय से तुम्हारा प्रादुर्भाव होता है। [अतः] जिस प्रकार विष लगाये हुए बाण से घायल हिरणी मूर्च्छित हो जाती है, उसी प्रकार तुम इसको (मेरी पत्नी को) मेरे प्रति उन्मत्त बना दो।

× × ×

इस प्रकार हमने देखा कि वैदिक साहित्य में काव्य-सौन्दर्य-द्योतक स्थल बहु-संख्या में उपलब्ध हो जाते हैं। स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों का ध्येय काव्य-ग्रन्थों का निर्माण करना नहीं था। ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं तथा उपनिषदों में ब्रह्म एवं आत्मा के स्वरूप-प्रतिपादन में, अथवा किसी भी प्रकार के अन्य प्रसंगों में, जहाँ ऋषि भावातिरेक की स्थिति में आ गये वहाँ उनके मुख से काव्योपम स्थल स्वतः प्रस्फुटित हो गये। यही कारण है कि ऐसे स्थल सर्वत्र नहीं हैं, ढूंढने पर ही मिलते हैं, फिर भी इनकी संख्या पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत लेख में हमने यह देखा कि वैदिक साहित्य में काव्यशास्त्रीय धारणाएँ भी यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाती हैं, किन्तु, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट कर आये हैं, काव्यशास्त्रीय धारणाएँ उपर्युक्त, अथवा ऐसे अन्य काव्यसौन्दर्य-द्योतक, स्थलों को लक्ष्य में रखकर प्रतिपादित नहीं हुई, अपितु स्वतन्त्र रूप से—काव्यसौन्दर्य-द्योतक स्थलों से नितान्त निरपेक्ष रहकर—स्वतः प्रतिपादित हो गयीं हैं। वस्तुतः, किसी प्रकार के काव्य-सौन्दर्य को लक्ष्य में रखकर काव्य-सिद्धान्तों को निर्दिष्ट करना किसी भी मन्त्र-द्रष्टा को अभीष्ट था भी नहीं। फिर भी, यही धारणाएँ आगे चलकर धीरे-धीरे विकसित होते-होते 'काव्यशास्त्र' नामक विद्या का रूप धारण कर गयीं—और इस प्रकार वैदिक साहित्य को—विशेषतः ऋग्वेद को—अन्य विद्याओं के समान, इस विद्या का भी स्रोत मान सकते हैं—साक्षात् रूप से न सही, किन्तु प्रकारान्तर से तो अवश्य मान सकते हैं।

o o o

---

१. निरुक्त में दूसरी पंक्ति इस प्रकार प्रस्तुत हुई है—"आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्।" (निरुक्त ३.४.२)। दायाद-भाग के प्रसंग में उद्धृत इस कथन में पुत्र को संबोधित किया गया है।

२.

संस्कृत-काव्यशास्त्र का सर्वेक्षण

[१]

संस्कृत का काव्यशास्त्र विकास-वद्ध सिद्धान्तों का एक अमर कोश है। इस शास्त्र का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ नाट्यशास्त्र है, जिसका प्रणेता भरत को माना जाता है। इसी कारण भरत को इस दिशा में आद्याचार्य माना गया है। इस शास्त्र का अन्तिम प्रकाण्ड आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ है, जो कि रसगंगाधर का रचयिता है। भरत का समय दूसरी शती ईस्वी-पूर्व और दूसरी शती ईस्वी के मध्य कहीं माना गया है, और जगन्नाथ सत्रहवीं शती में विद्यमान थे। इस प्रकार यह शास्त्र डेढ़-दो सहस्र वर्षों की अवधि में परिव्याप्त है। इस अवधि में काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों में निरन्तर—कभी तीव्र और कभी मन्द—विकास होता रहा, जिसका दिग्दर्शन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य-विधान की जो स्थिति रसवाद के प्रथम प्रतिष्ठापक अथवा प्रतिपादक भरत के समय में रही होगी, वह अलंकार को काव्यसर्वस्व मानने वाले काव्यालंकार-कार भामह और काव्यादर्शकार दण्डी के समय, छठी-सातवीं ई० में, परिवर्तित हो गयी। इसके अनुसार रस को 'अलंकार' का ही एक रूप मान लिया गया। आगे चलकर नवीं शती में एक साथ तीन प्रवल काव्याचार्यों—वामन, उद्भट और आनन्द-वर्धन—का आविर्भाव हुआ। वामन का ग्रन्थ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति है, उद्भट का काव्यालंकारसारसंग्रह और आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक। इनमें से वामन ने 'रीति' का समर्थन करते हुए, और इसे काव्य की आत्मा घोषित कर, अलंकार तथा रस को गौण स्थान दिया, और उद्भट ने भामह के अनुकरण में अलंकारवाद का प्रवल समर्थन किया। परन्तु आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन कर काव्यशास्त्र को एक नितान्त नयी दिशा की ओर मोड़ दिया। यही कारण है कि आनन्दवर्धन को इस शास्त्र का युग-प्रवर्त्तक कहा जाता है, और सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर तीन कालों में विभक्त किया जा सकता है : (१) ध्वनि-पूर्ववर्ती काल, (२) ध्वनि-काल अथवा आनन्दवर्धन-काल, और (३) ध्वनि-परवर्ती काल।

आनन्दवर्धन के पश्चात् पूरे दो सौ वर्ष तक विभिन्न काव्यशास्त्री ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध करते रहे। दशरूपककार धनंजय (दसवीं शती) ने इसे 'तात्पर्य' में अन्तर्भूत किया, वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक (दसवीं-ग्यारहवीं शती) ने 'वक्रोक्ति' में, और व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट (ग्यरहवीं शती) ने 'अनुमान' में। इसके अतिरिक्त इसे 'अभिधा' और 'लक्षणा' में भी अन्तर्भूत करने का प्रयास किया गया। परन्तु काव्यप्रकाश के प्रणेता मम्मट (ग्यारहवीं शती) ने अपने गम्भीर विवेचन द्वारा ध्वनि-विरोधियों का समर्थ शैली में खण्डन प्रस्तुत कर ध्वनि-सिद्धान्त की अकाट्य रूप से स्थापना की, और इसके प्रति आस्था उत्पन्न कर दी। ध्वनि के प्रति मम्मट द्वारा स्थापित यह आस्था अगली छह शताब्दियों तक निरन्तर बनी रही। यहाँ तक कि अलंकार को काव्य का अनिवार्य अंग स्वीकृत करने वाले चन्द्रालोककार जयदेव (तेरहवीं शती) ने भी अपने ग्रन्थ में ध्वनि-प्रकरण को स्थान दिया; ध्वनि के स्थान पर रस को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने न केवल ध्वनि-प्रकरण का निरूपण किया, अपितु रस को ध्वनि का ही एक भेद माना। संस्कृत के अन्तिम आचार्य जगन्नाथ ने भी ध्वनि-सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन किया।

० ०

मम्मट से पूर्व और इनके पश्चात् अन्य अनेक आचार्यों ने संग्रह-ग्रंथों का भी निर्माण किया। इस दिशा में मम्मट से पूर्ववर्ती आचार्यों में रुद्रट, राजशेखर, भोजराज और अग्निपुराणकार का नाम उल्लेखनीय है[1], और इसके परवर्ती आचार्यों में रुय्यक, जयदेव तथा विश्वनाथ के अतिरिक्त हेमचन्द्र, वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय, विद्याधर, विद्यानाथ, केशवमिश्र और कविकर्णपूर का।[2] मम्मटपरवर्ती प्रायः सभी आचार्यों पर मम्मट का विशिष्ट प्रभाव है। इन सभी आचार्यों ने काव्य के प्रायः सभी अंगों को अपने ग्रंथों में समाविष्ट किया है।

उक्त संग्रहकर्त्ता आचार्यों के अतिरिक्त इस दिशा में दो अन्य आचार्य उल्लेखनीय हैं—भानुमिश्र और अप्पय्यदीक्षित। भानुमिश्र ने दो ग्रंथों का निर्माण किया। इन में से रसतरंगिणी का प्रमुख सम्बन्ध रस के साथ है, और रसमंजरी का नायक-नायिका-भेद के साथ। अप्पय्यदीक्षित के तीन ग्रंथों में से 'वृत्तिवार्त्तिक' शब्दशक्ति-विषयक ग्रंथ है, और 'कुवलयानन्द' तथा 'चित्रमीमांसा' अलंकार से सम्बन्ध ग्रंथ है।

---

१. रुद्रट का ग्रन्थ काव्यालंकार है, राजशेखर का काव्यमीमांसा, और भोजराज के ग्रंथ सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृंगारप्रकाश हैं।

२. हेमचन्द्र का ग्रंथ काव्यानुशासन है, वाग्भट प्रथम का वाग्भटालंकार, रुय्यक का अलंकार-सर्वस्व, वाग्भट द्वितीय का काव्यानुशासन, विद्याधर का एकावली, विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण, केशवमिश्र का अलंकारशेखर और कविकर्ण-पूर का अलंकारकौस्तुभ।

संस्कृत के आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के अतिरिक्त नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का भी समय-समय पर सर्जन किया। भरत के 'नाट्यशास्त्र' की व्यापक, विस्तृत और बहुविध विषय-सामग्री यह मानने को बाध्य करती है कि यह ग्रन्थ नाट्यविधान-संबन्धी अनेक शताब्दियों से प्रचलित परम्परा का सुपरिणाम है। भरत के पश्चात् यह परम्परा बन्द-सी हो गयी। इसका सम्भव कारण यह प्रतीत होता है कि काव्यविधान के उत्तरोत्तर गम्भीर एवं व्यापक तथा विशद निर्माण ने आचार्यों को नाट्यविधान से विमुख-सा कर दिया। इसके अतिरिक्त एक अन्य सम्भव कारण यह भी है कि 'नाट्यशास्त्र' ग्रन्थ की विषय-सामग्री इतनी विपुल एवं विशद है कि इस प्रकार के किसी अन्य ग्रन्थ के निर्माण के लिए ग्रन्थकार को एक चुनौती का सामना करना पड़ता। फिर भी, इनके लगभग तेरह-चौदह सौ वर्ष उपरान्त धनंजय, सागरनन्दी, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शारदातनय और शिंगभूपाल ने प्रमुखतः नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण कर इस काव्यांग का पुनरुद्धार किया।[1] सर्वांग-निरूपक आचार्यों में अकेले विश्वनाथ ने अधिकांशतः धनंजय के ग्रन्थ से प्रेरणा प्राप्त कर नाट्यविधान को भी अपने ग्रन्थ में सम्मिलित कर दिया।

हमारे विचार में नायक-नायिका-भेद की विषय-सामग्री काव्यशास्त्र की अपेक्षा नाट्यशास्त्र से ही अधिक सम्बद्ध है। यही कारण है कि उक्त सभी नाट्यशास्त्रकारों ने इस प्रसंग का भी निरूपण करना आवश्यक समझा है। इनके अतिरिक्त रुद्रट, रुद्रभट्ट, भोज, अग्निपुराणकार, भानुमिश्र, रूपगोस्वामी और सन्त अकबरशाह के ग्रन्थों का प्रधान विषय ही नायक-नायिका-भेद है।[2]

काव्य-सिद्धान्त और नाट्य-सिद्धान्त के अतिरिक्त संस्कृत-काव्यशास्त्र का एक अन्य विषय है—कविशिक्षा। राजशेखर, वाग्भट द्वितीय, क्षेमेन्द्र, केशवमिश्र, अमरचन्द्र यति, देवेश्वर आदि ने अपने ग्रन्थों में अन्य काव्यांगों के साथ इसे भी निरूपित किया है।[3]

यहां यह उल्लेख्य है कि उक्त सभी आचार्यों में से भरत, भामह, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, महिमभट्ट और क्षेमेन्द्र ही उद्भावक आचार्य माने जाने चाहिएं, क्योंकि इन्होंने किसी न किसी नवीन सिद्धान्त की उपस्थापना की है। शेष आचार्यों ने संग्रह-ग्रन्थ ही प्रस्तुत किये हैं। फिर भी, इनमें से मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

---

१. सागरनन्दी का ग्रन्थ नाटकलक्षणरत्नकोष है, रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण, शारदातनय का भावप्रकाशन और शिंगभूपाल का रसार्णवसुधाकर।

२. रुद्रभट्ट का ग्रन्थ शृंगारतिलक है, रूपगोस्वामी का उज्ज्वलनीलमणि तथा भक्तिरसामृतसिन्धु और सन्त अकबरशाह का शृंगारमंजरी।

३. राजशेखर का ग्रन्थ काव्यमीमांसा है, क्षेमेन्द्र का औचित्यविचारचर्चा, अमरचन्द्र यति का काव्यकल्पलतावृत्ति और देवेश्वर का काव्यकल्पलता।

काव्यशास्त्र के निर्माण में उक्त उद्भावक एवं संग्रहकर्त्ता आचार्यों के अतिरिक्त टीकाकारों का भी योगदान कुछ कम नहीं है। भरत के प्राचीन व्याख्याताओं में उद्भट[1], लोल्लट, शंकुक, भट्ट तौत (तोत), भट्टनायक और अभिनवगुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से केवल अभिनवगुप्त की टीका 'अभिनवभारती' उपलब्ध है। अन्य टीकाकारों का इसी टीका में उल्लेख मिलता है। उद्भट ने संभवतः भामह के ग्रन्थ की भी टीका 'भामह-विवरण' नाम से प्रस्तुत की थी।[1] दण्डी का प्रसिद्ध टीकाकार तरुणवाचस्पति है। उद्भट के दो टीकाकार हैं—राजानक तिलक और प्रतिहारेन्दुराज। वामन का प्रसिद्ध टीकाकार गोपेन्द्रत्रिपुर हरभूपाल है। आनन्दवर्धन के टीकाकारों में अभिनवगुप्त की 'लोचन' टीका अति प्रसिद्ध है। धनंजय का टीकाकार धनिक है, ओर महिमभट्ट का रुय्यक। मम्मट के ग्रन्थ के लगभग सत्तर टीकाकार वताये जाते हैं, जिनमें से प्रख्यात एवं उद्भावक टीकाकार गोविन्दठक्कुर है। विश्वनाथ के प्रसिद्ध टीकाकार रामचरण तर्कवागीश और शालग्राम हैं, और जगन्नाथ का टीकाकार नागेश भट्ट है। इन टीकाकारों के गम्भीर, प्रौढ़ एवं तर्कसम्मत व्याख्यान-विवेचन से काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के परीक्षण, पोषण एवं परिवर्द्धन में, तथा इनसे सम्बद्ध समस्याओं को सुलझाने में, महत्त्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय सहायता मिली है। इन टीकाकारों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य अभिनवगुप्त का है, अतः इन्हें टीकाकार कहने के स्थान पर आचार्य-पद से विभूषित किया जाता है। इधर आचार्य विश्वेश्वर ने भरत, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, रामचन्द्र-गुणचन्द्र और मम्मट के ग्रन्थों की हिन्दी-टीकाएं प्रस्तुत कर अत्यन्त प्रशस्त कार्य किया है।

[२]

समग्र काव्यशास्त्रीय वर्ण्य-विषय को दृष्टि में रखते हुए परम्परागत दस काव्यांग माने गये हैं। वस्तुतः इन्हें काव्यशास्त्रीय अंग कहना चाहिए, किन्तु ऐसा न कहा जाकर सुविधा के लिए इन्हें 'काव्यांग' कहा जाता है। इनकी निर्धारित नामावलि संस्कृत के प्रामाणिक काव्यशास्त्र में एकत्र उपलब्ध नहीं होती। फिर भी, इनकी संख्या इस प्रकार पूरी की जा सकती है—(१) काव्यस्वरूप (काव्यलक्षण, काव्यभेद, काव्यप्रयोजन, और काव्यहेतु), (२) शब्दशक्ति, (३) ध्वनि, (४) गुणीभूतव्यंग्य, (५) दोष, (६) गुण, (७) रीति, (८) अलंकार, (९) नाट्यविधान और (१०) छन्द। इनके अतिरिक्त दो काव्यांग अन्य भी हैं—रस तथा नायक-नायिका-भेद। परन्तु रस का अन्तर्भाव ध्वनि में किया जा सकता है, और नायक-नायिका-भेद का रस में। किन्तु सामान्यतः इन दोनों का निरूपण स्वतन्त्र रूप से किया जाता है। 'रस' का इसलिए कि यह न केवल ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट भेद है, अपितु इसलिए भी

---

१. उद्भट की टीका उपलब्ध नहीं है। केवल इधर-उधर विखरे हुए संकेत मिलते हैं।

कि इस पर सर्वाधिक समीक्षात्मक एवं चिन्तनात्मक सामग्री प्रस्तुत की गयी है, तथा विश्वनाथ आदि द्वारा इसे काव्य की 'आत्मा' के रूप में स्वीकृत किया गया है। 'नायक-नायिका-भेद' का इसलिए कि यह प्रसंग कलेवर एवं भेदोपभेदों की दृष्टि से इतना अधिक विस्तृत है कि रस के अन्तर्गत इसे स्थान देने से रस जैसे महत्त्वपूर्ण अंग के आच्छादित हो जाने की आशंका बनी रहती है। यद्यपि इस प्रकार इन काव्यांगों की संख्या बारह होनी चाहिए, किन्तु फिर भी, काव्यांग दस ही माने जाते हैं। अधिकतर आचार्यों ने छन्दोविधान को अपने ग्रन्थों में स्थान नहीं दिया। नाट्यविधान का भी अधिकतर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में निरूपण नहीं हुआ। केवल विश्वनाथ ही ऐसे प्रख्यात आचार्य हैं जिन्होंने इसका निरूपण किया है, किन्तु उन्होंने भी दस काव्यांगों की ही प्रकारन्तर से स्वीकृति करने के लिए मानो नायक-नायिका-भेद को रस-प्रकरण ने अन्तर्गत निरूपित कर दिया है। अस्तु! दस काव्यांग इस क्रम से स्वीकृत करने चाहिएं—काव्य-स्वरूप, शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, नायक-नायिका-भेद, गुणीभूतव्यंग्य, दोष, गुण, रीति, और अलंकार। इसके अतिरिक्त चाहें तो तीन और काव्यांग भी मान सकते हैं—नाट्यविधान, कविशिक्षा और छन्द।

० ०

संस्कृत के प्रमुख आचार्यों का उद्देश्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं उनका उत्तरोत्तर विकास करना था। इसके लिए उन्होंने लक्ष्य-ग्रन्थों का आधार ग्रहण करते हुए प्रायः उदाहरण इन्हीं ग्रन्थों से प्रस्तुत किये। यद्यपि दण्डी, जयदेव और जगन्नाथ जैसे प्रसिद्ध आचार्यों ने स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, किन्तु ऐसे आचार्यों की संख्या अधिक नहीं है। शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, नायक-नायिका-भेद, अलंकार, रीति और दोष के भेदोपभेदों की उत्तरोत्तर वर्द्धमान संख्या इस तथ्य का सबल प्रमाण है कि लक्ष्य-ग्रन्थों की ही तद्युगीन आलोचना के आधार पर वे काव्यांगों के भेदोपभेदों में भी वृद्धि करते चले गये। हाँ, यदि कुन्तक और जयदेव ने अलंकारों की संख्या को कम किया, अथवा मम्मट ने अलंकार-दोषों को नितान्त अस्वीकृत किया, अथवा वामन-सम्मत दस गुणों के स्थान पर तीन गुण स्वीकार किये, तो इन आचार्यों का आशय इन सब का स्वसम्मत काव्यांगो में अन्तर्भाव करना था, यद्यपि वे इन्हें लक्ष्य-ग्रन्थों में अस्वीकृत नहीं करते थे। इस प्रकार संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त धीरे-धीरे विकसित एवं खंडित-मंडित होते-होते आनन्दवर्धन और तदुपरान्त मम्मट के समय तक प्रौढ़ तथा स्थिर बन गये, और यह स्थिति यहां तक पहुंच गयी कि विभिन्न काव्य-सम्प्रदायों अथवा काव्य-सिद्धान्तों की भी परिगणना की जाने लगी।

काव्यशास्त्रीय विचार-परम्परा पांच सिद्धान्तों में विभक्त की जाती है—अलंकारसिद्धान्त, रीतिसिद्धान्त, ध्वनिसिद्धान्त, वक्रोक्तिसिद्धान्त और रससिद्धान्त। इन सिद्धान्तों में से किसे काव्य-सम्प्रदाय माना जाए, यह एक विचारणीय प्रश्न है। 'सम्प्रदाय' शब्द से वह सिद्धान्त अभिहित किया जाना चाहिए जिसका आगे चलकर अन्य आचार्यों द्वारा अनुकरण एवं अनुगमन हुआ हो, तथा उसकी मान्यताओं का विवेचन एवं

परिवर्धन हुआ हो। इस दृष्टि से अलंकार, ध्वनि और रस-सिद्धान्त तो 'सिद्धान्त' कहाने के साथ-साथ 'सम्प्रदाय' कहाने के भी अधिकारी हैं, किन्तु रीति और वक्रोक्ति-सिद्धान्त इसके अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि न तो किसी आचार्य ने वामन तथा कुन्तक के इन सिद्धान्तों का अनुकरण किया, और न किसी ने इनसे सम्बद्ध धारणाओं एवं मान्यताओं का विकास एवं परिवर्द्धन ही प्रस्तुत किया, वरन् इनका ध्वनि एवं रसवादियों द्वारा खण्डन ही किया गया। इनके विपरीत भामह के अलंकार-सिद्धान्त का अनुमोदन, तथा परिवर्द्धन दण्डी और उद्भट द्वारा किया गया, और आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का मम्मट और जगन्नाथ जैसे मर्मवेत्ता आचार्यों द्वारा। रससिद्धान्त भरत, अग्निपुराणकार, भोजराज और विश्वनाथ जैसे प्रख्यात आचार्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक आचार्यों द्वारा स्वीकृत एवं विकसित हुआ। अस्तु ! वामन के रीति-सिद्धान्त और कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त को यद्यपि 'सम्प्रदाय' नाम नहीं दे सकते, फिर भी, लाक्षणिक रूप से इन्हें 'सम्प्रदाय' कह देते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक कारणों से इनका निजी महत्त्व है। एक प्रत्यक्ष कारण तो यह है कि ये दोनों सिद्धान्त काव्य के वाह्य पक्ष के स्वरूप-प्रतिपादक हैं। वाह्य पक्ष आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा निस्सन्देह किंचित् न्यून कोटि का सही, किन्तु त्याज्य एवं उपेक्षणीय किसी भी रूप में नहीं होता।

० ०

उक्त पांच सिद्धान्तों के अतिरिक्त इसी प्रसंग में औचित्य-सिद्धान्त का भी उल्लेख किया जाता है। किन्तु वस्तुतः यह कोई अलग सिद्धान्त न होकर विभिन्न काव्यांगों को परिष्कृत एवं उपादेय बनाने का हेतु मात्र है। अलंकार आदि पांच काव्य-सिद्धान्तों के प्रवर्तक एवं अनुमोदक या तो अपने मान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत अन्य काव्यांगों को समाविष्ट करते हैं—जैसे रीतिवादी एवं वक्रोक्तिवादी; या अन्य काव्यांगों को अपने मान्य सिद्धान्त के परिपोषक रूप में स्वीकृत करते है—जैसे रसवादी एवं ध्वनिवादी। किंतु 'औचित्य' नामक काव्य-तत्त्व के प्रवर्तक क्षेमेन्द्र इनमें से किसी भी प्रवृत्ति को नहीं अपनाते। वे सभी काव्यांगों को स्वीकार करते हुए केवल उनके औचित्यपूर्ण प्रयोग पर ही वल देने के पक्ष में हैं। उदाहरणार्थ, गुण और अलंकार के सम्वन्ध में उनका कथन है कि 'अलंकार और गुण' अपने उचित प्रयोग के कारण ही इन्हीं नामों से अभिहित होते हैं, अन्यथा नहीं।[1] अलंकार और गुण की स्थिति को क्षेमेन्द्र भी वैसा ही स्वीकार करते हैं जैसा रसवादी एवं ध्वनिवादी स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार उन्हीं के समान वे भी काव्य को 'रससिद्ध' मानने के पक्ष में हैं। पर हाँ, ऐसे 'रससिद्ध' काव्य का स्थिर जीवित 'औचित्य' ही है।[2] दूसरे शब्दों में, काव्य का प्रधान तत्त्व रस है, और उसका

१. उचितस्थानविन्यासाद् अलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणाः गुणाः॥ औ०वि०च०—६

२॥ वही—५

'जीवित' है औचित्य। यहाँ 'जीवित' शब्द से तात्पर्य है—किसी काव्यांग को उपादेय बनाने का हेतु। केवल गुण, अलंकार और रस ही नहीं, अपितु काव्य से सम्बद्ध ऐसे अन्य चौबीस तत्त्वों के विषय में भी क्षेमेन्द्र की यही धारणा है कि उनका प्रयोग औचित्यपूर्ण होना चाहिए।[1] इसी पर आधारित रहकर ही अन्य काव्यांग अपने यथावत् रूप में प्रस्तुत हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। इस प्रकार 'औचित्य' वस्तुतः कोई स्वतंत्र वाद अथवा सिद्धान्त न होकर अन्य काव्यागों को उपादेय बनाने का साधनमात्र है, इसके प्रति साध्य तो अन्य काव्यांग ही हैं। किन्तु इसके विपरीत उधर उक्त पांचों काव्य-सिद्धान्तों के समर्थक आचार्यों द्वारा अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, रस तथा ध्वनि अन्य काव्यागों के प्रति क्रमशः साध्य माने जाते हैं, तथा अन्य काव्यांग इनके प्रति साधन बने रहते हैं। अतः 'औचित्य' को स्वतंत्र सिद्धान्त मानना समुचित नहीं है।

० ०

इसी प्रसंग से सम्बद्ध एक शंका का समाधान कर लेना अपेक्षित है। अलंकार-सिद्धान्त आदि पांचों काव्य-सिद्धान्तों में कालक्रम की स्थिति क्या है? वस्तुतः इनमें से केवल रस-सिद्धान्त का ही प्रश्न विवादास्पद है। शेष चारों का क्रम इनके प्रवर्तकों के काल-क्रमानुसार नियत हैं—अलंकारसिद्धान्त के उपरान्त रीतिसिद्धान्त, और इनके उपरान्त ध्वनिसिद्धान्त तथा वक्रोक्तिसिद्धान्त।

रस-सिद्धान्त को स्वीकृत करने वाले प्रमुख आचार्य हैं—भरत, 'अग्निपुराण-कार', भोजराज और विश्वनाथ। इनमें से अन्तिम दो तो आनन्दवर्धन के परवर्ती हैं। जहां तक अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का सम्बन्ध है, इसकी तुलना अन्य काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों से करने पर हम निश्चयपूर्वक इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इसकी रचना भी आनन्दवर्धन के बाद हुई है। शेष रहे भरत। हमारा विचार है कि भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र के षष्ठ और सप्तम अध्याय का प्रणयन, जिनमें क्रमशः रस और भाव का निरूपण हुआ है, या तो भामह और दण्डी के उपरान्त हुआ है, या यदि इनसे पहले इन अध्यायों का प्रणयन हो भी चुका था तो ये दोनों आचार्य किसी कारणवश इनका अध्ययन नहीं कर सके—शायद ये उन्हें उपलब्ध ही न हुए हों। हाँ, ये दोनों आचार्य 'रस' नामक काव्य-तत्त्व से परिचित अवश्य थे। सम्भवतः, उन्हें यह परिचिति विद्वद्-गोष्ठियों द्वारा मिली हो, क्योंकि इन गोष्ठियों में रस जैसे गम्भीर तत्त्व पर विचार-विमर्श एवं चिन्तन अवश्य होता होगा। किन्तु भामह और दण्डी भरत-प्रस्तुत रस तथा भाव-विषयक चर्चा से परिचित प्रतीत नहीं होते, अन्यथा इस चर्चा से परिचित रहते हुए इसका यथावत् एवं सम्यक् उल्लेख न करना, और यहां तक कि रस एवं भाव की सत्ता स्वतंत्र रूप से स्वीकार न कर इन्हें अलंकार में अन्तर्भूत कर लेना, इन दोनों, विशेषतः भामह जैसे प्रौढ़ आचार्य, के लिए नितान्त

---

१. औचित्यविचारचर्चा ८-१०

असम्भव था। भरत-प्रस्तुत रसविषयक चर्चा इतनी व्यापक, स्वच्छ एवं उपादेय है कि कोई भी काव्यशास्त्री, चाहे वह कितना ही पूर्वाग्रह-ग्रस्त क्यों न हो, इससे प्रभावित हुए विना, और इसका यथावत् उल्लेख किये बिना भी, नहीं रह सकता।

यह कहा जा सकता है कि भामह अलंकारवादी आचार्य था। अत: भरत-प्रस्तुत रस का अन्तर्भाव उसने अलंकार में किया, किन्तु हमारे विचार में विद्वद्-गोष्ठियों द्वारा रस के जिस साधारण स्वरूप से वह अवगत हुआ, उसी के आधार पर उसने अपनी यह मान्यता प्रस्तुत कर दी, किन्तु यदि वह भरत द्वारा प्रस्तुत रस-विपयक विशिष्ट चर्चा से परिचित होता तो शायद ऐसी भूल न करता। इसके अतिरिक्त भरत कोई विशिष्ट आचार्य भी तो नहीं माने जाते। वह सम्भवत: एक संग्रहकर्ता हैं, जिन्होंने समय-समय पर निर्मित एवं निर्धारित नाट्यशास्त्रीय (तथा कतिपय काव्यशास्त्रीय) चर्चाओं, मान्यताओं एवं धारणाओं का संकलन प्रस्तुत कर दिया। भरत के सम्बन्ध में विद्वानों की धारणा यह भी है कि विभिन्न कालों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का संकलन जब विभिन्न आचार्यों द्वारा कर लिया गया तो उस 'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ को 'भरत मुनि' के नाम के साथ जोड़ दिया गया, क्योंकि 'भरत' शब्द कुशल नट का भी द्योतक है। अस्तु! इन दोनों में से किसी एक तथ्य के स्वीकार कर लेने पर यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि रस-भाव-विपयक दोनों अध्याय भामह के उपरान्त संकलित हुए होंगे। भामह से पहले नाट्यशास्त्र में उपलब्ध रस-भाव के प्रसंग प्रणीत हो चुके थे अथवा नहीं—इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है, परन्तु यह निश्चित है कि भामह और दण्डी (और शायद उद्भट भी) इन स्थलों का किसी कारण-वश अध्ययन नहीं कर सके। पर हाँ, भरत द्वारा प्रतिपादित रस-विषयक सामग्री का सांगोपांग एवं सम्यक् विवेचन आनन्दवर्धन के समय हो चुका होगा, जिसे कि इन्होंने ध्वनि पर ही आधारित किया, तथा उसे ध्वनि का ही एक उपभेद माना। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के वीच के काल में तो इस विषय पर जमकर विचार किया गया। लोल्लट, शंकुक, नायक, तौत (तोत) जैसे मर्मज्ञ एवं गम्भीर व्याख्याता इसी काल की सम्पदा हैं। अस्तु! उक्त पाँच सिद्धान्तों का कालानुसार क्रम इस प्रकार होना चाहिए—अलंकार, रीति, रस, ध्वनि और वक्रोक्ति। किन्तु अन्ततः, ध्वनिसिद्धान्त ही स्वीकृत रहा, और रस को यद्यपि ध्वनि का ही एक भेद माना गया, फिर भी, काव्यशास्त्रीय जगत् में इसकी प्रतिष्ठा तथा इसके प्रति समादर की भावना किसी भी समय किसी भी रूप में कम नहीं हुई।

० ०

निरूपण-शैली की दृष्टि में देखें तो संस्कृत के कुछ आचार्यों ने केवल 'पद्यात्मक शैली' को अपनाया है। इस दिशा में भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, धनंजय, वाग्भट प्रथम, जयदेव, अप्पय्यदीक्षित आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, यद्यपि भरत ने कुछ स्थलों पर गद्य का भी आश्रय लिया है। संस्कृत के आचार्यों की दूसरी

निरूपण-शैली 'सूत्र-वृत्ति शैली' है। वामन और रुय्यक के शास्त्रीय सिद्धान्त सूत्रबद्ध हैं, और सूत्रों की वृत्ति गद्यात्मक है। उदाहरणों के लिए इन्होंने पद्य का आश्रय लिया है। इनसे मिलती-जुलती शैली वाग्भट द्वितीय, भानुमिश्र, जगन्नाथ और अकबरशाह की है। तीसरी 'कारिका-वृत्ति शैली' है। आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि ने इसी शैली को अपनाया है। इनके प्रमुख शास्त्रीय सिद्धान्त कारिकाबद्ध हैं, उनकी व्याख्या गद्यबद्ध वृत्ति में है, और उदाहरण पद्यात्मक हैं।

० ०

अस्तु! इस प्रकार लगभग डेढ़-दो सहस्र वर्षों की यह काव्यशास्त्र-परम्परा उद्भावक एवं संग्रहकर्त्ता आचार्यों तथा टीकाकारों के माध्यम से काव्य, नाटक और कविशिक्षा-संबंधी सिद्धान्तों का अनवरत सर्जन, विवेचन, समीक्षण एवं संकलन प्रस्तुत करती रही है।

[३]

अन्त में यह चर्चा करना भी प्रासंगिक है कि इस विद्या का 'काव्यशास्त्र' नाम है तो बहुत पुराना, पर अधिक प्रचलित आधुनिक युग में हुआ है। संस्कृत-ग्रंथों के आधार पर इस विद्या के अनेक नाम प्रचलित रहे—

—वाल्मीकि रामायण में इस विद्या के अर्थ में सर्वप्रथम 'क्रियाकल्प' शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] सम्भवतः इसी आधार पर बौद्ध ग्रंथ ललितविस्तर में भी यही प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ टीकाकार जयमंगलार्क ने किया है—काव्यकरणविधि अथवा काव्यालंकार।[2] इसी शब्द का प्रयोग वात्स्यायन ने अपने ग्रंथ कामसूत्र में चौसठ कलाओं के अंतर्गत कला के रूप में किया है और स्पष्टता के लिए इससे पहले काव्य शब्द जोड़ दिया है—इस कला का नाम है 'काव्यक्रियाकल्प',[3] अर्थात् काव्यशास्त्र। सम्भवतः इन्हीं स्रोतों से प्रेरणा प्राप्त कर दण्डी ने इसी अर्थ में 'क्रियाविधि' शब्द का प्रयोग किया है।[4]

—इधर ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के समय 'अलंकार' शब्द बहु-प्रचलित हो गया, और इसका अर्थ भी व्यापक हो गया—दण्डी के शब्दों में सभी प्रकार के काव्यशोभाकर उपकरण 'अलंकार कहाते थे।[5] इसी शब्द के आधार पर यह विद्या संभवतः 'अलंकारशास्त्र' कहाती होगी, जिसका प्रमाण निम्नोक्त ग्रंथों के नाम हैं—भामह का काव्यालंकार, उद्भट का काव्यालंकारसारसंग्रह और वामन का काव्यालंकारसूत्रवृत्ति। इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि भामह अलंकारवादी

१. क्रियाकल्पविदश्च तथा काव्यविदो जनान्। (वाल्मीकि-रामायण, उ० का० ९३.७)
२. क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालंकार इत्यर्थः। (ललितविस्तर-टीका)
३. कामसूत्र १.३.१६
४. वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्। काव्यादर्श १.९
५. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। वही २.१

आचार्य होने के नाते अलंकार को काव्य-सर्वस्व मानते थे और उद्भट भामह के अनुकर्त्ता थे। वामन न केवल काव्य-शोभा के वर्द्धक हेतुओं को अलंकार कहते थे, अपितु इस शोभा (सौन्दर्य) को भी वह 'अलंकार' नाम देते थे।[1] उसी युग में रुद्रट ने भी अपने ग्रंथ का नाम 'काव्यालंकार' रखा था, किन्तु इसका कारण यह है कि इन्होंने अपने ग्रन्थ का अधिकतर कलेवर अलंकारों को समर्पित किया है, और यही कारण रुय्यक के ग्रन्थ 'अलंकारसर्वस्व' और केशवमिश्र के ग्रन्थ 'अलंकारशेखर' पर भी घटित होता है; यद्यपि ये सभी आचार्य अलंकारवादी नहीं हैं।[2] इस प्रकार अब तक यह विद्या स्पष्टत: 'अलंकार-शास्त्र' नाम से अभिहित नहीं हुई थी, किन्तु यदि इसका नाम रखना अभीष्ट होता तो निस्संदेह 'अलंकार' पर ही रखा जाता और यही काम आगे चलकर विद्यानाथ-प्रणीत प्रतापरुद्रयशोभूषण के टीकाकार ने किया— 'यद्यपि यह शास्त्र रस, अलंकार आदि अनेक विषयों से सम्बद्ध है तथापि इसे 'छत्त्रिन्याय' से 'अलंकारशास्त्र' कहा जाता है।[3]

—इसी बीच राजशेखर ने इस विद्या को 'साहित्यविद्या' नाम दिया।[4] 'साहित्य' शब्द भारतीय काव्यशास्त्र का बहुचर्चित शब्द है। भामह ने, अपने काव्य-लक्षण में इस शब्द का प्रयोग करते हुए शब्दार्थ के सहित-भाव का संकेत किया था— **शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**, और आगे चलकर कुन्तक ने इस सहित-भाव की मनोयोग से व्याख्या करते हुए शब्द और अर्थ के साहित्य अर्थात् सहित-भाव पर बल दिया।

१. **सौन्दर्यमलंकारः**। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १.१.२
२. हमारे विचार में रुद्रट भी अलंकारवादी नहीं है।
३. **यद्यपि रसालंकाराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्त्रिन्यायेन अलंकारशास्त्र-मुच्यते**। (प्र० रु० य० भू० टीका-भाग पृष्ठ ३) इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार छाताधारी लोगों के साथ जाते हुए छाता-रहित व्यक्तियों के लिए भी दूर से संकेत करते हुए यही कहा जाता है कि वह देखो छाताधारी लोग जा रहे हैं, उसी प्रकार यह शास्त्र भी यद्यपि रस, अलंकार आदि अनेक विषयों से सम्बद्ध है, तथापि इसे 'अलंकारशास्त्र' कहा जाता है।

[यहां यह उल्लेख्य है कि 'अलंकार' शब्द '**अलंक्रियते ऽनेन इति अलंकारः**' इस करण-परक व्युत्पत्ति के आधार पर अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों का द्योतक है, और 'अलंकारशास्त्र' उपर्युक्त छत्त्रिन्याय से प्रधानत: अलंकारों का, तथा गौणत: रस, ध्वनि, गुण, रीति, आदि का निरूपक शास्त्र मान लिया जाता है। किन्तु 'अलंकृतिरलंकारः' इस भावपरक व्युत्पत्ति के आधार पर 'अलंकार' शब्द सौन्दर्य का पर्याय है, और इस प्रकार अलंकारशास्त्र किसी काव्यांग का निरूपक न होकर काव्यांगों से जन्य सौन्दर्य का निरूपक शास्त्र सिद्ध हो जाता है, और आधुनिक शब्दावली में 'Aesthetics' अर्थात् 'सौन्दर्यशास्त्र' का पर्याय बन जाता है। अस्तु!]

४. **पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः**। का० मी० पृष्ठ ५

'साहित्य' शब्द के आधार पर राजशेखर के समय में इस विद्या का नाम 'साहित्य-विद्या' भी प्रचलित रहा होगा। विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' और रुय्यक का अप्राप्त 'साहित्यमीमांसा' ग्रन्थ 'साहित्य' शब्द पर ही आधारित हैं।

—इन सब नामों के अतिरिक्त एक अन्य नाम भी उपलब्ध है, वह है—'काव्यशास्त्र'। इसका प्रयोग केवल भोजराज ने किया हैं—

काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।

काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्॥ स० क० आ० २.१३६

इस प्रकार हमारे सम्मुख ये नाम उपलब्ध हैं—काव्यकल्पविधि, कल्पविधि, अलंकारशास्त्र, साहित्यविद्या और काव्यशास्त्र। इनमें से प्रथम दो नाम अप्रचलित हो गये। 'काव्यकल्पविधि' नाम शायद बचा भी रहता, पर इसका संक्षिप्त रूप 'कल्पविधि' न इसे बचा सका और न अपने-आप को। शास्त्र, विद्या, आदि शब्द इसकी तुलना में कहीं अधिक सटीक और सबल रहे। 'अलंकारशास्त्र' नाम भी चल नहीं सका, क्योंकि परवर्ती आचार्यों के अनुसार 'अलंकार' केवल बाह्य उपकरणमात्र रह गया था, तथा एक विशेष काव्य-तत्त्व का द्योतक बन गया था। इधर 'साहित्य-विद्या' अथवा 'साहित्यशास्त्र' जैसे शब्द आज किंचित् भ्रामक हैं, क्योंकि 'साहित्य' शब्द अंग्रेजी के 'लिट्रेचर' शब्द का पर्याय बन गया है, और इसी कारण इसमें अर्थ-विस्तार है—सर्जनात्मक और आलोचनात्मक दोनों प्रकार की कृतियों को हम 'साहित्य' कहते हैं। इतना ही नहीं, आज कानून, चिकित्सा, राजनीति, इतिहास आदि सभी विषयों से सम्बद्ध सामग्री भी 'लिट्रेचर' के अनुरूप प्रायः 'साहित्य के अन्तर्गत आ जाती है। किंतु 'काव्य' केवल सर्जनात्मक कृति का ही वाचक है, जिसके अन्तर्गत पद्यात्मक और गद्यात्मक दोनों प्रकार की रचनाएँ आ जाती हैं। यों, 'काव्य' शब्द 'साहित्य' शब्द की अपेक्षा बहुव्यापी भी रहा है—पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों प्रकार के आचार्यों ने इसे अपने ग्रंथ-नामों में अपनाया है। उदाहरणार्थ—भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, राजशेखर, मम्मट, हेमचन्द्र और वाग्भट द्वितीय—इन सबके ग्रंथों के नाम 'काव्य' शब्द पर आधारित हैं। अस्तु! काव्य की नियामक तथा उसके सिद्धान्तों की प्रतिपादक विद्या को 'काव्यशास्त्र' नाम देना कहीं अधिक समुचित है। कल्पविधि, विद्या आदि की तुलना में 'शास्त्र' शब्द कहीं अधिक सबल है। इसका अर्थ है जो विधि-निषेध पर शासन करता है—'**शासनात् शास्त्रम्**'। अस्तु! इस प्रकार 'काव्यशास्त्र नाम अन्य नामों की अपेक्षा कहीं अधिक उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त पोएट्री (काव्य) से सम्बन्धित 'पोएटिक्स' '(काव्य-सिद्धान्त-निरूपक शास्त्र) का पर्याय-स्वरूप 'काव्यशास्त्र' शब्द ही कहीं अधिक सटीक, संगत एवं उपादेय प्रतीत होता है।

० ० ०

५. काव्यशास्त्र में भाषाचिन्तन

समस्त संसार के वाङ्मय का प्रत्येक अंग किसी-न-किसी स्तर पर परस्पर-सम्बद्ध एवं अनुस्यूत है, और इस तथ्य का एक मात्र कारण है मानव की समस्त अनुभूतियों एवं क्रिया-प्रणालियों का एक-दूसरे के साथ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जुड़ा होना। वाङ्मय के कुछ रूप परस्पर अत्यधिक सम्पृक्त हैं, कुछ अन्योन्याश्रित हैं, कुछ अन्याश्रित हैं और कुछ में परस्पर वहुत दूर का सम्पर्क रहता है। काव्य-शास्त्र और भाषा-तत्त्व को प्रथम वर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। ये दोनों परस्पर घनिष्ठता-पूर्वक सम्पृक्त हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में भाषा-विषयक तथ्य इधर-उधर विखरे पड़े हैं। प्रस्तुत लेख में उन्हीं उल्लेखों को किसी सीमा तक एकत्र किया जा रहा है। सुधी पाठक भली भाँति जानते हैं कि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भाषा-विषयक अनेक स्थलों को अन्य शास्त्रों से ही ग्रहण कर उद्धृत अथवा विवेचित किया गया है, किन्तु इस लेख में उन सवको काव्यशास्त्र के ही मानकर उन पर प्रकाश डाला गया है, और यों भी, वाह्य सामग्री किसी भी शास्त्र के अनुकूल ढलकर उसकी निजी सम्पत्ति, उसका अविभाज्य अंग, वन जाया करती है। अस्तु ! प्रस्तुत लेख में काव्य-शास्त्र में निरूपित भाषा-विषयक अनेक प्रसंगों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

१. भाषा की आवश्यकता

भाषा की आवश्यकता एवं महत्ता तथा शुद्धता के विषय में सर्वाधिक कवित्व-पूर्ण कथन हैं दण्डी के,[1] जिनके अनुसार 'यह वाणी का ही प्रसाद है कि यह सव लोक-व्यवहार चल रहा है, यह सम्पूर्ण जगत् शब्द-रूपी ज्योति के विना अन्धकार-

---

१. (क) वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते।

(ख) इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

(ग) गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते वुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥ का० आ० १, ३, ४, ६

पूर्ण बन जाता। विशुद्ध वाणी तो कामधेनु गाय है, किन्तु अशुद्ध वाणी प्रयोक्ता की मूर्खता की द्योतक है। प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों का आग्रह है कि रचना दोष रहित होनी चाहिए। दण्डी ने इसी सम्बन्ध में कहा है कि काव्य में अत्यल्प दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, यह काव्य को उस प्रकार कुरूप बना देता है जिस प्रकार सुन्दर भी शरीर को कुष्ठ रोग का एक भी दाग़ कुरूप बना देता है।[1]

२. भाषा की उत्पत्ति

भाषा की उत्पत्ति-विषयक संकेत के लिए भामह का निम्नोक्त कथन विशेषतः उल्लेख्य है कि लोक-व्यवहार के लिए पहले ही एक अनुबन्ध-सा कर लिया गया कि इतने वर्ण इतने अर्थ का बोध कराएंगे—

इयन्त ईदृशा वर्णा ईदृगर्थाभिधायिनः।
व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थं समयः कृतः॥ का० अ० ६.१३

स्पष्ट है कि यह कथन आधुनिक भाषाविज्ञान का ही प्रतीत होता है जिसे हम 'कान्वैन्शनल थिओरी' अथवा 'सांकेतिक सिद्धान्त' कहते हैं, और जिस पर ये दो आक्षेप प्रधान रूप से किये जाते हैं कि इस अनुबन्ध से पूर्व लोकव्यवहार किस प्रकार होता होगा, और यह अनुबन्ध किस भाषा के माध्यम से किया गया होगा। इनके अतिरिक्त कुछ-एक गौण आक्षेप और भी हो सकते हैं कि इस अनुबन्ध से पूर्व यदि लोक-व्यवहार चल रहा था तो अनायास इस अनुबन्ध की आवश्यकता क्यों और क्या आ पड़ी, और फिर, यदि अनुबन्ध कर भी लिया था, तो फिर, वही भाषा टिकी क्यों न रही—पुनः किन अनुबन्धों से निरन्तर बदलती रही। और यदि, इस परिवर्तन को किसी अनुबन्ध के बिना स्वतः स्वीकार किया जाए तो फिर भाषा का आरम्भिक रूप भी स्वतः निर्मित हो जाने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए—विकासवाद का यही सिद्धान्त वस्तुतः भाषा की उत्पत्ति का एकमात्र कारण माना जाता है, तथा अन्य तथाकथित कारण इस कारण के सहायक हैं, न कि भाषा की उत्पत्ति के कारण। जो हो, भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान न तो प्राचीन वैयाकरणों के पास है, और न ही काव्यशास्त्रियों के पास। आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने यद्यपि इस सम्बन्ध में अनेक मन्तव्य स्थिर किये, पर अन्ततः, अपने इन्हीं प्रयासों के सम्बन्ध में किसी भाषावैज्ञानिक ने यह चुटकी भी काटी है कि यदि सभी भाषावैज्ञानिक किसी एक मत पर सहमत हैं तो वह यह है कि भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई भी

---

१. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ का० आ० १.७

मत स्थिर नहीं किया जा सकता। कितना सुन्दर विकल्प है एक विकट समस्या से पलायन का ! अस्तु !

३. भाषा का चरम अवयव

उक्त समस्या से ही मिलता-जुलता प्रश्न है कि भाषा का चरम अवयव किसे माना जाए—वर्ण को या वाक्य को ? आधुनिक भाषावैज्ञानिक तो वाक्य को भाषा का चरम अवयव मानते ही हैं,[1] और भारतीय वैयाकरणों ने भी इसी तथ्य को अनेक रूपों में और स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—

पदे न वर्णाः विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ वाक्यपदीय १.७३

तथा

तदबुधबोधनाय पदविभागः कल्पितः। वा० प० (पुण्यराजकृत टीका) २.५८

इत्यादि, किन्तु इधर काव्यशास्त्रियों ने भी इसी सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। मम्मट, विश्वनाथ आदि के ग्रन्थों में शब्द की चौथी शक्ति तात्पर्या वृत्ति के प्रसंग में प्रकारान्तर से इसी विवाद की ओर संकेत किया गया है। किसी वाक्य का अर्थ ही हमें अभीष्ट रहता है—यह एक सर्वांशतः स्वीकृत तथ्य है। पर क्या (१) वाक्य के प्रत्येक पद का अर्थ समन्वित होकर हमें अभीष्ट होता है ? अथवा (२) समग्र वाक्य का समन्वित अर्थ ? दूसरे शब्दों में—विभिन्न पदार्थों (पदों के अर्थों) का समन्वय वाक्यार्थ है, अथवा समग्र वाक्य का वाच्यार्थ ही वाक्यार्थ है ? प्रथम मत को अभिहितान्वयवादी स्वीकार करते हैं और दूसरे को अन्विताभिधानवादी—

(क) अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या पदैरुपस्थापितानामर्थानामन्वय इति वादिनः अभिहितान्वयवादिनः।

(ख) अन्वितानामेवाभिधानं शब्दबोध्यत्वम्, तद्वादिनोऽन्विताभिधानवादिनः।
—का० प्र०, बालबोधिनी टीका, पृष्ठ २६-२७

शास्त्रीय तर्क-वितर्क से एक क्षण के लिए अलग हटकर देखें तो हमारे विचार में ये दोनों पक्ष अपनी-अपनी स्थिति में यथार्थ हैं—एक पूर्णतः और दूसरा कुछ संशोधित रूप में। उदाहरणार्थ, प्रारम्भ में हम किसी अज्ञात भाषा के वाक्यार्थ से

---

१. काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में वाक्य का लक्षण है—

(क) वाक्यं तत्राभिमतं परस्परं सव्यपेक्षवृत्तीनाम्।
समुदायः शब्दानामेकपराणामनाकांक्षः ॥ का० प्र० (रुद्रट) २.७

(ख) वाक्यं स्याद् योग्यताऽऽकांक्षाऽऽसत्तियुक्तः पदोच्चयः। सा० द० २.१

ही किसी-न-किसी प्रकार से वक्ता का आशय समझ लेते हैं—तब समग्र वाच्यार्थ ही वाक्यार्थ होता है। अन्विताभिधानवादियों का यह कथ्य इस स्थिति में पूर्णतः स्वीकार्य है। किन्तु बाद में, वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद का अर्थ जान लेने पर हम उनके माध्यम से वाक्य का अर्थ समझने लगते हैं। सिद्धान्ततः, हम भले ही यह कहते रहें कि वाक्य में प्रत्येक पद तब तक परस्पर-असम्बद्ध अतएव निरर्थक रहता है जब तक कि हम पूरा वाक्य पढ़ अथवा सुन नहीं लेते—समग्र वाक्य पूरा हो जाने पर ही वे आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के बल पर परस्पर-सम्बद्ध हो जाने पर सार्थक बन जाते हैं, और अब समग्र वाक्य अपना आशय देने लगता है—जैसा कि अन्विताभिधानवादी स्वीकार करते हैं, किंतु यह कथ्य किंचित् संशोधन की अपेक्षा रखता है। वस्तुतः, अब प्रत्येक पद का अपना-अपना अर्थ, हमारी बुद्धि में, परस्पर-सम्बन्ध जोड़ता चला जाता है, और वाक्य के पूर्ण होते ही समग्र वाक्यार्थ बोधगम्य हो जाता है। सत्य तो यह है कि प्रत्येक पद के अर्थ को भूल न सकने के कारण ही वाक्य के पूरा न होने तक हम इन्हें परस्पर नितान्त असम्बद्ध भी नहीं मान सकते।

वस्तुतः, इस समस्या के उत्पन्न होने का मूल कारण हमारे विचार में यह है कि जब व्याकरण के अनुसार पदों में प्रकृति और प्रत्यय को अलग-अलग निर्दिष्ट किया जाने लगा तो वाक्य में पदों का अस्तित्व भी इन्हीं के अनुरूप ही स्वीकृत करने पर बल दिया गया कि यदि एक पद प्रकृति-प्रत्यय से निर्मित है तो एक वाक्य पदों से। इसी तथ्य की ओर आचार्य कुन्तक ने भी प्रसंगवश संकेत किया है—

दृश्यते च समुदायान्तःपातिनामसत्यभूतानामपि व्युत्पत्तिनिमित्तमपोद्धृत्य विवेचनम्—यथा पदान्तर्भूतयोः प्रकृतिप्रत्यययोः वाक्यान्तर्भूतानां पदानाञ्चेति।

—व० जी० १.६ (वृत्ति)

और, यही कथ्य कभी-कभी इस रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है कि जिस प्रकार 'कमल' शब्द में 'क, म, ल' ये तीनों वर्ण निरर्थक हैं, और न ही 'क' बोलने से 'कमल' शब्द के एक-तिहाई अर्थ का, तथा 'क म' बोलने से 'कमल' शब्द के दो-तिहाई अर्थ का बोध होता है, उसी प्रकार 'अहं गृहं गच्छामि' में प्रथम दोनों पदो में क्रमशः उच्चारण द्वारा भी क्रमशः एक-तिहाई और दो-तिहाई वाक्यार्थ के बोध की अस्वीकृति कर दी गई, और परिणामतः, यह निष्कर्ष निकाला गया कि वाक्य की समाप्ति-पर्यन्त सभी पद निरर्थक समझे जाने चाहिएँ। वस्तुतः, यह सादृश्य किसी भी रूप में सुघटित प्रतीत नहीं होता। पद में प्रयुक्त वर्ण, उदाहरणार्थ 'क', 'म' अथवा 'ल' तो नितान्त निरर्थक हैं, किन्तु वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थ एक बार ज्ञात हो जाने पर अपना प्रभाव छोड़े बिना नहीं रह सकते। वर्ण पद के अनिवार्य अंग हैं, और पद वाक्य के, किन्तु इस साम्य के होते हुए भी वाक्य-गत पद, पद-गत वर्णों के समान, नितान्त निरर्थक नहीं होते। माना कि 'अहं गृहं गच्छामि'

वाक्य के 'अहं' से वाक्य के एक-तिहाई वाक्यार्थ का बोध नहीं होता, पर श्रोता वाक्यार्थ के मार्ग पर अग्रसर अवश्य हो जाता है—यदि इस तथ्य को थोड़ा और दूर तक खींच ले जाएँ तो 'सरोवर में सुन्दर कम······' इतना सुनते ही प्राय: 'कमल' का अर्थ तो समझ आ सकता है, पर दो-तिहाई 'कमल का नहीं।

इन सब समस्याओं के समाधान के लिए पहले पद-स्फोट की, और फिर अन्ततः, वाक्य-स्फोट की ही धारणा स्वीकृत की गई। शब्द को ब्रह्म के स्तर पर कल्पित करके अर्थ के साथ शब्द का नित्य-सम्बन्ध घोषित किया गया। महाभाष्य का प्रसिद्ध कथन '**सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे**', और इसी के अनुरूप भारतीय काव्यशास्त्र का प्रसिद्ध कथन '**ननु शब्दार्थौ काव्यम्**' प्रकारान्तर से इस धारणा की ओर संकेत करते हैं। शब्द वस्तुत: सार्थकता का ही द्योतक है, केवल नाद का नहीं। किन्तु 'शब्द-ब्रह्म' के रूपक द्वारा एक ओर यह कल्पना हास्यास्पद प्रतीत होती है कि 'वभ्रि', 'अवस्यु', 'मृडीक' जैसे शब्दों में जो कि आज लुप्त हो गए हैं, क्रमश: ये अर्थ छिपे पड़े हैं—भरण-कर्ता, रक्षक और सुख, और दूसरी ओर 'गवेषणा' जैसे शब्दों के विषयों में यह कल्पना भी कि अब भी इनमें 'गो+एषणा' (गाय की खोज) जैसे अर्थ छिपे पड़े हैं, और ये सब अर्थ कभी भी प्रकट हो सकते हैं। उक्त हास्यास्पद धारणाएँ यदि हम किसी-न-किसी रूप से स्वीकार कर भी लें, किन्तु शब्द-ब्रह्मत्व के आधार पर यह मान्यता तो किसी भी रूप में स्वीकृत नही हो सकती कि प्रत्येक शब्द में प्रत्येक अर्थ निहित है, और जब भी कभी वह स्फुटित हो सकता है। फिर भी, स्फोट-सिद्धान्त में यह तथ्य तो स्पष्टत: निहित है ही कि प्रत्येक शब्द तब तक स्फोट कहाने का अधिकारी है, जब तक कि वह अपने नियत अर्थ को प्रकट करता रहता है - अस्तु !

वस्तुतः, भारतीय काव्यशास्त्र का समग्र कलेवर शब्द और अर्थ के उक्त नित्य सम्बन्ध पर ही अवस्थित है। इसी नित्य सम्बन्ध की व्याख्या कुन्तक के शब्दों में इस प्रकार है कि 'काव्य में शब्द और अर्थ दो मित्रों के समान एक-दूसरे की शोभा बढ़ाते हुए परस्पर-संलग्न रहते हैं।'[1] अस्तु ! शब्दशक्ति-प्रकरण तो इसी पर आधारित है ही, ध्वनि के भेद भी शब्द और अर्थ से सम्बद्ध किये गये हैं, तथा गुण, अलंकार और यहाँ तक कि दोष-प्रसंग का विभाजन भी अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर शब्दगत और अर्थगत रूप में किया गया है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि जिस काव्य-तत्त्व को 'शब्दगत' कहा जाता है उससे केवल यह अभिप्राय लिया जाता है कि इसमें शब्द की प्रधानता है और अर्थ की गौणता, और जिसे 'अर्थगत' कहा जाता है उसमें अर्थ की प्रधानता है और शब्द की गौणता। इस प्रकार नामकरण प्रधानता के

---

१. **समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव संगतौ।**
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा॥ व० जी० १.७ (वृत्ति)

आधार पर किया जाता है—'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति।' वस्तुतः, शब्द और अर्थ तो परस्पर एक दूसरे की सहायता करते हुए चलते हैं।[१]

उपर्युक्त वर्गीकरण से भी बढ़कर स्वयं काव्य का लक्षण भी शब्द और अर्थ के समन्वित रूप पर आधारित किया गया है। भामह ने शब्द और अर्थ के सहित-भाव को काव्य की संज्ञा दी है; और रुद्रट ने शब्दार्थ को। इसी प्रकार कुन्तक ने भी 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' के ही आधार पर काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया है।[२] मम्मट ने स्वसम्मत काव्य-लक्षण में काव्य का स्वरूप शब्दार्थ पर आधारित किया है,[३] और राजशेखर, विश्वनाथ आदि ने काव्यपुरुष-रूपक में शब्दार्थ को ही काव्य का शरीर बताया है।[४] दण्डी और जगन्नाथ ने काव्य-लक्षणों में शब्द और अर्थ को यदि पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट किया है तो संग्रहकार व्याडि के अनुसार सम्भवतः इसका यह समाधान किया जा सकता है कि शब्द और अर्थ अभिन्न होते हुए भी यदि पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट किये जाते हैं तो इसका कारण लौकिक व्यवहार ही है, पर वस्तुतः वे अभिन्न और क रूप में अवस्थित हैं—

शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक् क्रिया।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत् समवस्थितम्॥
—वा० पा० (१.२६) की वृत्ति में उद्धृत

४. वाचक शब्द और संकेत-ग्रह

काव्यशास्त्र में प्रतिपादित भाषाशास्त्र-सम्बन्धी एक अन्य महत्त्वपूर्ण विषय है—वाचक शब्द। किसी शब्द से दो प्रकार का संकेत ग्रहण किया जाता है—साक्षात् और परम्परा-सम्बद्ध। 'गंगा पर आश्रम है' इस वाक्य में 'गंगा' शब्द का नदी-विशेष अर्थ साक्षात् है, और 'गंगा-तट', अर्थ परम्परा-सम्बद्ध। वाचक शब्द साक्षात्-संकेतित अर्थ अथवा मुख्य अर्थ को बताता है[५], परम्परा-सम्बद्ध अर्थ को नहीं।

---

१. शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।
एकस्य व्यंजकत्वे तदन्यस्य सहकारिता॥ सा० द० २.१८

२. (क) शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। काव्यालंकार (भामह) १.१६
(ख) शब्दार्थौ काव्यम्। काव्यालंकार (रुद्रट) २.१
(ग) शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ व० जी० १.७

३. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। काव्यप्रकाश १ म० उ०

४. काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्। सा० द० तथा का० मी०

५. साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः। का० प्र० २.७

निष्कर्षतः, वाचक वह शब्द कहाता है जिसके द्वारा किसी अर्थ-विशेष का संकेत-ग्रहण सदा और एक-समान हो सके। वाचक शब्द चार प्रकार का माना गया है —द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति।

—द्रव्य का लक्षण है : **'मूर्तिमद् द्रव्यम्'**, अर्थात् मूर्त पदार्थ को द्रव्य कहते हैं, अर्थात् द्रव्य इन्द्रिय-ग्राह्य होते हैं।

—गुण द्रव्य पर अनिवार्यतः आधारित रहता है, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य किसी-न-किसी गुण से अवश्य सम्पन्न होगा। गुण इन्द्रिय-ग्राह्य होता है, वह अनुमान का विषय नहीं होता। 'सुन्दर पुष्प' में सुन्दरता, 'कृष्ण वस्त्र' में कृष्णता, आदि—ये सभी गुण इन्द्रिय-ग्राह्य हैं।

—क्रिया का अनुमान द्रव्य के विकार, अर्थात् पदार्थ की चेष्टा से होता है। 'पाक' और 'पचति'—ये दोनों क्रिया के रूप हैं। पहला सिद्धावस्थापन्न भाव है, और दूसरा साध्यावस्थापन्न भाव।

जाति का लक्षण है—

भिन्नक्रियागुणेष्वपि बहुषु द्रव्येषु चित्रगात्रेषु।
एकाकारा बुद्धिर्भवति यतः सा भवेज्जातिः॥

—काव्यालंकार (रुद्रट) ७.६

अर्थात्, भिन्न क्रिया और गुण वाले होने के कारण अनेक प्रकार के शरीर वाले भी बहुत से द्रव्यों में जिस तत्त्व के कारण समान बुद्धि पैदा होती है, उसे जाति कहते हैं। उदाहरणार्थ, संसार भर के सभी बालक परस्पर भिन्न होते हुए भी 'बालकत्व' जाति के कारण बालक कहाते हैं, इत्यादि।

अस्तु! वाचक शब्द से किसी अर्थ-विशेष का संकेत-ग्रहण होता है। प्रश्न है कि यह संकेत ग्रहण किसका होता है? इस सम्बन्ध में पांच सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं—(१) जातिवाद, (२) व्यक्तिवाद, (३) जातिविशिष्टवाद, (४) अपोहवाद, (५) जात्यादिवाद। अब इन पर संक्षेपतः प्रकाश डाला जा रहा है। यह प्रसंग भारतीय प्रज्ञा के बौद्धिक व्यायाम का एक अद्भुत निदर्शन है।

(१) जातिवाद—यह मीमांसकों का मत है—**मीमांसकास्तु गवादिपदानां जातिरेव वाच्या, न तु व्यक्तिः।**[1] उनका अभिप्राय यह है कि 'गौ' शब्द से हम गौओं में पायी जाने वाली जाति 'गो-सामान्य' का ही अर्थ लेंगे, न कि किसी विशेष गौ—लाल, काली, श्वेत आदि का। जाति कहते हैं सामान्य को। सामान्य के दो लक्षण हैं—(क) **अनुवृत्ति-प्रत्यय-हेतु सामान्यम्**, अर्थात् एकाकार-प्रतीति का हेतु 'सामान्य' अथवा 'जाति कहाता है। अनेक गौओं को इसी एकाकार-प्रतीति के हेतु

'गोत्व' के कारण ही 'गौ' कहा जाता है। (ख) **नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं सामान्यम्**, अर्थात् 'सामान्य' नित्य तथा अनेक पदार्थों में समवेत धर्म वाला होता है। संसार की प्रत्येक 'गौ में गोत्व नित्य रूप से भी रहता है तथा समवेत रूप से भी—अर्थात् कहीं ऐसा नहीं होगा कि 'गौ' में 'गोत्व' के साथ-साथ अश्वत्व, अजत्व आदि अन्य जाति भी हो। अस्तु ! मीमांसकों के अनुसार संकेत-ग्रह जाति में होता है।

किन्तु फिर भी, व्यवहार में तो जाति का ग्रहण न होकर व्यक्ति का ही ग्रहण होता है। जाति सूक्ष्म है, और व्यक्ति स्थूल। व्यवहार में सूक्ष्म का ग्रहण न होकर स्थूल का ही होता है। अतः मीमांसकों के इसी सिद्धान्त के अनुसार जाति में संकेत-ग्रह स्वीकार करते हुए भी कुछ विद्वान्—चाहे वे स्वयं मीमांसक ही क्यों न हों—यह स्वीकार करते हैं कि आक्षेप द्वारा, अर्थात् अर्थापत्ति अथवा अनुमान द्वारा, अथवा किसी अन्य सम्बन्ध द्वारा किसी 'विशिष्ट गाय' का, अर्थात् 'व्यक्ति' का ज्ञान होता है। यह अनुमान-प्रक्रिया इस प्रकार होगी—जहाँ-जहाँ गोत्व (जाति) है, वहाँ-वहाँ गौ (व्यक्ति) भी अवश्य है। इस प्रकार इस सिद्धान्त का समग्र रूप में अभिप्राय है—'**संकेत-ग्रह होता तो जाति का है, पर व्यवहार में व्यक्ति का ही ग्रहण होता है, और इस स्वीकृति के लिए आक्षेप, अनुमान अथवा किसी अन्य सम्बन्ध की स्वीकृति करनी पड़ती है।**

(२) **व्यक्तिवाद**—संकेत-ग्रह व्यक्ति का होता है। इस मत को मानने वाले आचार्य व्यक्तिवादी कहाते हैं। 'गाय लाओ', 'गाय बाँधो' आदि कथनों से एक विशेष गाय—व्यक्ति-विशेष—का ही बोध होता है, न कि संसार भर की सभी गायों का, अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही होता है, न कि जाति। अतः संकेत-ग्रहण व्यक्ति का ही होता है।[2] किन्तु व्यक्ति में संकेत-ग्रह मानने में दो दोष उपस्थित होते हैं : आनन्त्य और व्यभिचार—

(क) **आनन्त्य दोष**—जिस वाचक शब्द से अभिधा शक्ति द्वारा जिस व्यक्ति-विशेष में संकेत-ग्रह हुआ है, उस शब्द से केवल उस व्यक्ति-विशेष की ही उपस्थिति होगी, न कि सब व्यक्तियों की। अतः अन्य व्यक्तियों की प्रतीति के लिए प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग संकेत-ग्रह मानना आवश्यक होगा, और इस प्रकार अनन्त शक्तियों (अभिधा-शक्तियों) की कल्पना करनी होगी।

---

१. शक्तिवाद : परिशिष्ट काण्ड, पृष्ठ १६५

२. (क) **अर्थक्रियाकारितया प्रवृत्ति-निवृत्ति-योग्या व्यक्तिरेव।**

—काव्यप्रकाश, २ य उ०

(ख) **व्यक्तिवादिनस्तु आहुः —शब्दस्य व्यक्तिरेव वाच्या।**

—महाभाष्य-प्रदीप (कैयट), पृ० ५३

(क) **व्यभिचार-दोष**—व्यभिचार का अभिप्राय है सामान्य नियम का उल्लंघन। यह ठीक है कि व्यवहार में अभिधा शक्ति द्वारा व्यक्ति-विशेष में संकेत-ग्रह होता है, और अनन्त व्यक्तियों के लिए लिए अनन्त शक्तियां माननी पड़ेंगी, किन्तु इस 'आनन्त्य दोष' से वचने के लिए यदि यह कह दिया जाए कि व्यक्ति-विशेप का संकेत-ग्रह हो चुकने के उपरान्त अन्य व्यक्तियों का वोध भी विना संकेत-ग्रहे के स्वतः हो जाता है, तो इस स्वीकृति में 'व्यभिचार दोष' उत्पन्न हो जाएगा—'गाय' शव्द कहने से एक गो—व्यक्ति (एक विशेष गाय) के साथ-साथ अन्य 'गो'—व्यक्तियों का भी वोध विना संकेत-ग्रह के स्वीकार कर लेना इस नियम का उल्लंघन है कि शव्द संकेत की सहायता से ही अर्थ की प्रतीति करता है।[1] इस प्रकार व्यक्ति में संकेत-ग्रह मानने से 'आनन्त्य' दोप उत्पन्न होता है, और उससे वचने के लिए 'व्यभिचार' दोप उत्पन्न होता है।

(३) **जातिविशिष्ट-व्यक्तिवाद**—जैसा कि ऊपर कह आए हैं—संकेत-ग्रह 'जाति' में मानने पर व्यक्ति के वोध के लिए 'आक्षेप', 'अनुमान' अथवा किसी अन्य सम्वन्ध की स्वीकृति करनी पड़ती है, और व्यक्तिवादियों के अनुसार संकेत-ग्रह व्यक्ति में मानने पर 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोप उत्पन्न होते हैं। अतः नैयायिक संकेत-ग्रह केवल जाति अथवा केवल व्यक्ति में न मानकर 'जाति-विशिष्ट व्यक्ति' में मानते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि 'गौर्गच्छति' इस वाक्य में प्रयुक्त 'गो' शव्द गोत्व, अर्थात् 'गो-जाति से विशिष्ट गो-व्यक्ति' का वोध कराता है, न कि केवल गोत्व-जाति का, और न ही केवल गो-व्यक्ति (किसी विशेष गाय) का। जव हम किसी वाक्य में 'गो' शव्द प्रयुक्त करते है तो हमें निस्संदेह अभीष्ट तो गो-व्यक्ति रहता है, किन्तु वह 'गो-जाति से विशिष्ट' होता है, क्योंकि वह विशेप गाय भी तो इसी कारण गाय कहाती है कि उसमें गोत्व-जाति विद्यमान है। अतः संकेत-ग्रह 'जाति-विशिष्ट व्यक्ति' का होता है, न केवल गोत्व का, और न केवल किसी एक विशेप गाय का। इसी सिद्धान्त को अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए मम्मट ने कहा है : **तद्वान् शव्दार्थः**।[1] (का० प्र० ६,१०, वृत्ति)।

(४) **अपोहवाद**—'अपोह' को अतद्व्यावृत्ति भी कहते हैं। इन दोनों शव्दों से आशय है—अभीष्ट पदार्थ के अतिरिक्त शेष सव पदार्थों का निराकरण। अपोहवाद वौद्धों का मत है। वे शव्द का संकेत अपोह रूप अर्थ में ही मानते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि 'गौ' पद कहने पर पहले 'गौ' के अतिरिक्त अन्य सभी

---

१. **यस्यां गोव्यक्तौ संकेतग्रहः स्वीकृतः तदतिरिक्तायाः गोव्यक्तेर्गोशव्दाद् भानं न स्याद् इति व्यभिचारः।** —काव्यप्रकाश, वालवोधिनी टीका, पृ० ३२

पदार्थों का निराकरण हो जाता है, फिर 'गौ' पद से 'गौ' अर्थ का वोध होता है। अपोह=अतद्व्यावृत्ति (न तत् अतद्, वह नहीं, अर्थात् उससे भिन्न, की व्यावृत्ति =निवृत्ति), अर्थात् जिस वस्तु का वोध करने के लिए शव्द का प्रयोग हुआ, उससे भिन्न जितनी वस्तुएं है उनका हट जाना। वौद्धों के इस सिद्धान्त की ओर मम्मट ने केवल संकेत-मात्र किया है—**अपोहः शब्दार्थः** । (का० प्र० २.१० वृत्ति)

वौद्ध विद्वान् जाति अथवा व्यक्ति में संकेत-ग्रह नहीं मानते—क्योंकि ऐसा मानने पर इन मतों के साथ उनके अपने अन्य सिद्धान्तों का विरोध हो जाता है। यदि वे जाति में संकेत मानें तो यह उनके क्षणिकवादी सिद्धान्त के विरुद्ध हो जाता है—(क) जाति को स्थिर माना गया है, किन्तु यह उनके 'क्षणिकवाद' के विपरीत है। अतः वौद्ध लोग 'जाति' की सत्ता में विश्वास नहीं रखते। (ख) यदि व्यक्ति में संकेत माना जाए तो यह भी उनके क्षणिकवादी सिद्धान्त के विपरीत जा पड़ता है। उनके अनुसार व्यक्ति तो क्षणभंगुर अर्थात् परिवर्तनशील है—क्षण-क्षण में वदलता रहता है। सकेत किस व्यक्ति का मानें—इस क्षण के व्यक्ति का, अथवा एक क्षण वीत जाने के वाद दूसरे क्षण के व्यक्ति का, आदि। 'अपोह' में संकेतग्रह मानने से उनके अनुसार केवल वही पदार्थ अभीष्ट रहेगा जो उस समय जैसा है, अन्य पदार्थ—किसी अन्य काल तथा देश के पदार्थ—अभीष्ट नहीं होंगे।[1] यहां यह ज्ञातव्य है कि वौद्ध जन पदार्थ में नदी-प्रवाह के समान जल में परिवर्तनशीलता होने पर भी उसमें भ्रमवश परिवर्तनशीलता की स्वीकृति करते हैं, वस्तुतः उस क्षण का जल अपरिवर्तनशील ही है।

× × ×

किन्तु 'अपोहवाद' की अस्वीकृति में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) जव तक 'गो' का ज्ञान नहीं होगा, तव तक गो-भिन्न पदार्थों का निराकरण कैसे सम्भव है ?

---

१. इस सम्वन्ध में निम्नोक्त कथन भी उद्धरणीय है—

(क) व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः। (न्यायसूत्र)

(ख) जात्यवच्छिन्नसंकेतवती नैमित्तकी मता।
जातिमात्रे हि संकेताद् व्यक्तेर्भानं सुदुष्करम् ॥ शव्दशक्तिप्रकाशिका, १६

(ग) न व्यक्तिमात्रं शक्यं न वा जातिमात्रम्। आद्ये, आनन्त्याद् व्यभिचाराच्च। अन्त्ये व्यक्तिप्रतीत्यभावप्रसंगात्। न चाक्षेपाद् व्यक्तिप्रतीतिरिति वाच्यम्। तथा सति वृत्त्यनुपस्थितत्वेन शाव्दवोधविषयत्वानुपपत्तिः। तस्माज्जातिविशिष्ट एव संकेतः।—का० प्र०, वा० वो०, पृष्ठ ३८

(२) इस सिद्धान्त में एक पदार्थ के बोध के लिए उसके अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों का बोध आवश्यक माना गया है—प्रश्न है कि एक पदार्थ का परिज्ञान सुकर है अथवा उससे भिन्न अनन्त पदार्थों का ?

(३) 'गो' शब्द में अर्थबोध की जो शक्ति है उसे तो अभिधा शक्ति गो-भिन्न की व्यावृत्ति में निर्दिष्ट कर चुकी, अब उससे 'गो' का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि **'सकृत्प्रयुक्तः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति,'** अर्थात्, एक बार प्रयुक्त शब्द केवल एक बार ही अर्थ को बताता है। अतः गो-भिन्न अर्थ के निराकरण के उपरान्त गो (गाय) अर्थ के लिए कोई अन्य शक्ति माननी पड़ेगी, अथवा गो-भिन्न कोई अन्य ध्वनि (नाद) बोलना पड़ेगा—

यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्यनिराकृतौ ।
जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः ॥

—काव्यालंकार (भामह) ६.१७

इस सम्बन्ध में बौद्धों का एक कथन उल्लेख्य है कि 'अपोह' शब्द से हमें न तो केवल विधि स्वीकार है, और न केवल अन्य-व्यावृत्ति (निषेध, अथवा निराकरण), अपितु 'अन्यव्यावृत्ति-विशिष्ट विधि' ही शब्द का अर्थ है। अर्थात् 'गो' शब्द से गो-भिन्न वस्तुओं की व्यावृत्ति भी, और 'गो' की प्रतीति भी। इसी कथन पर भामह का निम्नोक्त उत्तर उल्लेख्य है—शब्द का फल है अर्थबोध, और एक [शब्द] के दो फल नहीं होते। फिर भला निषेध (निराकरण) और विधि (अभीष्ट अर्थ) का ज्ञान—ये दो फल एक [शब्द] से ही कैसे उपलब्ध हो सकते हैं—

अर्थज्ञानफलाः शब्दा न चैकस्य फलद्वयम् । काव्यालंकार (भामह) ६.१८

(४) गो-शब्द सुनने से पहले गो-अर्थ का ज्ञान होना आवश्यक है, तभी तो उससे गो-भिन्न के निषेध में गो-ध्वनि की प्रवृत्ति होगी—

---

१. इस सम्बन्ध में निम्नोक्त स्थल उद्धरणीय हैं—

(क) **अन्यापोहेन शब्दोऽर्थमाहेत्यन्ये प्रचक्षते ।**
अन्यापोहश्च नामान्यपदार्थापकृतिः किल ॥ काव्यालंकार (भामह) ६.१६

(ख) **गोशब्दश्रवणात् सर्वासां गोव्यक्तीनामुपस्थितेरतस्माद् अश्वादितो व्यावृत्ति-दर्शनाच्च अतद्व्यावृत्तिरूपोऽपोहो वाच्य इति बौद्धमतम् ।**

—का० प्र०, वा० बो०, पृष्ठ ३८

२. **व्यक्तौ आनन्त्यादिदोषाद् भावस्य च देशकालानुगमाभावात् तदनुगतायाम् अतद्व्यावृत्तौ संकेत इति सौगताः ।** —का० प्र० (गोविन्द ठक्कुर), २ य उ०, पृष्ठ २५ के आधार पर, तथा का० प्र०, वा० बो० टीका, पृष्ठ ३८

पुर गौरिति विज्ञानं गोशब्दश्रवणाद् भवेत् ।
येनाऽगोप्रतिषेधाय प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः ॥ काव्यालंकार (भामह) ६.१६

(५) **जात्यादिवाद**—काव्यशास्त्री वैयाकरणों के अनुरूप संकेत-ग्रह न तो जाति में मानते हैं, न व्यक्ति में, और न जाति-विशिष्ट व्यक्ति में, अपितु व्यक्ति की उपाधि (जात्यादि) में मानते हैं, और इस मान्यता की पुष्टि में महाभाष्यकार पतञ्जलि का निम्नोक्त कथन उद्धृत किया जाता है—'**गौश्शुक्लश्चलो डित्थः—इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः ।' इति महाभाष्यकारः ।** उपाधि कहते हैं धर्म-विशेष को । उपाधि के चार भेद हैं—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा (द्रव्य) । ये चारों पदार्थ की उपाधियां हैं । शब्द की शक्ति (संकेत) का ज्ञान व्यक्ति की उपाधियों में होता है, दूसरे शब्दों में—वक्ता द्वारा उच्चरित शब्द श्रोता द्वारा उक्त चारों रूपों में से यथावत् किसी एक रूप में गृहीत होता है । व्यक्ति की उपाधि से तात्पर्य यह है कि (१) कहीं व्यक्ति का नाम लिये जाने पर यदृच्छा (व्यक्ति-वाचक संज्ञा) में संकेतग्रहण होता है, (२) कहीं किसी व्यक्ति से जाति का बोध होता है—जैसे 'गौ उपयोगी पशु है ।' (३) कहीं व्यक्ति की गतिशीलता से उसकी क्रिया का बोध होता है, और कहीं उसकी विशेषता से उसके गुण का—जैसे 'कृष्ण अश्व भागता है,' में 'भागता है' व्यक्ति की गतिशीलता का द्योतक है, तो 'कृष्ण' उसी के गुण का । अर्थात् अकेला 'भागता है' शब्द अथवा अकेला 'कृष्ण' शब्द निरर्थक है—व्यक्ति के साथ जुड़कर ही ये सार्थक बनते हैं । अतः संकेत व्यक्ति की उपाधि में ही होता है ।

इस प्रकार भारतीय प्रज्ञा ने संकेत-ग्रहण के सम्बन्ध में अपने-अपने मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं । हमारे विचार में मूलतः संकेत-ग्रहण प्रत्येक प्रकार के शब्द की 'जाति' में होता है, और फिर शब्द के जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य इन भेदों में, अर्थात् व्यक्ति की उपाधियों में, होने लगता है । यहां 'जाति' से हमारा तात्पर्य है—किसी वस्तु, व्यक्ति-नाम, गुण और क्रिया के सामान्य धर्म से । उदाहरणार्थ—हिन्दी भाषा से अनभिज्ञ एक विदेशी को यदि 'बालक जाता है' वाक्य में प्रयुक्त 'जाता है' का अर्थ पहले बताया जाए तो उसे 'जाता' क्रिया का जाति-परक अर्थ ही ज्ञात होगा, जोकि किसी भी प्राणी से सम्बन्धित हो सकता है, किन्तु बालक का अर्थ ज्ञात हो जाने पर अब 'जाना' क्रिया मानव के जाने की क्रिया से सम्बन्धित हो जाएगी, अर्थात् अब वह 'जाति' से हट कर विशिष्ट क्रिया की द्योतक बन जाएगी । अस्तु ! चाहें तो इस मान्यता को 'जातिवाद' का ही संशोधित रूप कह सकते हैं ।

५. अलंकार आदि में भाषा-तत्त्व

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में **अलंकार, वक्रोक्ति, गुण, रीति और दोष** से संबंधित प्रकरणों में भी अनेक भाषा-तत्त्वों का विवेचन उपलब्ध हो जाता है । स्वयं इनके लक्षण ही अन्ततः भाषा के प्राण-भूत तत्त्व शब्द और अर्थ से संबंधित कर लिये

गये हैं। अलंकार को शब्दार्थ का शोभाकारक एवं अस्थिर धर्म माना गया है, गुण को शब्दार्थ का धर्म गौण रूप से स्वीकार किया गया है, और गुण के इसी रूप के साथ ही रीति को संबंधित किया गया है[1], तथा दोषों के पांच वर्गों में से निम्नोक्त चार वर्ग भाषा से संबंधित है—पदगत, पदांशगत, वाक्यगत और अर्थगत।

भाषाविज्ञान की मनोवैज्ञानिक मीमांसा करने वाले विद्वान् कभी-कभी यह भी स्वीकार करने लगते हैं कि विभिन्न वर्णों के नामों को और यहाँ तक कि उनके लेखन की बनावट को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे मूलतः जिन शब्दों से घिसते-घिसते अपने वर्तमान रूप पर पहुँचे हैं वे शब्द कठोर, कमोल, मसृल, मंजुल, श्रुति-कटु, श्रुति-पेशल आदि रहे होंगे। यदि इस मीसांसा को अर्धवैज्ञानिक मान लें तो भी भारतीय काव्यशास्त्र में गुण और रीति-विवेचन के ये तीन अंग—मधुरता, ओजस्विता और प्रसादिता—इसी भाषा-तत्त्व की ओर ही संकेत करते हैं।

अलंकारप्रकरण के अन्तर्गत शब्द-श्लेष अलंकार के आठ भेद निम्नोक्त आठ भाषा-तत्त्वों पर आधारित हैं—वर्ण, प्रत्यय, लिंग, प्रकृति, पद, विभक्ति, वचन और भाषा। उपमा को अर्थालंकारों की जननी माना गया है। इसके श्रौती और आर्थी नामक दो भेद भाषा-तत्त्व पर ही आधारित हैं, तथा फिर ये दोनों तद्धित, समास और वाक्यगत स्वीकार किये गये हैं।[2] विरोध अलंकार के भेद भी वाचक शब्द के उपर्युक्त चार रूपों—जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य पर आधारित हैं। इसी प्रकार विषम अलंकार के भेद गुण और क्रिया से सम्बन्धित हैं।[3]

इसी प्रकार **वक्रोक्ति-सिद्धान्त** का अधिकतर भेद-प्रस्तार ही भाषा-तत्त्वों को लक्ष्य में रखकर किया गया है। वक्रोक्ति के प्रमुख छह भेदों में से प्रथम चार नाम लीजिए—वर्ण-वक्रता, पदपूर्वार्द्ध-वक्रता, पदपरार्द्ध-वक्रता, और वाक्य-वक्रता, तथा वक्रोक्ति के कतिपय उपभेदों के नाम लीजिए—उपसर्ग, निपात, वृत्ति (समास,

---

१. (क) **शब्दार्थयोरस्थिराः ये धर्माः······अलंकारास्ते**। सा० द० ६ म परि०

(ख) **गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता**। का० प्र० ८ म उ०

(ग) **गुणनाश्रित्य तिष्ठन्ती······रीतिः······**। सा० द० ६ म परि०

२. (क) **श्रौती यथेववाशब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि।**
आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः॥ सा० द० १०.१६

(ख) सा० द० १०. १७, १८.

३. सा० द० १०. ७०.

तद्धित और कृदन्त), लिंग, कारक, संख्या (वचन), पुरुष, उपग्रह (आत्मनेपद और परस्मैपद) आदि की वक्रता। इस प्रकार कुन्तक ने इन सब भेदों एवं उपभेदों के माध्यम से भाषा और काव्यशास्त्र में अनिवार्य संबंध स्थापित करने का प्रयास किया है। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि कुन्तक किसी विशिष्ट भाषा-तत्त्व पर ही काव्यानन्द को केन्द्रित करने के पक्ष में हैं। वस्तुतः, यह स्थिति 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' के आधार पर स्वीकृत करनी चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि किसी एक विशिष्ट स्थल में पद के पूर्वार्द्ध (प्रातिपादिक) के कारण काव्य-सौन्दर्य है तो दूसरे स्थल में पद के उत्तरार्द्ध (प्रत्यय) के कारण, अथवा किसी अन्य स्थल में वाक्य के कारण, और इसी प्रमुखता के आधार पर ही वक्रोक्ति-भेदों का नामकरण किया गया है। किन्तु इससे काव्य-चमत्कार को किसी भाषा-तत्त्व पर केन्द्रित नहीं माना जा सकता। काव्य-चमत्कार तो उक्त पदपूर्वार्द्ध-वक्रता आदि से जन्य परवर्ती क्षण होता है, दूसरे शब्दों में, यह उक्त आधार एवं साधनभूत वक्रताओं का आधेय अथवा साध्य होता है। इधर स्वयं भाषा में भी किसी एक वाक्य के पदों के अर्थों का अवबोध वाक्य के समस्त तात्पर्य के लिए साधन ही होता है, साध्य तो वाक्यार्थ—वाक्य का तात्पर्य—ही होता है।

प्रश्न है, यदि काव्यचमत्कार वाच्यार्थ से परवर्ती अर्थ पर आधारित है तो फिर उक्त विभिन्न वक्रता-भेदों, दूसरे शब्दों में—व्याकरणिक प्रयोगों का काव्य के सौन्दर्य-विधान में क्या योगदान है ? इसका उत्तर यह है कि इस प्रकार के स्थलों में वाच्यार्थ-बोध के पश्चात् ये व्याकरणिक विशिष्ट प्रयोग अनिवार्य माध्यम बनकर व्यंग्यार्थ-प्रतीति में सहायक बनते हैं। उदाहरणार्थ, **'तटी तारं ताम्यत्यतिशशियशाः......'** में 'तटी' शब्दार्थ का वाच्यार्थ 'तट' नहीं, अपितु इसके पश्चात् ज्ञात इसकी 'स्त्रीलिंगता' का बोध ही तटी-रूपी नायिका को व्यंजित करने में सहायक बनता है। अस्तु !

अब **दोष-प्रकरण** लीजिए। भारतीय काव्यशास्त्री 'च्युतसंस्कृति' दोष वहां स्वीकार करता है, जहां वह व्याकरण द्वारा असम्मत दोषों के प्रयोग को दोष कहता है। **'अर्जुनः शंकरस्य वक्षःस्थलं आजघ्ने'**, यहां 'आजघ्ने' इस आत्मनेपदी प्रयोग में च्युतसंस्कृति दोष है, क्योंकि **'आङो यमहनः'** (और उसके अनुवृत्ति-परक **स्वांगकर्मकाच्च**') सूत्र द्वारा हन् धातु में आत्मनेपद का प्रयोग तब संगत है जब कर्म स्वयं कर्त्ता का अपना अंग हो, न कि किसी अन्य का अंग। यहां परस्मैपद प्रयोग 'आजघान' होना चाहिए था। किन्तु फिर भी, काव्यशास्त्र इस संबंध में व्याकरण के नियमों का पालन कठोरतापूर्वक नहीं करता। उदाहरणार्थ 'पद्म' शब्द यद्यपि व्याकरणानुसार पुलिंग है, किन्तु इसका प्रयोग नपुंसक लिंग में प्रचलित है, अतः **'भाति पद्मः सरोवरे'** जैसे प्रयोगों में अप्रयुक्त दोष माना गया है। 'हन्' धातु गत्यर्थक भी है—'हन् हिंसागत्योः', किन्तु इस अर्थ में इसका प्रयोग प्रचलित न होने के कारण **'कुंजं हन्ति (गच्छति) बाला'** ऐसे स्थलों में असमर्थता दोष माना गया है। 'वन्द्याम्' पद 'वन्द्या' शब्द की द्वितीया विभक्ति का एकवचनान्त रूप है, तथा

'वन्दी' (वन्दी : 'ववयोरभेद:') शब्द की सप्तमी का एकवचनान्त रूप भी है। स्पष्टत:, ये दोनों रूप वैयाकरणों के अनुसार शुद्ध हैं, परन्तु काव्यशास्त्री को इस पद के प्रयोग में वहाँ आपत्ति है जहां यह सन्देह उत्पन्न करता है। जैसे—**'आशी:-परम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु।'** इस पद्यांश का प्रस्तुत अभिप्राय तो यह है कि 'इस वन्दनीय आशी:परम्परा को सुनकर हे राजन्। कृपा करें', किन्तु साथ ही, निम्नोक्त अर्थ का भी सन्देह होता है—'इस आशी:परम्परा को सुनकर हे राजन्! इस वन्दी (महिला) पर कृपा करें,' अत: ऐसे प्रयोग त्याज्य हैं। एक उदाहरण और लीजिए—**'आसमुद्र-क्षितीशानाम्'** (समुद्र-पर्यन्त पृथ्वीपतियों का) इस पद में यद्यपि 'आसमुद्र' का 'क्षितीश' के साथ प्रयोग व्याकरण-संगत है, किन्तु 'आसमुद्रम्' कहने में भाषा में जो बल आ जाता है वह समास कर देने से नष्ट हो जाता है। अत: काव्यशास्त्र ऐसे स्थलों में अविमृष्टविधेयांश दोष स्वीकार करता है। यही स्थिति **'यत्र ते पतति सुभ्रु कटाक्षः षष्ठबाण इव पञ्चशरस्य'** में भी है। 'षष्ठबाण' प्रयोग व्याकरण-सम्मत है किन्तु 'षष्ठो बाण:' प्रयोग में ही कहीं अधिक बल है। सन्धि-नियमों के अनुसार निम्नोक्त स्थल में विसर्गों का लोप संगत है--**'गता निशा इमा बाले'**, और निम्नोक्त स्थल में विसर्गों का 'ओ' हो जाना--**'धीरो वरो नरो याति'**, किन्तु काव्य-शास्त्री को ये दोनों स्थितियां भी सह्य नहीं है। वह इनमें काव्य-दोष स्वीकार करता है। और फिर, वह सन्धि भी क्या, जो व्याकरण-सम्मत तो है, पर जिससे जुगुप्सा-व्यंजक अश्लीलता का दुर्गन्ध उठने लगे—**'चलण्डामरचेष्टित:'**, अथवा जो अत्यन्त क्लिष्ट बन जाए—**'उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्वस्थिति:'**। इस प्रकार हमने देखा कि काव्य-दोषों के निर्धारण में काव्यशास्त्र ने व्याकरण के नियमों के परिपालन पर बल तो दिया है, पर वहाँ तक जहाँ तक, वे सहृदय के रसास्वाद में बाधक नहीं बनते।

× × × ×

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यशास्त्र के प्राय: सभी प्रसंगों में भाषा के अनेक तत्त्व भरे पड़े हैं—कहीं अनुस्यूत रूप में, कहीं समन्वित रूप में, कहीं आनुषंगिक रूप में, और कहीं काव्य-चमत्कार के उपकारक रूप में। वस्तुत:, स्वयं काव्य का शरीर ही भाषा है—काव्य-सौन्दर्य को भाषा से ठीक उसी प्रकार अलग नहीं कर सकते जिस प्रकार त्वचा के रंग को उससे अलग नहीं कर सकते, अथवा पुष्प के रंग को उसकी पंखुड़ियों से अलग नहीं कर सकते। इसी आशय को ही कुन्तक ने इन्हीं शब्दों में प्रकट किया था—यों तो समझने-समझाने के लिए अलंकार (काव्य-सौन्दर्य) को अलंकार्य (शब्दार्थ) से अलग करके उसका विवेचन किया जाता है, किन्तु सत्य तो यह है कि काव्यता तो सालंकार की ही होती है, अर्थात् काव्य में अलंकार शब्दार्थ का अविभाज्य अंग बनकर ही रहता है उसे पृथक् नहीं कर सकते—

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया, तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ॥

[अलंकार्यम्···वाचकरूपं वाच्यरूपञ्च ।] व० जी० १.६ तथा वृत्ति

० ०

अन्ततः, एक शंका और ! काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के अन्तर्गत जिन स्थलों में भाषातत्त्व-विषयक विवाद प्रस्तुत किये गये हैं, अथवा भाषा के किसी अंग को लक्ष्य में रखकर काव्य-सौन्दर्य की चर्चा की गयी है—जैसे उपसर्ग, प्रत्यय, निपात, लिंग, वचन, काल आदि से सम्बन्धित ध्वनि-भेदों अथवा वक्रोक्ति-भेदों में—क्या वे स्थल काव्यशास्त्र के अंग न माने जा कर भाषाशास्त्र के अंग माने जाने चाहिए ? किन्तु स्पष्ट है कि इस प्रकार की शंकाओं का एकमात्र उत्तर है—**प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति**, नाम तो प्रधानता के आधार पर ही रखे जाते हैं। उपसर्ग-प्रत्ययादि-गत ध्वनि अथवा वक्रोक्तियों के भेद, अथवा शब्दगुण एवं अर्थगुण, अथवा दोष के पद, पदांश, वाक्य और अर्थगत भेद—ये सभी तो निःसन्देह काव्यशास्त्र के अंग हैं। अब केवल उन स्थलों के सम्बन्ध में शंका बच रहती है जो विशुद्धतः भाषाशास्त्र से गृहीत हैं । उदाहरणार्थ—शब्दशक्ति-प्रकरण के अन्तर्गत स्फोटवाद, संकेत-ग्रह-विषयक चर्चा, वाचक शब्द के चार भेद आदि स्थल । निःसन्देह इस प्रकार के स्थल भाषा-शास्त्र के ही अंग हैं, किन्तु जब कोई काव्यशास्त्री सामान्य भाषा (लोकभाषा) को लक्ष्य में न रखकर 'काव्यभाषा' अथवा 'काव्यसौंदर्य' की पृष्ठभूमि में इस प्रकार के स्थलों का विवेचन करता है तब ये स्थल भी काव्यशास्त्र के अङ्ग बन जाते हैं। और फिर ऐसी कौन सी विद्या (शास्त्र : डिसिप्लिन) है जो दूसरी विद्याओं से किसी न किसी प्रकार से जुड़ी हुई अथवा प्रभावित नहीं है ? किन्तु नामकरण केवल उसी विद्या का ही होता है जिसका प्रधानता से विवेचन किया जाता है । अतः उपर्युक्त सभी स्थलों को काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में काव्यशास्त्र के ही अंग माना जाता है ।

० ० ०

४.

अलंकार-सिद्धान्त

संस्कृत-काव्यशास्त्र की विभिन्न धारणाएं एवं मान्यताएं विकसित होते-होते 'अन्तत: एक-के-बाद एक क्रमश: पाँच काव्य-सिद्धान्तों के रूप में परिणत हो गयीं— इस सम्बन्ध में पीछे यथास्थान प्रकाश डाल आये हैं। अब उन सिद्धान्तों का संक्षिप्त दिग्दर्शन प्रस्तुत है।

अलंकारवादी आचार्य और अलंकार-सिद्धान्त

अलंकारों का सर्वप्रथम निरूपण किसने किया—इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। राजशेखर के एक कथन के अनुसार शेष ने शब्दश्लेष, पुलस्त्य ने वास्तव (स्वभावोक्ति), औपकायन ने उपमा, कुबेर ने उभयालंकार तथा चित्रांगद ने चित्र-काव्य से सम्बद्ध ग्रन्थों का निर्माण किया।[1] ये ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। साथ ही, संभावना यह भी है कि ये सभी, अथवा इनमें से कुछ, नाम काल्पनिक हों। जो हो, सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र में केवल निम्नोक्त चार अलंकारों का उल्लेख मिलता है—उपमा, रूपक, दीपक और यमक, किन्तु अभी अलंकार-सिद्धान्त का जन्म नहीं हुआ था। अलंकार-सिद्धान्त का प्रवर्तक भामह (छठी शती ई०) को माना जाता है, जिनका प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यालंकार (भामहालंकार) है। भामह ने ३७ अलंकारों का निरूपण किया, तथा अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व घोषित किया। भामह का अनुकरण दण्डी ने किया और भामह और दण्डी का उद्भट ने। इन तीनों अलंकारवादी आचार्यों की निम्नोक्त मान्यताओं से स्पष्ट है कि वे अलंकार को काव्य का सर्वस्व एवं अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते थे—

१. भामह ने अलंकार को काव्य का एक आवश्यक आभूषक तत्त्व मानते हुए कहा कि—

(क) अनेक आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रूपक आदि अलंकार काव्य में इस प्रकार आवश्यक हैं, जिस प्रकार किसी नारी का सुन्दर भी मुख आभूषणों के बिना शोभित नहीं होता—

रूपकादिरलंकारस्तथान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्॥ का० अ० १.१३

---

१. काव्यमीमांसा (राजशेखर) प्रथम अध्याय, पृष्ठ १

(ख) अर्थ-मर्मज्ञों की वाणी अलंकार-समूह के द्वारा उस प्रकार शोभित होती है, जिस प्रकार नारी अलंकारों से शोभित हो जाती है—

अनेन वागर्थविदामलंकृता,
विभाति नारीव विदग्धमण्डना । का० अ० ३.५८

२. ये आचार्य काव्य के सभी शोभाकर धर्मों को अलंकार नाम से अभिहित करने के पक्ष में हैं। दण्डी के शब्दों में—**'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते ।'** (काव्यादर्श २.१)। इसका तात्पर्य यह है कि अनुप्रास, उपमा आदि तो अलंकार हैं ही, गुण, रस, ध्वनि आदि अन्य अनेक काव्य-तत्त्व भी इसी नाम से अभिहित होते हैं। निम्नोक्त तथ्य लीजिए—

(क) इन आचार्यों ने अंगीभूत रस, भाव, रसाभास, भावाभास तथा भाव-शान्ति को परवर्ती आनन्दवर्धन आदि आचार्यों के असमान इन्हीं नामों से अभिहित न कर इन्हें क्रमशः रसवत्, प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकार नाम दिया है,[1] और उद्भट ने अंगभूत इन सभी को 'द्वितीय उदात्त' अलंकार माना है।[2]

(ख) गुण को यद्यपि स्पष्टतः अलंकार नहीं कहा गया, किन्तु दण्डी के एक कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि माधुर्य आदि दस गुणों को उन्हें 'साधारण अलंकार' कहना अभीष्ट है।[3]

(ग) ध्वनि को इन तीनों आचार्यों ने यद्यपि कहीं भी स्पष्टतः अलंकार-नाम से अभिहित नहीं किया, किन्तु रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतिवस्तूपमा, पर्यायोक्त (पर्यायोक्ति), अपह्नुति, दीपक, द्वितीय व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्त-निमित्त विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, संकर आदि अलंकारों के लक्षण अथवा उदाहरण इस तथ्य की ओर निस्सन्देह संकेत करते हैं कि ये आचार्य न केवल ध्वनि अथवा व्यंजना-तत्त्व से परिचित थे, अपितु वे इसका अन्तर्भाव उक्त अलंकारों में प्रकारान्तर से करना चाहते थे। निदर्शन के लिए इन तीनों आचार्यों की एक-एक कारिका लीजिए—

१. **समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते ।**
यथेवाऽनभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः ॥ काव्यालंकार (भामह) २.३४

---

१. काव्यालंकार (भामह) ३.५७, काव्यादर्श (दण्डी) २. २-५,
काव्यालंकारसंग्रह (उद्भट) ४.२,३,५,७

२. **उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम् ।**
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥ का० सा० सं० ४.८

३. **काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः ।**
साधारणमलंकारजातमन्यत् प्रकाश्यते ॥ का० आ० २.३

२. शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः ।
तत्र यद् भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते ।। काव्यादर्श २.१८०

३. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाऽभिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनाऽवगमात्मना ।। काव्यालंकारसारसंग्रह ५.६

प्रतिवस्तूपमा, व्यतिरेक और पर्यायोक्त अलंकारों के उक्त लक्षणों में प्रयुक्त क्रमशः 'गुणसाम्यप्रतीति', 'सादृश्यप्रतीयमान' तथा 'वाच्य और वाचक वृत्तियों से शून्य अवगमात्मकता' आदि प्रयोग यह मानने को बाध्य करते हैं कि उक्त तीनों आचार्यों को ध्वनि-तत्त्व को भी अलंकार में अन्तर्भूत करना अभीष्ट था, और यही कारण है कि ध्वनि के प्रवर्तक आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक के प्रारम्भ में ही ध्वनि-विरोधियों में भाक्त और अनिर्वचनीयतावादियों के अतिरिक्त अभाववादियों—अर्थात् ध्वनि को न मानने वाले अलंकारवादियों—का भी खण्डन किया। इसी प्रसंग में उपर्युक्त अलंकारों में से अधिकतर के उदाहरण प्रस्तुत कर[1] आनन्दवर्धन ने यह सिद्ध किया कि ध्वनि का विषय इन अलंकारों के विषय से कहीं और आगे है। ध्वनि महाविपयीभूत है, अतः उक्त पर्यायोक्त आदि अलंकारों का अन्तर्भाव ध्वनि में ही किया जाएगा, न कि ध्वनि का अन्तर्भाव इनमें। अस्तु !

(घ) दण्डी ने प्रबन्धकाव्य को 'भाविक' अलंकार नाम दिया है, तथा नाट्यशास्त्र से सम्बद्ध संधि, संध्यंग, वृत्ति, वृत्त्यंग को, तथा ३६ लक्षणों को वे स्वभावोक्ति, उपमा आदि अलंकारों के अन्तर्गत समाविष्ट करने के पक्ष में हैं—

यच्च सन्ध्यंगवृत्त्यंगलक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः ।।[2] का० आ० २.३६७

निष्कर्षतः, अंलकारवादियों के मत में—

(क) 'अंलकार' व्यापक अर्थ का द्योतक है, संकुचित अर्थ का नहीं। अर्थात् 'अंलकार' काव्यचमत्कार के उत्पादक सभी प्रकार के साधनों का वाचक है, केवल अनुप्रास, उपमा आदि का नहीं।

(ख) इस दृष्टि से रस, ध्वनि, गुण, प्रबन्धकाव्य, दृश्यविधान के अंग—ये सभी 'अंलकार' नाम से अभिहित होते हैं।

---

१. हिन्दी ध्वन्यालोक १.१३, वृत्ति (पृष्ठ ५४-७५)

२. काव्यादर्श के प्रख्यात टीकाकार रंगाचार्य रेड्डी के कथनानुसार इनमें से किन्हीं का (३६ लक्षणों का) अन्तर्भाव दण्डी द्वारा स्वीकृत स्वभावाख्यान (स्वभावोक्ति), उपमा आदि अंलकारों में किया जा सकता है, और किन्हीं का (सन्धि आदि का) भाविक अंलकार में—**तत्र केषांचिद् स्वभावाख्यानादौ अन्तर्भावः, केषांचित् भाविके इति यथायथं विषयानुरोधेन ज्ञातव्यम्**। (का० आ० २.३६७ टीका-भाग)

(ग) और इसी कारण, 'अलकार' काव्य का अनिवार्य साधन है—चाहें तो परवर्ती शब्दावली में कह सकते हैं कि अंलकारवादी आचार्यों को यह स्वीकृत था कि 'अलंकार काव्य की आत्मा है' यद्यपि उन्होंने 'आत्मा' शब्द का कहीं इस अर्थ में प्रयोग नहीं किया।[1]

अलंकार-सिद्धान्त का खण्डन तथा अलंकार का मान्य स्वरूप

आगे चलकर अलंकार-सिद्धान्त का खण्डन किया गया। दण्डी द्वारा प्रस्तुत अलंकार के उक्त लक्षण को ही अस्वीकृत करके मानो अंलकार-सिद्धान्त को जड़ से उन्मूलित कर दिया गया—

—दण्डी ने अंलकार का जो लक्षण किया था, वामन ने वही लक्षण गुण का प्रस्तुत कर दिया। तुलनार्थ—

दण्डी : **काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।**
वामन : **काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।**

इतना ही नहीं, वामन ने गुण को काव्य में नित्य स्थान दिया और अंलकार को अनित्य—'**पूर्वे नित्याः**'। उनके कथनानुसार गुण यदि काव्य के शोभाकारक धर्म हैं तो अलंकार उस शोभा के वर्धक है—**तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः**। इस प्रकार वामन की दृष्टि में अंलकार का महत्त्व गुणों की अपेक्षा कम हो गया।

—इसके पश्चात् आनन्दवर्धन ने अंलकार का नूतन लक्षण प्रस्तुत करते हुए इसका महत्त्व और भी कम कर दिया और इनकी स्थिति इस रूप में स्वीकृत की,

---

१. यहां यह उल्लेखनीय है कि भामह, दण्डी और उद्भट के अतिरिक्त अन्य कोई भी आचार्य अलंकारवादी नहीं है। यहां तक कि निम्नोक्त कथन कहने वाले जयदेव को भी अलंकारवादी नहीं सकते—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनल कृती॥ चन्द्रालोक १.१२

[अर्थात्, जिस मम्मट ने अपने निम्नोक्त काव्य-लक्षण में 'शब्दार्थों' को 'अनलंकृती' (अलंकार रहित) माना है, वह कृती (ग्रन्थकार) फिर भला अनल (अग्नि) को अनुष्ण (ठण्डा) क्यों नहीं मानता ?]

जयदेव को अलंकारवादी न मानने का प्रथम कारण यह कि अलंकारवादियों द्वारा प्रतिपादित उक्त धारणाएं उसने कहीं भी प्रस्तुत नहीं की—उसने तो ध्वनि और उसके अन्तर्गत रस का निरूपण स्वतत्र रूप से किया है, इन्हें 'अलकार नाम देकर नहीं। दूसरा कारण यह है कि मम्मट के काव्यलक्षण '**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि**' का वास्तविक तात्पर्य जयदेव ने नहीं समझा। 'अनलंकृती' से मम्मट का तात्पर्य 'अलंकार का अभाव' नहीं है, अपितु 'अलंकार का स्फुट रूप में न होना'

जैसी कि शरीर के कटक, कुण्डल आदि शोभाकारक आभूषणों की होती है—**अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्।** (ध्वन्यालोक २.६)। यहाँ 'अंग' से तात्पर्य है शब्दार्थ-रूप काव्यशरीर। आनन्दवर्धन की इसी मान्यता को आगे बढ़ाते हुए मम्मट, और फिर, विश्वनाथ ने अलंकार का लक्षण निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत किया—'अलंकार उन्हें कहते हैं जो शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर के अस्थिर धर्म के रूप में उसकी अतिशय शोभा बढ़ाते हुए रसादि का कभी उपकार करते हैं।'[1] इनके बाद जगन्नाथ के अनुसार 'अलकार उन्हें कहते हैं जो काव्य की आत्मा 'व्यंग्य' की रमणीयता के प्रयोजक हैं।'[2]

निष्कर्षतः, आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ—इन चारों आचार्यों द्वारा प्रस्तुत अलंकार-लक्षण का संक्षिप्त विश्लेषण इस प्रकार है :

१. जिस प्रकार कटक-कुण्डल आदि आभूषण शरीर की प्रायः शोभा करते हैं, और कभी नहीं भी करते, उसी प्रकार अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर की प्रायः शोभा करते हैं, और कभी नहीं भी करते। इस प्रकार अलंकार 'शब्दार्थ' के अस्थिर धर्म हैं।

२. अलंकार शब्दार्थ की शोभा द्वारा परम्परा-सम्बन्ध से रस का उपकार ठीक उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार, शरीर पर धारण किये गये आभूषणों द्वारा प्रकारान्तर से आत्मा का उत्कर्ष होता है।

३. अलंकार किन्हीं स्थितियों में रस का उपकार नहीं भी करते और कभी तो रस का अपकार भी कर देते हैं, और कभी अपकार भी नहीं करते।[3]

है—**क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।** (का० प्र० १.४ वृत्ति।) किन्तु जयदेव ने 'अनलंकृती' से अलंकार का अभाव' अर्थ समझ कर मम्मट पर व्यर्थ का छींटा छोड़ा है, और यमक के लोभ में पड़ कर उक्त श्लोक का निर्माण कर दिया है। अन्यथा जयदेव के समान मम्मट भी जानते थे कि सौ, सवा सौ अलंकारों के लगभग तीन सौ भेदोपभेदों में से कोई न कोई रूप तो प्रत्येक कवित्वपूर्ण पद्य में प्रायः मिल ही जाता है—हाँ, कहीं वह अस्फुट रूप में भी उपलब्ध होता है, पर इस बारीकी को जयदेव ने नहीं समझा। इधर हिन्दी के आचार्यों में केशवदास को भी अलंकारवादी कहना समुचित नहीं है। वे दण्डी के ग्रन्थ 'काव्यादर्श' के केवल हिन्दी में रूपान्तरकार, अपितु उल्थाकार मात्र हैं, और बस।

१. (क) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ का० प्र० ८.६७

(ख) शब्दार्थयोरस्थिराः ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्ते ऽङ्गदादिवत्॥ सा० द० १०.१

२. काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकाराः। (रसगंगाधर)

३. देखिए—'काव्य में अलंकार का प्रयोग……' पृष्ठ ४७-५६

४. जगन्नाथ के अनुसार अलंकार [शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर की शोभा द्वारा] काव्य की आत्मा 'व्यंग्यार्थ' (ध्वनि) में रमणीयता उत्पन्न कर देते हैं।

अन्ततः, यह उल्लेख्य है कि ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने समस्त काव्य के सभी रूपों को ध्वनि-सिद्धान्त के विशाल अन्तराल में समाविष्ट करने के उद्देश्य से ध्वनि (व्यंग्यार्थ) के तारतम्य के आधार पर काव्य को तीन प्रमुख प्रकारों में विभक्त करते हुए *व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य* को *'ध्वनि-काव्य'* नाम दिया, *व्यंग्यार्थाप्रधान काव्य* को *'गुणीभूतव्यंग्य-काव्य'*, और इनसे *'अन्यत्'* काव्य को **'चित्र काव्य'**[1], और इसी 'चित्र-काव्य' को आनन्दवर्धन ने 'अलंकार-निवन्ध' नाम भी दिया है।[2] आगे चलकर उनके *'अन्यत्'* शब्द की व्याख्या में ही मानो मम्मट ने 'चित्रकाव्य' वहां स्वीकृत किया जहाँ काव्य 'अव्यंग्य' अर्थात् स्फुट-व्यंग्यार्थ-रहित हो। यह स्थिति तव उत्पन्न होती है जव *व्यंग्यार्थ* 'अलंकार' के चमत्कार के आधिक्य के कारण [तथा गुणों की वर्ण-व्यंजकता के चमत्कार के आधिक्य के कारण भी] 'अस्फुट' वनकर रह जाए, और यह 'चित्रकाव्य' अवर काव्य कहाता है।[3]

इस प्रकार हमने देखा कि अलंकारवादियों का 'अलंकार' अव काव्य का अनिवार्य तत्त्व न रह कर **शब्दार्थ की शोभा के माध्यम से रस का उपकारक वन गया**, और वह भी नित्य रूप से नहीं। मम्मट का **'अनलंकृती पुनः क्वापि'** कथन इसी अवहेलना का द्योतक है। इस प्रकार अलंकार को 'काव्य की आत्मा' मानने का प्रश्न आनन्दवर्धन, मम्मट आदि आचार्यों के मत में तो उत्पन्न ही नहीं होता। भामह, दण्डी और उद्भट के मत में भी अलंकार को काव्य की आत्मा नहीं मान सकते, क्योंकि उनके मत में भी अलंकार काव्य का अनिवार्य माध्यम (साधन) होते हुए भी अधिकांशतः एक वाह्यपरक तत्त्व है, किन्तु 'आत्मा' कहाने योग्य काव्य-तत्त्व वह होता है जो कि काव्य का एक अनिवार्य एवं आन्तरिक साधन हो।

---

१. **गुणप्रधानभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।**
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते॥ ध्वन्या० ३.४२

२. **रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।**
अलंकारनिवन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥ ध्वन्या० ३.४३ (वृत्ति)

३. (क) **शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।**
(ख) **अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्॥**
(ग) **चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्।** का० प्र० १.५ वृत्ति

[यहाँ यह उल्लेख्य है कि कुछ विद्वान् मुरज-वन्ध, खड्ग-वन्ध आदि 'चित्र अलंकार' को 'चित्र-काव्य' कह देते हैं, किन्तु यह केवल नाम-साम्य के कारण है, वस्तुतः, उनकी यह धारणा भ्रान्त है। उक्त मान्यता से स्पष्ट है कि चित्र अलंकार और चित्र-काव्य में अन्तर है।]

काव्य में अलंकार का प्रयोग, औचित्य एवं मूल्यांकन

'अलंकार' काव्य के वाह्यात्मक—कलापरक—पक्ष, (अर्थात् शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर के सौन्दर्य) का सर्वाधिक प्रवल साधन है। अतः इस सम्वन्ध में एक सीधा प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या काव्य का कलापक्ष अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों से अनिवार्यतः अलंकृत होना चाहिए—इसका सीधा उत्तर है कि 'अनिवार्यतः नहीं'। इस सम्वन्ध में काव्य की तीन स्थितियां उल्लेख्य हैं :

पहली स्थिति यह कि यदि काव्य का आन्तरिक पक्ष आह्लादक है, अर्थात् व्यंग्यार्थ के किसी रूप के माध्यम से काव्यानन्द अथवा रस प्राप्त होता है तो अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों से अलंकृत कलापक्ष उस आह्लाद का—रस का—उत्कर्षक तो हो सकता है, पर केवल इसी के कारण उस रचना-विशेष की आह्लादकता स्वीकार नहीं की जा सकती। यह ज्ञातव्य है कि अलंकार कभी-कभी रस का उत्कर्षक नहीं भी होता, और कभी-कभी तो उसका अपकर्ष भी कर देता है।

दूसरी स्थिति यह कि जहां रचना का आन्तरिक पक्ष सवल अर्थात् आह्लादक एवं सरस है, किन्तु अनुप्रास, उपमा आदि अलकारों का प्रयोग स्पष्ट अर्थात् स्फुट रूप से परिलक्षित न होकर अस्फुट रूप से परिलक्षित होता है तो वहां भी आह्लादकता अथवा रसास्वाद में किसी प्रकार की हानि नहीं मानी जाती।

अव तीसरी स्थिति लीजिए। यदि किसी रचना का आन्तरिक पक्ष व्यंग्यार्थ-समन्वित तो हो, किन्तु उसका वाह्य पक्ष अलंकार द्वारा इतना अधिक अलंकृत एवं वोझल हो कि व्यंग्यार्थ अलंकार के चमत्कार से दव कर अस्फुट-सा प्रतीत होने लगे, तो इस स्थिति में पाठक को व्यंग्यार्थ-जन्य आह्लादकता की प्राप्ति तो नहीं होती, पर केवल शब्द-चमत्कार अथवा अर्थ-चमत्कार से जन्य कौतुहल अवश्य मिल जाता है—काव्य की प्रायः इसी स्थिति को 'चित्रकाव्य' कहा गया है।[1]

इस सम्वन्ध में एक स्थिति और भी उल्लेख्य है—सरस काव्य में अलंकार का अस्पष्ट अर्थात् अस्फुट रूप से भी प्रयोग न होना। किन्तु इस प्रकार की स्थिति की सम्भावना प्रायः नहीं होती, क्योंकि अलंकारों के लगभग तीन सौ भेदोपभेदों में से कोई न कोई भेद, अस्फुट रूप से ही सही, विद्यमान होगा। यदि इन अलंकारों में से कोई न भी होगा तो कोई अन्य अलंकार (शोभाजनक कथन) अस्फुट रूप से अवश्य विद्यमान होगा, क्योंकि 'अलंकार' के अन्तर्गत केवल यही लगभग तीन सौ वाह्य शोभाकारक अलंकार-भेद तो गृहीत नहीं किये जा सकते, इस प्रकार के अन्य भी अनेक शोभावह उपकरण 'अलंकार' नाम से अभिहित किये जा सकते हैं। इस प्रकार काव्य में अलंकार का नितान्त अभाव—इसका अस्फुट रूप से भी प्रयोग न होना—स्वीकृत नहीं किया गया।

---

१. देखिए पृष्ठ ४६, पा० टि० ३

इसी आधार पर कहा जा सकता है कि काव्य में अलंकार सदा विद्यमान रहता है, स्फुट रूप से न सही तो अस्फुट रूप से सही। इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर मम्मट ने अपने काव्य-लक्षण में 'अनलंकृती पुनः क्वापि' कथन को स्थान दिया,[1] और जयदेव ने मम्मट के इस रहस्य को न समझते हुए मम्मट पर व्यर्थ का छींटा छोड़ दिया कि काव्य को अलंकार-शून्य मानना तो ऐसा है जैसा कि अग्नि को उष्णता-विहीन कहना।[2] वस्तुतः जो जयदेव को अभीष्ट है वही एक संशोधन के साथ मम्मट को भी अभीष्ट था कि अलंकार काव्य में सदा विद्यमान रहता है, कहीं स्फुट रूप से तो कहीं अस्फुट रूप से। इसका नितान्त अभाव तो मम्मट को भी अभीष्ट नहीं था। अस्तु!

इतना स्वीकृत कर लेने पर—कि काव्य में कोई न कोई अलंकार, चाहे उसका कोई नाम रखा गया हो अथवा नहीं, किसी न किसी रूप से काव्य-शरीर के शोभाकारक रूप में अवश्य विद्यमान रहता है—यह शंका उठना स्वाभाविक है कि अलंकारवादियों का दृष्टिकोण भी तो यही था कि काव्य में अलंकार का सद्भाव अनिवार्यतः रहता है, अतः दोनों वर्गों के आचार्यों के दृष्टिकोणों में कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः, अलंकारवादियों के अनुसार तो काव्य के आन्तरिक तत्त्व रस, ध्वनि आदि भी 'अलंकार' कहाते हैं, किन्तु इधर आनन्दवर्धन आदि परवर्ती आचार्यों के मत में अलंकार से तात्पर्य है—काव्य का केवल बाह्य शोभाकारक उपकरण। इसके अतिरिक्त अलंकारवादियों के मत में अलंकार के अस्फुट प्रयोग का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए तीन प्रकार के पद्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनमें शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार—

[१] कभी स्फुट रूप में विद्यमान रहकर काव्य-चमत्कार में वृद्धि करता है, और

[२] कभी अस्फुट रूप में विद्यमान रहकर काव्य-चमत्कार में वृद्धि करता है,

[३] किन्तु, कभी प्रमुखतः अलंकार ही काव्य-चमत्कार का कारण बनता है।

प्रथम प्रकार के उदाहरण लीजिए—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला॥[3] का० प्र० ८. ३४३

१. देखिए पृष्ठ ४४, पा० टि० १

२. **अंगीकरोति यः काव्यं** . (देखिए पृष्ठ ४४, पा० टि० १)

३. अर्थात्, हे सखि! इस कर्पूर को हटा दो, हार को भी दूर रखो। कमलों से क्या लाभ? बिसों को भी रहने दो। [इनसे मेरा विरह-सन्ताप दूर नहीं होगा।] वह वियोगिनी बाला रात-दिन यही कहती रहती है।

इस पद्य में रकार (कोमल वर्ण) की आवृत्ति से जन्य अनुप्रास नामक शब्दालंकार विप्रलम्भ शृंगार रस का उत्कर्षक है।

इदं किल व्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥[1]
—अभि० शा० १. १७

कालिदास के इस पद्य में कवि-जन्य उत्प्रेक्षा शकुन्तला के रूप-सौन्दर्य की अभिवृद्धि में सहायक बन रही है। इसी प्रकार—

मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरतम्।
प्रमाथी निर्धूमं ज्वलति विद्युतः पावक इव॥
हिनस्ति प्रत्यंगं ज्वर इ गरीयानित इतो।
न मां त्रातुं तातः प्रभवति, न चाम्बा न भवती ॥[2] का० प्र० ८. ३४४

इस पद्य में मालोपमा नामक अर्थालंकार विप्रलम्भ शृंगार रस का उपकारक है।

इस सम्बन्ध में कतिपय अन्य उदाहरण हिन्दी-साहित्य से लीजिए—

सखी बोली—ये तुमने अपने नेत्र कैसे लड़ाके बना लिये हैं कि उधर बेचारा कृष्ण बेहाल पड़ा है—कहीं मुरली पड़ी है, कहीं पीत पट पड़े हैं, तो कहीं मुकुट, और कहीं बनमाला पड़ी है—

कहा लड़ैते दृग करे परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट कहुँ मुकुट बनमाल ॥ बिहारी-सतसई

कृष्ण गोपिका के नेत्रों से आहत विरही के रूप में छटपटा रहा है—यह व्यंग्यार्थ 'व्याजनिन्दा' अलंकार के माध्यम से और भी अधिक चमत्कृत हो उठा है। नेत्रों को 'लड़ाके' कहना निन्दा है, पर बिहारी कवि को वस्तुतः उनकी स्तुति करना अभीष्ट कि ये अति सुन्दर हैं।

---

१. इस रूपमती के सहज मनोहर कोमल वपु को,
है जो चाहता तप के योग्य बनाना।
धारा से वह नील कमल के मृदु पल्लव की।
चाहता मानो शमीवृक्ष की शाखा को कटवाना ॥ (हिन्दी-रूपान्तर)

२. हे सखि ! [आज माधव के प्रति] मेरा अनुराग तीव्र विष के समान निरन्तर बढ़ता जा रहा है। अत्यन्त सन्तापकारक यह अनुराग हवा की हुई आग के समान बिना धुएं के जल रहा है, और तेज़ ज्वर के समान सारे अंगों को पीड़ित कर रहा है। इसलिए न मेरा पिता, न मेरी माता और न आप ही इससे मेरी रक्षा कर सकते हैं।

अमी हलाहल मदभरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार ॥

नायिका के नेत्र अमृत, विष और सुरा से भरे हैं। तभी तो ये श्वेत, श्याम और रक्ताभ हैं, और तभी इन्हें एक बार देखने वाले जीते, मरते और गिरते-पड़ते हैं। नेत्रों का अद्भुत सौन्दर्य-वर्णन कवि को यहां अभीष्ट है, और यथासंख्य अलंकार का चमत्कार उसमें किंचित् और वृद्धि कर रहा है।

इसी प्रकार—

अलकें खुली हुई रेशम की, नयनों में चित्रों की माया,
प्राणों में मधु-पलक छके, अधरों पर मधु-आसव की छाया।
सौरभ-स्रस्त वसन आकुल है, केशर-अंग चमकते सुन्दर,
नील यवनिका हटा गगन की चली आ रही लज्जा मंथर ॥

—वसन्तश्री (नगेन्द्र)

वसन्त-शोभा के उक्त वर्णन में रूपक, उत्प्रेक्षा तथा रूपकातिशोक्ति अलंकार वर्ण्यविषय—शृंगार रस के अन्तर्गत उद्दीपनविभाव के—उपकारक हैं। कवि की विवक्षा वसन्तश्री का वर्णन करना है, न कि अलंकारों का चमत्कार दिखाना।

अव दूसरे प्रकार को लीजिए, जहाँ अलंकार स्फुट रूप में विद्यमान नहीं रहता। स्पष्ट है कि ऐसे उदाहरण वहुत कम मिलेंगे। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा इसका मुझको दुःख नहीं।
जिसके तुम हो एक सहारा वही न भूला जाय कहीं ॥ (प्रसाद)

इस पद्य में किसी अलंकार के स्फुट रूप में विद्यमान न रहने पर भी 'प्रेम की उत्कटता'-रूप व्यंग्य काव्य-चमत्कार का द्योतक है। यों, इस पद्य में 'तुम्हारा', 'सहारा' तथा 'नहीं', 'कहीं' तुकों के वल पर अनुप्रास अलंकार ढूंढा जा सकता है, पर वह उक्त चमत्कार में सहायक नहीं है। इसके अतिरिक्त इस पद्य में विभावना, विशेषोक्ति, विषम और विरोध जैसे अलंकारों की कल्पना भी की जा सकती है, जो कि यहां स्फुट रूप से विद्यमान नहीं हैं।

अव तीसरे प्रकार को लीजिए। निम्नोक्त पद्यों में केवल अलंकार के वल पर व्यंग्यार्थ अथवा काव्य-चमत्कार का उद्वोध होता है। ऐसे स्थलों में कवि की विवक्षा मूलतः किसी अलंकार—विशेष में ही रहती है। यहां उल्लेख है कि ऐसे स्थलों में व्यंग्यार्थ अलंकार-चमत्कार के कारण अस्फुट वनकर रह जाता है, और निम्नोक्त

प्रकार के उदाहरण ही काव्य के तीसरे भेद 'चित्र-काव्य' के अन्तर्गत आते हैं। कतिपय उदाहरण लीजिए—

प्रति-पल-परिवर्तित व्यूह,—भेद-कौशल-समूह,—
राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह,—क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरित-वह्नि—राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण,
लोहित-लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,

—राम की शक्तिपूजा (निराला)

इस पद्य में कवि की विवक्षा अनुप्रासालंकार-जन्य चमत्कार-द्योतन में ही अधिक है। अतः यह शब्दचित्र (शब्दालंकार) का उदाहरण है।

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससम्भ्रमैन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती ॥ का० प्र० १.५

[अर्थात्, हयग्रीव के निकलने की खबर सुनकर इन्द्र ने [अमरावती नगरी] की अर्गला वन्द कर ली, मानो अमरावती [नगरी-रूपी नायिका] ने डर के मारे आंखें वन्द कर ली हों।]

इस पद्य में उत्प्रेक्षालंकार से जन्य वाच्यार्थ ही प्रधान है, हयग्रीव की वीरता का द्योतक व्यंग्य अस्फुट (नगण्य) मात्र रह गया है।

इसी प्रकार निम्नोक्त पद्य में कवि तुलसीदास की विवक्षा रूपक अलंकार के चमत्कार में ही अधिक है, व्यंग्यार्थ—राम की लोक-प्रियता—रूपक के माध्यम से व्यंजित हो रहा है, तथा अलंकार के चमत्काराधिक्य के कारण यह अस्फुट बनकर रह गया है—

उदित उदयगिरि मंच पर रघुवर बाल पतंग।
विकसे सन्त सरोज सब हरषे लोचन भृंग ॥ (तुलसी)

इसी प्रकार निम्नोक्त पद्य में केवल भ्रान्तिमान् (भ्रम) अलंकार के कारण ही काव्यत्व की स्वीकृति की जा सकती है, और उससे नायिका का आभूषण-सौन्दर्य व्यंजित होता है—

नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाडिम का समझ कर भ्रान्ति से।
देख उसको हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है ॥ (साकेत)

अब अर्थालंकार का एक अन्य उदाहरण लीजिए, जहां वह प्रकृत रस का उपकार नहीं करता—

मित्रे क्वापि गते सरोरूहवने बद्धानने ताम्यति ।
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु वीक्ष्य दयितासन्नं पुरः सारसम् ॥
चक्राह्वेन वियोगिना बिसलता नास्वादिता नोज्झिता ।
कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः॥[1] का० प्र० ८.३४६

इस पद्य में बिसलता (मृणालदण्ड) को अर्गला के समान प्रस्तुत करने के कारण उपमा नामक अर्थालंकार है, किन्तु इससे प्रकृत रस—विप्रलम्भ शृंगार रस—का उत्कर्ष अथवा उपकार नहीं होता है, क्योंकि वियोगी प्राणी की एक स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह प्राणों का परित्याग करे, न कि उन्हें रोके, किन्तु यहां बिसलता रूपी अर्गला के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि उसके द्वारा चक्रवाक अपने प्राणों को अन्दर ही अन्दर रोकना चाहता है। स्पष्टतः, यह स्थिति विप्रलम्भ शृंगार के अनुरूप नहीं है। अतः यहां उपमा नामक अर्थालंकार प्रकृत अथवा उपकारक न होकर उसका अपकर्षक है।

इस प्रकार, अलंकार कभी स्फुट रूप में सहायक बनकर काव्य-चमत्कार में वृद्धि करता है, जैसे प्रथम वर्ग के उदाहरणों में, और कभी अस्फुट रूप में विद्यमान रहकर, जैसे द्वितीय वर्ग के उदाहरणों में। किन्तु कभी प्रमुखतः अलंकार (अथवा केवल गुण) ही काव्य-चमत्कार का कारण बनता है, जैसे तृतीय वर्ग के उदाहरणों में। 'चित्रकाव्य' इन्हीं स्थलों में स्वीकृत रहता है। निष्कर्ष यह है कि जहां किसी अन्य काव्य-तत्त्व के कारण काव्यत्व हो, अथवा इसका चमत्कार इतर काव्य-तत्त्वों से उत्पन्न चमत्कार को आच्छादित कर दे तो वहां चित्रकाव्य की स्वीकृति होती है। साथ ही, यहां यह भी ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त प्रत्येक स्थिति में ध्वनि (व्यंग्यार्थ) का कोई न कोई भेद, किसी न किसी रूप में— स्फुट, अस्फुट अथवा गौण रूप में—अवश्य विद्यमान रहेगा।

अन्ततः विचारणीय प्रश्न यह है कि काव्य में अलंकार का प्रयोग कैसा होना चाहिए ? इस संबंध में एक शब्द में उत्तर है कि 'औचित्यपूर्ण'—

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणै ।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥

---

१. वियोगी चक्रवाक ने, सूर्यास्त के समय कमलों के बन्द हो जाने पर, सन्तप्त भ्रमरों के रोना आरम्भ करने पर, जब सारस को अपनी प्रियतमा के पास खड़ा देखा, तो [खाने के लिए मुख में पकड़ी हुई] बिसलता न तो खायी, और न छोड़ दी, किन्तु उसे अपने कण्ठ-द्वार में अर्गला के समान लगा दी, जिससे उस से बाहर निकलते हुए प्राण अन्दर ही अन्दर रोके जा सकें।

इस सम्बन्ध में निम्नोक्त तथ्य विचारणीय हैं—

१. काव्य सरस होना चाहिए । नीरस काव्य में अलंकारों का प्रयोग केवल उक्ति-वैचित्र्यमात्र है, एक कौतुहलमात्र है—ठीक उसी प्रकार जैसे किसी शब्द अथवा गलित-यौवना नारी अथवा वैराग्यवान् यति के शरीर को आभूपणों से सज्जित करने का प्रयास करना ।[1]

२ सरस काव्य में अलंकारों का प्रयोग औचित्यपूर्ण होना चाहिए । सजीव, स्वस्थ, सुन्दर शरीर पर भी आभूपणों का प्रयोग औचित्य की अपेक्षा रखता है—अंजन की कालिमा बड़ी-बड़ी आँखों में ही शोभा देती है, मुक्ताहार उन्नत एवं पीन पयोधरों पर ही शोभित होता है, अन्यत्र नहीं ।[2] इसी प्रकार वीर और रौद्र रसों में यमक अलंकार का निवन्धन इन रसों का तो उपकार करता है, पर विप्रलम्भ शृंगार में यह निवन्धन भला कहां शोभा देगा ?[3] यह तो इस प्रकार हास्यास्पद लगता है जैसे हाथों में नूपुरों का और चरणों में केयूरों का वन्धन ।[4]

इस प्रकार लौकिक आभूपणों के समान काव्यगत अलंकारों के भी औचित्यपूर्ण प्रयोग पर वल दिया गया है ।[5] सत्य तो यह है कि काव्यगत सौन्दर्य शारीरिक सौन्दर्य की अपेक्षा कहीं अधिक संवेदनशील है । उदाहरणार्थ, रकार का अनुप्रास विप्रलम्भ शृंगार के एक उदाहरण में रस का उपकार करता है तो टकार का अनुप्रास उसी रस के दूसरे उदाहरण में रस का उपकार नहीं करता ।[6] तभी मम्मट को अलंकारों के सम्बन्ध में लिखना पड़ा कि कहीं वे रस का उपकार नहीं भी करते । स्पष्ट है कि एक ही रस के दो उदाहरणों में कोमल वर्ण 'रकार' और कठोर वर्ण 'टकार' की क्रमशः सह्यता और असह्यता का उत्तरदायित्व औचित्य के ही सद्भाव अथवा अभाव पर आधारित है ।

---

१. (क) तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात् । यति-शरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलंकार्यस्याऽनौचित्यात् ।
(ख) का० सू० वृ० ३.२.२ (पद्य)

२. दीर्घापांगं नयनयुगलं भूषयत्यञ्जनश्री-
स्तुंगाभोगौ प्रभवति कुचावर्चितुं हारयष्टिः ।

३. ध्वन्यालोक २.१५

४. औचित्यविचारचर्चा, पृष्ठ १

५. उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः । वही, पृष्ठ ६

६. देखिए मम्मट द्वारा उद्धृत दोनों उदाहरण—
(क) अपसारय घनसारम्.......... ।
(ख) चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि............. । काव्यप्रकाश ८ म उ०

(३) अलंकार का प्रयोग सायास नहीं होना चाहिए । वस्तुतः, अलंकार का स्वस्थ प्रयोग कवि के आयास पर निर्भर है भी नहीं, ये तो रस में दत्तचित प्रतिभावान् कवि के सामने, मानो हाथ जोड़े, किसी प्रकार के आयास के बिना, एक के बाद एक, स्वतः ही चले आते हैं,[१] और रसानुकूल रूप में समाविष्ट होकर स्वयं कवि को भी आश्चर्य-चकित कर देते हैं । किन्तु जहाँ कोई कवि इनका प्रयोग सायास करता है तो वहां अलंकार का अनभीष्ट प्रवेश, न केवल वर्ण्य विषय को, अपितु काव्याह्लाद को भी आच्छादित कर देता है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशवदास का ग्रन्थ 'रामचन्द्रिका' इस तथ्य का सबल प्रमाण है ।

× × ×

वस्तुतः, संस्कृत का काव्यशास्त्री शब्दालंकारों के प्रयोग के अनौचित्य के विषय में अपेक्षाकृत अधिक आशंकित रहा है । यही कारण है कि दण्डी जैसे अलंकारवादी ने भी अनुप्रास और यमक के प्रति अवहेलना प्रकट की है[२], और रुद्रट जैसे अलंकार-प्रिय आचार्य ने अनुप्रास अलंकार की स्वसम्मत मधुरा आदि पांच वृत्तियों के औचित्यपूर्ण प्रयोग पर विशेष बल दिया है ।[३] आनन्दवर्धन ने अनुप्रास-बन्ध के विषय में एक चेतावनी दी है—शृंगार के सभी प्रभेदों में अनुप्रास का बन्ध सदा एक-सा अभिव्यंजक नहीं हुआ करता । अतः कवि को इस अलंकार के औचित्यपूर्ण प्रयोग के लिए विशेष सावधानी बरतनी चाहिए । शृंगार, विशेषतः विप्रलम्भ शृंगार, में यमक [शब्दश्लेष, चित्र आदि] का प्रयोग कवि के प्रमाद सूचक है ।[४] कुन्तक अनुप्रासमयी रचना की अतिनिबद्धता (संकुलतापूर्ण बद्धता) के पक्ष में नहीं है; और यदि ऐसी रचना हो भी जाए; तो उनके कथनानुसार उसे असुकुमार नहीं बनाना चाहिए ।[५]

---

१. अलंकरणान्तराणि × × × रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति । —ध्वन्यालोक २.१६ (वृत्ति)

२. काव्यादर्श १.४३, ४४, ६१

३. एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य यथार्थसंस्थम् ।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्याः मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः ।। का० अ० २.३२

४. (क) शृंगारस्यांगिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ।। ध्वन्या० २.१४
(ख) ध्वन्यात्मभूतशृंगारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ।। ध्वन्या० २.१५

५. नातिनिबन्धविहिता, नाप्यपेशलभूषिता । व० जी २.४

भट्ट लोल्लट के मत में यमक आदि शब्दालंकार रस के अति विरोधी हैं। इनका प्रयोग कवि के अभिमान का सूचक है, अथवा भेड़चाल के समान है।[1]

हमने देखा कि शब्दालंकारों के औचित्य को समझते-समझाते संस्कृत का आचार्य कहीं-कहीं उनका तीव्र विरोध अथवा निषेध तक कर बैठा है। पर अर्थालंकारों के प्रयोग का निषेध वह किसी अवस्था में करने को उद्यत नहीं है। हाँ, वह इन्हें स्वस्थ रूप में अवश्य देखना चाहता है। अलंकार का स्वस्थ रूप है—रस, भाव आदि का अंग बन कर रहना।[2] उसे यह रूप देने के लिए एक प्रबुद्ध कवि को विशेष प्रकार के समीक्षण की सदा अपेक्षा रखनी पड़ेगी। निष्कर्ष यह है कि अर्थालंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग की कसौटी है—बिना आयास किये रसानुकूलता की प्राप्ति,[3] और शब्दालंकारों का भी रसोपयोगी बनकर, आयास किये बिना, रचना में स्वतः समावेश यदि सम्भव होता, तो संस्कृत के आचार्यों ने अर्थालंकारों के समान इन्हें भी निश्चित ही समान-महत्त्व दे दिया होता। अस्तु!

काव्य में अलंकारों (विशेषतः अर्थालंकारों) के औचित्यपूर्ण निर्वहण के लिए आनन्दवर्धन ने निम्नोक्त साधनों का निर्देश किया है[4]—

१. काव्य में रस ही अंगी होता है, अतः रूपक आदि अलंकारों को उसके अंग रूप में ही प्रयुक्त करना चाहिए।

२. अलंकार की अंगी रूप में विवक्षा कभी नहीं करनी चाहिए।

३,४. अलंकारों का अवसर पर ग्रहण करना, और अवसर पर ही इनका त्याग कर देना चाहिए।

---

१. यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदोऽतिरसविरोधिन्यः।
अभिमानमात्रमेतद् गड्डरिकादिप्रवाहो वा॥
—का० अनु० (हेमचन्द्र), पृष्ठ २५७

२. रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्॥ ध्वन्या० ३.४३ वृत्ति

३. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धश्शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ ध्वन्या० २.१६

४. विवक्षा तत्परत्वेन नांगित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता॥
निर्व्यूढापि चांगत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलंकारवर्गस्यांगत्वसाधनम्॥ ध्वन्यालोक २.१८,१६,

५. अलंकार-प्रयोग का आरम्भ करके उसे अन्त तक निभाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए ।

६. यदि अनायास आद्यन्त निर्वाह हो भी जाए तो उसे अंग रूप में रस का पोषक बनाने का यत्न करना चाहिए ।

उक्त साधनों में से प्रथम दो तो एक ही हैं । पाँचवें का तीसरे और चौथे साधन में तथा छठे का पहले साधन में अन्तर्भाव हो सकता है । इन सबका कुल मिलाकर उद्देश्य यह है कि रचना में अलंकारों को रस के अंग-रूप में ही स्थान दिया जाए, प्रधान-रूप से कभी नहीं । और ऐसा करने के लिए कवि एक विशिष्ट प्रकार की समीक्षण-बुद्धि से काम ले, तभी रूपक आदि [अर्थालंकार] अपनी यथार्थता को प्राप्त कर सकेंगे—

ध्वन्यात्मभूतशृंगारे समीक्ष्य विनिवेशतः ।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम् ।। ध्वन्या० २.१७

निष्कर्ष यह है कि अलंकार की सार्थकता इसी में है कि वह एक अनायास साधन के रूप में रस (काव्यानन्द) का उत्कर्ष करे, न कि स्वयं रस को आच्छादित करके कवि की चमत्कार-प्रियता का परिचय देने लगे ।

० ० ०

५.

रीति-सिद्धान्त

वामन-सम्मत रीति और गुण

रीति-सिद्धान्त के प्रवर्तक वामन के अनुसार रीति का लक्षण है—**विशिष्टा पदरचना रीतिः**, और उसमें यह विशेषता गुणों के समावेश के कारण आती है—**विशेषो गुणात्मा**। उनके अनुसार गुण कहते हैं काव्य के शोभाकारक धर्म को,[1] जो कि शब्दगत भी हैं और अर्थगत भी। इनकी संख्या दस-दस है, और काव्य कहते हैं—गुण और अलंकार से संस्कृत शब्दार्थ को, यों गौण रूप से भले ही शब्दार्थ को काव्य कह दिया जाए।[2]

रीतियाँ तीन हैं—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली। वैदर्भी में सभी गुण रहते हैं—दस शब्दगुण और दस अर्थगुण, अथवा केवल दस शब्दगुण अथवा केवल दस अर्थगुण। गौडीया में दो गुण रहते हैं—ओज और कान्ति, और पांचाली में भी दो गुण—माधुर्य और सौकुमार्य। जिस प्रकार चित्र में रेखाओं का समन्वय होता है, उसी प्रकार ये रीतियाँ भी अपने-अपने काव्य-गुणों का समन्वय ही हैं।[3] इनमें से वैदर्भी सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें सभी गुण विद्यमान रहते हैं। वामन-सम्मत वैदर्भी रीति सदा असमस्तपदा तो नहीं होती, पर हाँ, जब वह समास-रहिता होती है तो उसे शुद्धा वैदर्भी कहा जाता है। समास-प्रयोग के आधार पर वैदर्भी को असमस्त-पदा अथवा समास-रहिता कहा गया है, गौडीया को उद्भटपदा तथा समासबहुला, और पांचाली को कोमलपदा।[4]

वामन के रीति-सिद्धान्त पर प्रकाश डालने से पूर्व यहां वामन-सम्मत शब्द-गुणों और अर्थ-गुणों का स्वरूप प्रतिपादित करना अपेक्षित है[5]—

---

१. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। का० सू० वृ० ३.१.१

२. काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते। का० सू० वृ० १.१.१ (वृत्ति)

३. एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति।
—का० सू० वृ० १. २.१३ (वृत्ति)

४. वामन-सम्मत रीतियों के स्वरूप के लिए देखिए आगे पृष्ठ ५६-६३

५. विस्तार-भय से यहां इनके उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये जा रहे।

[क] शब्दगुण

(१,२) **ओज** बन्ध (रचना) की गाढ़ता को कहते हैं—**गाढबन्धत्वमोजः**, और **प्रसाद** बन्ध की शिथिलता को—**शैथिल्यं प्रसादः**।

(३) **श्लेष** मसृणता का नाम है—**मसृणत्वं श्लेषः**। बहुत से पदों का एक पद के समान भासित होना मसृणता कहाता है।

(४) **समता** मार्ग का अभेद है—**मार्गाभेदः समता**, अर्थात् जिस शैली से काव्य-रचना का आरम्भ किया जाए, अन्त तक उसका त्याग न करना।

(५) **समाधि** आरोह-अवरोह (उतार-चढ़ाव) के क्रम को कहते हैं—**आरोहाऽवरोहक्रमः समाधिः**, जहां आरोह के बाद अवरोह, और अवरोह के बाद आरोह का क्रम निभाया गया हो।

(६) **माधुर्य** वहां होता है जहां पदों को पृथक्-पृथक् रखा गया हो—**पृथक्-पदत्वं माधुर्यम्**।

(७,८) **सुकुमारता** बन्ध की अकठोरता (अपरुषता) को कहते हैं—**अजरठत्वं सौकुमार्यम्**, और **उदारता** बन्ध की विकटता को कहते हैं—**विकटत्वमुदारता**। विकटता से अभिप्राय है—पदों का नृत्य करते प्रतीत होना।

(९,१०) **अर्थव्यक्ति** गुण वर्ण्य विषय की स्पष्टता का नाम है—**अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः**, और **कान्ति** बन्ध की उज्ज्वलता को कहते हैं—**औज्ज्वल्यं कान्तिः**।

इसी प्रसंग में यह उल्लेख्य है कि वामन ने शब्दगत गुणों को केवल पाठ का धर्म नहीं माना, क्योंकि वे सर्वत्र ऐसे नहीं दिखायी देते—**न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः**।[1] इसका आशय यह है कि किसी रचना में यदि समाधि गुण न हो, किन्तु फिर भी, यदि कोई पाठक उसे आरोह-अवरोह (उतार-चढ़ाव) के क्रम से पढ़ने लगे तो वहां समाधि गुण नहीं माना जाएगा। जहां उतार-चढ़ाव वास्तव में हो, वहीं यह गुण माना जाएगा। इसी प्रकार अन्य गुणों के विषय में भी यही स्थिति है।

[ख] अर्थगुण

(१) **ओज** अर्थ की प्रौढ़ता है—**अर्थस्य प्रौढिरोजः**।

(२) **प्रसाद** अर्थ की विमलता को कहते हैं—**अर्थवैमल्यं प्रसादः**।

(३) **श्लेष** कहते हैं घटना को—**घटना श्लेषः**। यहां घटना से तात्पर्य है—निम्नोक्त चार तत्त्वों की श्लिष्टता अथवा योग—(क) अनेक क्रिया-परम्परा, (ख) विदग्धचेष्टा, (ग) प्रसिद्ध वर्णनशैली, और (घ) युक्तिविन्यास।

(४) **समता** कहते हैं अविषमता को—**अवैषम्यं समता**। समता दो प्रकार की होती है—क्रम का न टूटना तथा सुगमतापूर्वक अर्थ का समझ में आना।

---

१. का० सू० वृ० ३.१.२८

(५) **समाधि** से अभिप्राय है अर्थदृष्टि (अर्थचमत्कार)—**अर्थदृष्टिः समाधिः।** इसके दो रूप हैं—(क) कवि की नवीन उद्भावना पर आश्रित, (ख) अन्य कवियों की उद्भावना पर आश्रित। ये दोनों रूप स्फुट भी होते हैं और अस्फुट भी।

(६) **माधुर्य** उक्ति के वैचित्र्य का नाम है—**उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्।**

(७) **सुकुमारता** कठोरता का अभाव है—**अपारुष्यं सौकुमार्यम्।**

(८) **उदारता** ग्राम्यता के अभाव को कहते हैं—**अग्राम्यत्वमुदारता।**

(९) **अर्थव्यक्ति** कहते हैं वर्णनीय पदार्थों के स्वभाव की स्पष्टता को—**वस्तु-स्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः।**

(१०) **कान्ति** गुण वहां होता है जहां शृंगार आदि रस दीप्त हों—**दीप्तरसत्वं कान्तिः।**[१]

वामन-सम्मत रीतियों का स्वरूप

१. वैदर्भी—वैदर्भी रीति दस गुणों (दस शब्दगुणों अथवा दस अर्थगुणों अथवा दस शब्द गुणों और दस अर्थगुणों) से युक्त होती है। इसके विपरीत शेष दो रीतियां —गौडीया और पांचाली—दो-दो गुणों से युक्त होती हैं।[२] इसी आधार पर वामन ने वैदर्भी को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है। यह रीति दोष से नितान्त अस्पृष्ट, सर्वगुण-गुम्फित और वीणा-स्वर के समान सुन्दर रचना होती है। यह वाणी-रूपी मधु रस का स्रोत है। सहृदय में अमृत की वर्षा करती है। इसमें वर्णित वर्ण्य विषय अति आनन्ददायक बन जाता है। यहां तक कि थोड़ा सा भी वर्ण्य विषय इसी रीति के सम्पर्क से आस्वादनीय बन जाता है। वैदर्भी रीति सदा असमस्तपदा तो नहीं हो सकती, पर हां, जब वह समास-रहिता होगी तो उसे शुद्ध वैदर्भी कहा जाएगा।[३]

---

१. वामन-सम्मत गुणों का खण्डन—देखिए आगे पृष्ठ ६४-६६

२. इस धारणा पर टिप्पणी के लिए देखिए पृष्ठ ६७,६८

३. **'समग्रगुणा वैदर्भी,' 'तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात्,'**
'न पुनरितरे स्तोक-गुणत्वात्,' 'साऽपि समासाभावे शुद्धवैदर्भी,'
'तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या,' 'तदुपरोहार्थगुणलेशोऽपि'।

—का० सू० वृ० १. २.११, १४ १५, १९, २०, २१

—अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
—विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते॥
—सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न येन विना परिस्रवति वाङ्मधु॥
—आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता।
चेतः सताममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा॥

—का० सू० वृ० १.२.११ (वृत्ति)

उदाहरण लीजिए—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृंगैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विस्रब्धं कुरुतां वराहवितति र्मुस्ताक्षतिं पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥

—का० सू० वृ० १.२. ११ (अभिज्ञान० २.६.)

[सींगों से ताडित, पोखर-जल में भैंसे करें अवगाहन,
मृगकुल भी यह छाया में बैठा, करता रहे जुगाली ।
लघु तालों में ये शूकर खोदें, जड़ें मोथा की निर्भय होकर,
और यह धनु भी मेरा, ले विश्रान्ति ढीली प्रत्यञ्चा करके ॥]

—हिन्दी-रूपान्तर

उक्त श्लोक में दस शब्द-गुणों का सद्भाव टीकाकारों द्वारा इस प्रकार स्वीकार किया गया है—

(१) 'छायाबद्धकदम्बकम्' और 'शिथिलज्याबन्धम्' इन पदों में बन्ध के विकट होने से **ओज** गुण ।

(२) 'छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलम्' में बन्ध के गाढत्व और शैथिल्य के कारण **प्रसाद** गुण ।

(३) 'महिषा निपानसलिलम्' में कोमल रचना के कारण **श्लेष** गुण ।

(४) 'गाहन्तां महिषाः·····' इस पद्य में जिस मार्ग (शैली) से प्रारम्भ हुआ है, उसी मार्ग (शैली) से पद्य की समाप्ति भी हुई है, अतः **समता** गुण ।

(५) 'गाहन्ताम्' में आरोह, और 'महिषाः' में अवरोह होने से **समाधि** गुण ।

(६) 'शृंगैर्मुहुस्ताडितम्' में पृथक्-पदता के कारण **माधुर्य** गुण ।

(७) 'रोमन्थमभ्यस्यतु' में कोमल बन्ध के कारण **सौकुमार्य** गुण ।

(८) शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः' में बन्ध की विकटता के कारण **उदारता** गुण ।

(९) इस पद्य में पदों के उज्ज्वल होने से **कान्ति** गुण, और

(१०) पदों के स्पष्टार्थक होने के कारण **अर्थव्यक्ति** गुण ।

इस प्रकार दस शब्द-गुणों की विद्यमानता के कारण उक्त पद्य में वैदर्भी रीति है ।

२. **गौडीया**—गौडीया रीति ओज और कान्ति गुणों से युक्त होती है। इस रीति में माधुर्य और सौकुमार्य गुणों के अभाव के कारण इसे अत्युल्बणपदा अर्थात् उद्भटपदा और समास-बहुला माना गया है।[1] उदाहरण लीजिए—

> दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभंगोद्यत-
> ष्टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः।
> द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
> भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति॥

—का० सू० वृ० १.२.१२ (महावीरचरित १.१४)

[श्रीरामचन्द्र ने शिव-धनुष तोड़ा तो उसकी भयकर टंकार सर्वत्र गूंज उठी, तभी लक्ष्मण बोल उठे—धनुष की यह टंकार-ध्वनि अब भी शान्त नहीं हो रही। यह ध्वनि राम द्वारा हाथ में उठाये हुए शिवजी के धनुष के दण्ड के टूटने से उत्पन्न हुई है, यह ध्वनि राम के बालचरित्र-रूप—उनके भावी जीवन की—प्रस्तावना की उद्-घोषक है, तथा यह ध्वनि एकदम काँप उठे—पृथ्वी और आकाश रूप—कपाल-संपुटों में ब्रह्माण्ड-रूप भाण्ड के भीतर घूमने के कारण और भी अधिक भयंकरता को प्राप्त होकर अब तक भी शान्त नहीं हुई।]

टीकाकारों के अनुसार उक्त पद्य में बन्ध की गाढ़ता के कारण शब्दगत 'ओज', और पदों की उज्ज्वलता के कारण शब्दगत 'कान्ति' ये दो गुण स्पष्ट हैं। अतः यहाँ गौडीया रीति है।

३. **पांचाली**—पांचाली रीति माधुर्य और सौकुमार्य गुणों से युक्त होती है। इस रीति में ओज और कान्ति गुणों के अभाव के कारण इसे क्रमशः 'अनुल्बण-पदा' अर्थात् कोमलपदा और 'विच्छाया' अथवा निःसत्त्वा कहा गया है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि इस रीति में ओज गुण के अभाव के कारण इसके पद अनुल्बण (सुकुमार) होते हैं, और कान्ति गुण के अभाव के कारण इसके पद विच्छाय (कान्ति-विहीन)

---

१. 'ओजःकान्तिमती गौडीया'।
समस्ताऽत्युद्भटपदामोजःकान्तिगुणान्विताम्।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः॥
—का० सू० वृ० १.२.१२ तथा वृत्ति

२. 'माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली।'
अश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम्।
मधुरां सुकुमाराञ्च पाञ्चालीं कवयो विदुः॥
—का० सू० वृ० १.२.१३ तथा वृत्ति

होते हैं। उदाहरण लीजिए—

ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय नैव वसतिः पान्थाधुना दीयते,
रात्रावत्र विहारमण्डपतले पान्थः प्रसुप्तो युवा।
तेनोत्थाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत्कृतम्,
येनाद्यापि करंकदण्डपतनाशंकी जनस्तिष्ठति ॥

—का० सू० वृ० १.२. १३

[किसी पथिक द्वारा रात्रि के समय किसी ग्राम में ठहरने की अनुमति मांगने पर किसी गृहस्वामी का उत्तर—हे पथिक! इस ग्राम में अब पथिकों को स्थान नहीं नहीं दिया जाता, क्योंकि एक बार रात्रि में यहां बौद्ध मठ के मण्डप के नीचे सोते हुए एक नवयुवक पथिक ने मेघ के गर्जन पर अपनी प्रिया को स्मरण करके वह किया, अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो गया, कि जिसके कारण यहाँ के लोग उस पथिक के वध के दण्ड की आशंका से भयभीत हैं।]

टीकाकारों के अनुसार यहां शब्दगत माधुर्य और सौकुमार्य गुण स्पष्टतः लक्षित हो रहे हैं। अतः यहां पांचाली रीति है।

यहां यह उल्लेख्य है कि वामन ने **रीति को काव्य की आत्मा** माना है—**रीतिरात्मा काव्यस्य**। इसका स्पष्ट कारण यह है कि जिन दस शब्दगत और दस अर्थगत गुणों से रीति निर्मित होती है, उनमें काव्य के अधिकांश तत्त्व किसी-न-किसी रूप में अनुस्यूत हैं। उदाहरणार्थ—

१. अर्थगत कान्ति गुण में रस की स्पष्ट झलक मिलती है।

२. अर्थगत माधुर्य गुण उक्तिवैचित्र्य का सूचक है।

३. अर्थगत प्रसाद, और सुकुमार गुण अर्थ-सरलता के द्योतक हैं।

४. अर्थगत अर्थव्यक्ति गुण स्वभावोक्ति अलंकार के समकक्ष है।

५. शब्दगत श्लेष, ओज और उदारता गुणों का लक्ष्य है—समासबद्धता और गाढ़बद्धता।

६. शब्दगत समाधि गुण रचना के लय (उतार-चढ़ाव—जैसा कि शिखरिणी छन्द में होता है) को लक्षित करता है।

इसी प्रकार वामन-सम्मत गुणों में अन्य काव्यतत्त्व भी निहित हैं।[1] वामन-सम्मत रीति इन्हीं गुणों से समन्वित है, और इसी कारण उसका काव्य-फलक पर्याप्त विशद और व्यापक है—रस-जैसा विशिष्ट तत्त्व भी 'रीति' का ही एक अंग

---

१. इसी सम्बन्ध में आगे मम्मट का मन्तव्य भी देखिए, पृष्ठ ६६

मान लिया गया है ।[1] इसी व्यापकता के कारण वामन की 'रीति' काव्य की आत्मा मानी गयी है। किन्तु फिर भी, रीति को काव्य की आत्मा नहीं मानना चाहिए। कारण स्पष्ट है कि वामन के मत में रीति काव्य का अनिवार्य साधन होते हुए भी अधिकांशतः एक बाह्यपरक काव्य-तत्त्व है। वस्तुतः, काव्य की आत्मा वही काव्य-तत्त्व बन सकता है जो कि काव्य का अनिवार्य साधन तो हो ही, साथ ही वह नितान्त आन्तरिक भी हो।

रीति-सिद्धान्त का खण्डन

वामन के उपरान्त वामन-सम्मत रीति का किसी ने अनुमोदन एवं अनुकरण नहीं किया, तथा इसकी संवृद्धि में किसी प्रकार का योगदान नहीं दिया। वामन के दृष्टिकोण को समझने-समझाने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया गया, वल्कि इसके विपरीत वामन का उपहास तक किया गया। **आनन्दवर्धन** के शब्दों में—'ध्वनि जैसे अवर्णनीय काव्य-तत्त्व को समझ सकने में असमर्थ लोगों द्वारा काव्यशास्त्रीय जगत् में रीतियां चला दी गयीं'[2]। **कुन्तक** ने कुछ इस प्रकार के स्वर में कहा—'अजी हटाओ भी, कौन रीति-जैसी निःसार वस्तु के साथ अपना मग़ज़ खपाए'—**तदलमनेन निस्सार-वस्तु-परिमल-व्यसनेन** ।

मम्मट तथा विश्वनाथ द्वारा खण्डन

आगे चलकर काव्यप्रकाशकार **मम्मट** ने रीति को वृत्ति का पर्याय मानते हुए उद्भट के अनुरूप, इसे वृत्त्यनुप्रास नामक शब्दालंकार के अन्तर्गत निरूपित किया। वामन ने दस गुणों को 'रीति' पर आधारित किया था, किन्तु इधर मम्मट ने, तथा उनके अनुरूप विश्वनाथ ने भी, वामन-सम्मत दस गुणों का निर्ममता से खण्डन कर दिया,[3] और आनन्दवर्धन से प्रेरणा ग्रहण कर अब वैदर्भी, गौडी और पांचाली नामक तीन रीतियों को क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों की वर्णव्यंजकता पर आधारित कर दिया।[4]

इतना ही नहीं, वामन ने गुण के लक्षण में इसे 'काव्य का शोभाकर धर्म' मानते हुए इसे काव्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप स्वीकृत किया था, किन्तु मम्मट ने वामन-सम्मत गुण के लक्षण को अस्वीकृत करते हुए आनन्दवर्धन की मान्यताओं के अनुरूप

---

१. दीप्तरसत्वं कान्तिः। का० सू० वृ० ३.२.१५

२. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥ ध्वन्या. ३.४७

३,४. देखिए आगे पृष्ठ ६४-६६, ७०

गुण के लक्षण में इसे 'चित्तवृत्ति का पर्याय' माना, और प्रमुख रूप से इसे रस का नित्य धर्म माना और गौण रूप से शब्दार्थ (वर्ण, रचना आदि) का[1]—

वामन—काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।

मम्मट—(क) ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

—का० प्र० ८.३६

(ख) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।

—का० प्र० ८.७१

अब सर्वप्रथम वामन-सम्मत गुणों का खण्डन प्रस्तुत है। इसके बाद वामन-सम्मत रीति का खण्डन किया जाएगा।

वामन-प्रस्तुत शब्दगत और अर्थगत गुणों का खण्डन

वामन द्वारा प्रस्तुत गुणों का खण्डन मम्मट ने और उनके अनुकरण पर विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है[2]—

(क) शब्द-गुणों का खण्डन

१-५. **श्लेष, समाधि, उदारता और प्रसाद**—इन चारों गुणों का अन्तर्भाव वामन तथा मम्मट दोनों द्वारा सम्मत **'ओज गुण'** में किया जा सकता है, क्योंकि इन चारों के लक्षण[3] 'ओज' के लक्षण के ही आस-पास ठहरते हैं।

६. **माधुर्य** गुण का अन्तर्भाव मम्मट द्वारा सम्मत माधुर्य गुण में किया जा सकता है, क्योंकि वामन-सम्मत 'पृथक्पदत्वं माधुर्यम्' भी प्रकारान्तर से समास-राहित्य ही है, और इधर, मम्मट-सम्मत माधुर्य गुण की रचना अवृत्ति (समास-रहित) अथवा मध्यवृत्ति (मध्यम-समास-युक्त) मानी गयी है।[4]

७. **अर्थ-व्यक्ति** गुण को मम्मट-सम्मत प्रसाद गुण में गृहीत किया जा सकता है।

८. शब्दगत **समता** गुण कहीं दोष बन जाता है, अतः इसे गुण नहीं मानना चाहिए। जैसे, निम्नोक्त पद्य के तीसरे पाद में, जिसमें सिंह के तेजस्वी गर्जन का वर्णन किया गया है, पूर्ववर्ती कोमल मार्ग का परित्याग गुण हो गया है। यदि कोमल मार्ग का त्याग न करके वामन-सम्मत 'मार्गाभेद' का निर्वाह किया जाता, तो यहाँ

---

१. देखिए पृष्ठ ७३

२. (क) काव्यप्रकाश ८ म उ०, सूत्र ९६, ९७, तथा वृत्ति
(ख) साहित्यदर्पण ८ म परि० ९-१६ तथा वृत्ति

३. देखिए पृष्ठ ५८

'क्लिष्टत्व' दोष हो जाता—

> मातंगा किमु वल्गितैः किमफलैराडम्बरैर्जम्बुकाः,
> सारंगाः महिषा मदं व्रजथ किं शून्येषु शूरा न के।
> कोपाटोपसमुद्भटोत्कटसटाकोटेरिभारेः पुरः,
> सिन्धुध्वानिनि हुंकृते स्फुरति यत् तद् गर्जितं गर्जितम् ॥[1]
>
> —का० प्र० ७.३००

९-१०. परुषता के अभाव को **सौकुमार्य** गुण कहना, तथा उज्ज्वलता को **कान्ति** गुण कहना भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि, दुःश्रवत्व अथवा क्लिष्टत्व दोष के अभाव के फल-स्वरूप सौकुमार्य गुण स्वतः निष्पन्न हो जाता है, और ग्राम्यत्व दोष के फल-स्वरूप कान्ति गुण।

(ख) अर्थ-गुणों का खण्डन

१. जो प्रौढि **ओज** गुण मानी गयी है, वह केवल काव्य की विचित्रतामात्र है, गुण नहीं है, क्योंकि इसके बिना भी काव्य-व्यवहार हो सकता हैं। इसके अतिरिक्त साभिप्रायत्व रूप ओज का दूसरा रूप 'अपुष्टार्थत्व' नामक दोष के निराकरण द्वारा स्वीकृत किया जा सकता है।

२-५. इसी प्रकार **प्रसाद** गुण अधिकपदता दोप के, **माधुर्य** गुण अनवीकृतत्व दोप के, **सौकुमार्य** गुण अमंगल रूप अश्लील दोष के, और **उदारता** गुण ग्राम्यत्व दोष के निराकरण-स्वरूप स्वतः निष्पन्न माने जा सकते हैं। अतः इन्हें स्वतन्त्र गुण मानना समुचित नहीं है।

६,७. **अर्थव्यक्ति** गुण को स्वभावोक्ति अलंकार में, और **कान्ति** गुण को रसध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य में अन्तर्भूत माना जा सकता है।

८. **श्लेष** गुण, जिसमें क्रिया-परम्परा आदि चार तत्त्वों का योग माना गया है, वस्तुतः विचित्रतामात्र है। अतः इसे पृथक् गुण नहीं मानना चाहिए।

९. **समता** वस्तुतः अविपमता का अभाव होने के कारण दोषाभावमात्र है, यह कोई पृथक् गुण नहीं हैं। 'अविपमता' से तात्पर्य है—अन्य प्रकरण में अन्य को

---

१. [सिंह की अनुपस्थिति में] अरे हाथियो! चिंघाड़ने से क्या होता है? अरे शृगालो! व्यर्थ ढोंग करने से क्या लाभ? अरे मृगो और भैंसो! तुम क्यों मतवाले हो रहे हो—खाली मैदान में कौन शूर नहीं बन जाता? परन्तु क्रोध के आवेश में खड़े हुए भयंकर सटाओं के अग्रभागों से युक्त और समुद्र के समान दहाड़ते हुए सिंह का हुंकार होने पर भी जो गर्जन हो, वही 'गर्जन' कहाने योग्य है।

कहना। यह तो निःसदेह दोष है। इसे कौन बुद्धिमान् कवि अपने काव्य में लाना चाहेगा ? अतः इसके अभाव को गुण नहीं मानना चाहिए।

१०. समाधि गुण के दोनों रूपों 'अयोनि' और 'अन्यच्छायायोनि' में से कोई न कोई रूप तो काव्य में अनिवार्यतः रहेगा। इसके बिना तो काव्य की सत्ता ही स्वीकृत नहीं की जा सकती। अतः समाधि गुण को पृथक् नहीं मानना चाहिए।

इस प्रकार निष्कर्षतः, मम्मट ने वामन-सम्मत दस शब्दगुणों और दस अर्थ-गुणों की अस्वीकृति निम्नोक्त तीन रूपों में प्रस्तुत की है—

(क) कुछ गुण तो [मम्मट-सम्मत] माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं;

(ख) कुछ गुण दोषाभाव-रूप होते हैं; और

(ग) कुछ गुण 'गुण' न होकर कहीं दोष-रूप हो जाते हैं—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥ का० प्र० ८.७२

मम्मट द्वारा वामन-सम्मत गुणों के इस खण्डन से यह तथ्य तो स्पष्ट हो जाता है कि मम्मट ने यदि भरत, दण्डी अथवा किसी अन्य पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा प्रतिपादित गुणों का खण्डन न कर केवल वामन-प्रतिपादित गुणों का खण्डन किया है तो इसका एकमात्र कारण यह हो सकता है कि रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले तथा रीति को गुणों से ही निर्मित स्वीकार करने वाले वामन ही गुणों के सर्वाधिक पृष्ठ-पोषक थे। किन्तु मम्मट ने यदि आनन्दवर्धन के अनुरूप, जैसाकि हम आगे देखेंगे, केवल तीन गुण ही स्वीकार करने थे तो उन्हें भरत और दण्डी के भी गुण-निरूपण का खण्डन करना चाहिए था, विशेषतः उस स्थिति में जबकि भरत, दण्डी और वामन इन तीनों आचार्यों के गुण-निरूपण में प्रायः साम्य लक्षित नहीं होता। इस सम्बन्ध में एक तथ्य और—मम्मट-प्रतिपादित खण्डन को यदि विलोम रूप से, अर्थात् वामन की दृष्टि से, देखें तो यह स्पष्टतः लक्षित होता है कि वामन-सम्मत गुणों में अन्य अनेक काव्द-तत्त्वों का समावेश हो सकता था, और इसी आधार पर ही वामन को रीति को काव्य की आत्मा घोषित करना अभीष्ट था।

अस्तु ! इस प्रकार वामन-सम्मत गुणों के खण्डन के द्वारा मम्मट ने रीति-सिद्धान्त पर कठोर कुठाराघात तो किया ही है, साथ ही मम्मट द्वारा वामन-सम्मत रीति के खण्डन-प्रसंग में निम्नोक्त तथ्य भी अवलोकनीय हैं—

किं समस्तैर्गुणैः काव्यव्यवहारः, उत कतिपयैः ? यदि समस्तैः तत्कथमसमस्तगुणा गौडी पांचाली च रीतिः काव्यस्यात्मा। अथ कतिपयैः, ततः 'अद्रावत्र····' इत्यादौ-ओजःप्रभृतिषु गुणेषु सत्सु काव्यव्यवहारप्राप्तिः। का० प्र० ८.६७ (वृत्ति)

इस कथन का आशय इस प्रकार है—

वामन के अनुसार काव्य के शोभाकर गुणों के समन्वय का नाम रीति है, और यही रीति काव्य की आत्मा है। मम्मट पूछते हैं कि क्या समस्त गुणों के होने से कोई रचना काव्य कहाती है, अथवा कुछ गुणों के होने से? यदि प्रथम विकल्प माना जाए कि सभी गुणों के होने पर काव्य-व्यवहार होता है तो केवल मात्र 'समस्तगुणा' वैदर्भी रीति को ही रीति का भेद माना जाना चाहिए, और केवल इसे ही काव्य की आत्मा मानना चाहिए; गौडी और पांचाली नामक रीति-भेदों को—जिनमें केवल दो-दो गुण रहते हैं—रीति के भेद नहीं मानना चाहिए, और इन्हें काव्य की आत्मा भी नहीं मानना चाहिए। और यदि, दूसरा विकल्प स्वीकार किया जाए कि कुछ गुणों के होने भी काव्य-व्यवहार होता है, तो फिर, निम्नोक्त पंक्ति में ओज आदि कतिपय गुणों के होने पर इसे भी काव्य मान लिया जाएगा—

अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यनुल्लसत्येष धूमः।[1]

किन्तु वस्तुतः, इस स्थल को काव्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि इसमें किसी भी प्रकार के भाव का द्योतन नहीं होता—कोई लोक-कथन कोरे वाग्जाल से [अथवा पद्य-बद्ध हो जाने पर] काव्य नहीं बन जाता। अस्तु!

× × ×

किन्तु हमारे विचार में मम्मट की उक्त धारणा युक्ति-सगत नहीं है। वामन को स्पष्टतः मम्मट-प्रस्तुत दोनों विकल्प अभीष्ट हैं, तभी वैदर्भी सर्वगुण-सम्पन्ना है और शेष दोनों रीतियाँ दो-दो गुणों से सम्पन्न हैं। इसके अतिरिक्त मम्मट ने ओज गुण का स्वयं जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वह वामन की ओजगुण-विषयक धारणा के अनुकुल नहीं है। ओज गुण का वामन-प्रस्तुत उदाहरण है—'**विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्तयन्ति**', अर्थात् मकरन्द को कम्पित करते हुए [भ्रमर] मंजरियों को नचाते हैं। इस कथन से एक कोमल भावना का—नायक का नायिका के प्रति प्रणय के आवेश का—आभास मिलता है, किन्तु मम्मट-प्रस्तुत 'अद्रावत्र······' कथन तो केवल एक इतिवृत्त-मात्र है। हाँ, यदि मम्मट को वामन के सिद्धान्त का खण्डन करना था, तो निम्नोक्त आक्षेप हो सकते थे—

१. वामन ने वैदर्भी रीति में दस गुणों की स्थिति मानी है, किन्तु एक ही पद्य में दस शब्द-गुणों अथवा दस अर्थ-गुणों अथवा कुल बीस गुणों की एकत्र स्थिति सम्भव नहीं हो सकती। अतः वैदर्भी रीति की सत्ता या तो नहीं मानी जाएगी, और यदि मानी जाएगी तो वहां अत्यन्त खींचतान से काम लेना पड़ेगा। वामन-प्रस्तुत उदाहरण 'गाहन्तां महिषा···' इसका प्रमाण है,[2] जिसमें अधिक खींचतान

---

१. इस पर्वत पर ज़ोर से आग जल रही है, और यहां प्रचुर धुआं उठता हुआ दिखायी दे रहा है।

२. देखिए पृष्ठ ६०

करने पर भी शब्द-गुण ही हाथ लगे हैं, अर्थ-गुण नहीं। यों, कोई मनीषी टीकाकार इसी पद्य में अर्थ-गुण भी ढूंढ सकते हैं, किन्तु स्पष्ट है कि उन्हें पर्याप्त खींचतान से काम लेना पड़ेगा।

२. यदि ओज और कान्ति गुणों का समन्वित रूप गौडी है तथा माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का पांचाली, तो इनसे इतर दो-दो अथवा तीन-तीन अथवा चार-चार आदि गुणों के समन्वित रूपों में वामन के अनुसार क्या-क्या रीति-नाम दिये जाएंगे—इस पर वामन ने कोई प्रकाश नहीं डाला।[1] अतः उनका रीति-विषयक सिद्धान्त अपूर्ण है।

अस्तु, जो हो, मम्मट ने वामन के सिद्धान्त को समग्रतः ध्यान में रखे विना उक्त खण्डन प्रस्तुत किया है और रही-सही कसर विश्वनाथ ने पूरी कर दी—'रीति [पदों की] संघटना-मात्र है, जो कि [काव्य-पुरुष-रूपक में] केवल शरीर के अंगों की बनावट के समान है। अतः रीति को काव्य को आत्मा नहीं मान सकते, क्योंकि आत्मा शरीर से भिन्न होता है।'[2] उनके मत में 'रीति गुणों की वर्ण-व्यंजकता के माध्यम से शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर का उपकार करती हुई काव्य की आत्मा रस का प्रकारान्तर से उपकार कर देती है।[3]' इस प्रकार वामन का दृष्टिकोण समझे बिना रीति-सिद्धान्त का खण्डन किया जाता रहा है। वस्तुतः खण्डन उसकी मान्यता का ही करना समुचित था, न कि रीति का स्व-सम्मत लक्षण एवं स्वरूप प्रस्तुत करके।

हमारे विचार में वामन-सम्मत रीति में सबसे बड़ा शैथिल्य यह है कि इसका सर्वप्रमुख एवं सर्वश्रेष्ठ भेद 'वैदर्भी'[4] अपने-अपने आप में एक असम्भाव्य काव्य-तत्त्व

---

१. वामन के पश्चात् भोजराज द्वारा स्वीकृत लाटीया, आवन्तिका और मागधी रीतियों में तीन अथवा इससे अधिक गुणों को समन्वित माना गया है।

२. **यत्तु वामनेनोक्तम् 'रीतिरात्मा काव्यस्य' इति, तन्न। रीतेः संघटनाविशेषत्वात्। संघटनायाश्चाऽवयवसंस्थानरूपत्वात् आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात्।**
—साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद

३. देखिए पृष्ठ ६९ पा० टि० ३

४. किन्तु इधर, आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार भी वैदर्भी रीति की श्रेष्ठता एक अन्य रूप में घोषित की जा सकती है कि यह शृंगार, करुण जैसे सुकोमल रसों की बाह्य-रूपात्मिका है। (इसका लक्षण आगे देखिए, पृष्ठ ७०) वस्तुतः, वैदर्भी की सर्वश्रेष्ठता प्रायः प्रारम्भ से ही स्वीकृत की जाती रही है। दण्डी ने वैदर्भी मार्ग को गौड मार्ग की अपेक्षा उत्कृष्ट माना था। वामन ने इसे सर्वश्रेष्ठ माना ही। इसी प्रसंग में नैषधचरितकार श्री हर्ष का यह पद्यांश भी उल्लेख्य है, जिन्होंने श्लेष के माध्यम से वैदर्भी-रीति (पक्ष—दमयन्ती) का गुण-गान किया है—

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।

है, क्योंकि एक साथ दस शब्दगुणों अथवा दस अर्थ-गुणों अथवा बीसों गुणों का एकत्र सद्भाव एक काव्य-स्थल में नितान्त असम्भव है। इसके अतिरिक्त 'रीति' काव्य की आत्मा भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि 'आत्मा' से तात्पर्य है—काव्य का अनिवार्य आन्तरिक साधन; पर वामन की रीति एक ऐसा काव्य-साधन है, जो कि अधिकांशतः बाह्यपरक है। अस्तु ! फिर भी, रीति का निजी महत्त्व है—वामन ने इसके माध्यम से मानो काव्य के बाह्य एवं कलापक्ष का निर्देशन, यथेष्ट रूप से एवं मनोयोग के साथ, करने का सुप्रयास किया है।

'रीति' का अन्ततः मान्य स्वरूप

इस प्रकार परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि वामन-सम्मत रीति को तो स्वीकार नहीं किया, पर रीति को एक काव्य-तत्त्व के रूप में अवश्य स्वीकार किया जाता रहा। इन आचार्यों में आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ का प्रतिपादन अपेक्षाकृत अधिक उपादेय एवं ज्ञातव्य है, जिन्होंने रीति को नये सिरे से परिभाषित किया। अब इसी प्रसंग पर प्रकाश डाला जा रहा है।

आनन्दवर्धन ने रीति को 'संघटना' (सम्यक् घटना-रचना) नाम दिया, और इसे 'समास' से सम्बद्ध मानकर इसके तीन रूप स्वीकार किये—असमासा, अल्प-समासा और दीर्घसमासा। उनके अनुसार संघटना का कार्य है—गुणों के आश्रित रहकर रस को व्यक्त करना।[1] आनन्दवर्धन से ही प्रेरणा प्राप्त कर मम्मट और विश्वनाथ ने रीति का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया—

मम्मट—नियत वर्णों का रस-विषयक व्यापार वृत्ति (रीति) कहाता है।[2]

विश्वनाथ—रीति कहते हैं पद-संघटना को। यह अंग-संस्था के समान है, अर्थात्, काव्य-पुरुष रूपक में इसकी स्थिति शरीर के अवयवों की बनावट के समान है, और इसी रूप में रहकर वह रस का उपकार करती है।[3]

इन दोनों आचार्यों ने तीन रीतियाँ मानीं—वैदर्भी, गौडी और पांचाली, और इन्हें क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद की वर्ण-व्यंजकता तथा इनके रचनागत स्वरूप के साथ सम्बद्ध कया। इस प्रकार इन दोनों आचार्यों के अनुसार रीति का

---

१. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान् × × × ॥ ध्वन्यालोक ३.६

२. वृत्तिः नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः। का० प्र० ९.१

३. पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम् × × × ॥ सा० द० ९.१

स्वरूप इस प्रकार है—

१. पदों की सघटना का नाम रीति है।

२. ये तीन हैं, जो कि क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों के व्यंजक नियत वर्णो से रचित होती हैं। क्रमशः समास की रहितता, अधिकता और न्यूनता इनका वाह्य रूप है।

३. गुण पर आश्रित रहकर ये रीतियाँ रस की अभिव्यक्ति में साधक हैं।

तीनों रीतियों के लक्षण

वैदर्भी—माधुर्य गुण के व्यजक वर्णो से युक्त रचना वैदर्भी रीति कहाती है, और यह शृंगार, करुण आदि कोमल रसों का उपकार करती है। इसे मम्मट ने उपनागरिका वृत्ति भी कहा है। जैसे—

(१) अनगमंगलभुवस्तदपांगस्य भंगया।
जनयन्ति मुहुर्यूनामन्त:सन्तापसन्ततिम् ॥[1]

(२) निरख सखि ये खंजन आये।
फेरे उन मेरे रंजन ने इधर नयन मनभाये॥ (मै०श०गु०)

कोमल वर्णों से युक्त उक्त दोनों रचनाएं माधुर्य गुण की सूचक हैं तथा शृंगार रस के अनुकूल हैं। अतः इस दृष्टि से इन दोनों स्थलों में **वर्णगत माधुर्य** गुण है, और उसके अनुरूप वैदर्भी रीति भी स्वीकृत की जाती है, जो कि प्रकारान्तर से शृंगार रस का उपकार करती है।

गौडी—ओज गुण के व्यंजक वर्णो से युक्त रचना गौडी रीति कहाती है, और यह रौद्र, वीर आदि कठोर रसों का उपकार करती है। इसे मम्मट ने परुषा वृत्ति भी कहा है। जैसे—

(१) चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात—
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥

(२) मुण्ड कटत कहुं रुण्ठ नटत कहुँ सुण्ड पटत घन।
गिद्ध लसत कहुँ सिद्ध हसत सुख वृद्धि रसत मन॥ (भूषण)

कठोर वर्णों से युक्त उक्त दोनों रचनाएं ओज गुण की सूचक हैं, तथा क्रमशः वीर रस और बीभत्स रस के अनुकूल हैं। अतः इन दोनों रचनाओं में

---

१. उस नायिका के कटाक्षों की तरंगें, जो कि कामदेव की मंगलभूमि के समान हैं, युवकों के अन्त:करण में बार-बार सन्ताप को विस्तारित करती हैं।

वर्णगत ओज गुण है और उसके अनुरूप **गौडी रीति** की भी स्वीकृति की जाती है, जो कि प्रकारान्तर से क्रमशः उक्त दोनों रसों का उपकार करती है।

पांचाली—माधुर्य और ओज गुणों के व्यंजक वर्णों से अतिरिक्त वर्णों से युक्त रचना पांचाली रीति कहाती है। इसे मम्मट ने कोमला वृत्ति नाम दिया है। जैसे—

(१) **यदेव रोचते मह्यं तदेव कुरुते प्रिया।**
इति वेत्ति, न जानाति तत्प्रियं यत्करोति सा॥[1]

(२) **सिखा दो ना हे मधुपकुमारि, मुझे भी अपना मीठा गान।**
कुसुम के चुने कटोरों से करा दो ना कुछ-कुछ मधुपान॥ (पन्त)

प्रसाद गुण की सूचक उक्त दोनों रचनाओं में पांचाली रीति भी स्वीकृत की जाती है, तथा प्रकारान्तर से यह रीति शृंगार रस का पोषण करती है।

रस : गुण : रीति

रीति के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए अब अन्ततः रीति, गुण और रस का परस्परिक सम्बन्ध जानना आवश्यक है। आनदवर्धन और उनके अनुयायियों—मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार गुण का रस के साथ दोहरा सम्बन्ध है—एक सम्बन्ध प्रधान है और दूसरा गौण। प्रधान सम्बन्ध का आधार सहृदय की चित्तवृत्ति है, और गौण सम्बन्ध का आधार शब्द और अर्थ हैं। यहां 'शब्द' से तात्पर्य है वर्णाश्रित रचना अर्थात् रीति। अतः गुण प्रधानतः रस का नित्य धर्म है, और गौणतः शब्द और अर्थ का अनित्य धर्म—

(क) **ये रसस्यांगिनो धर्माः × × × अचलस्थितयो गुणाः।**
(ख) **गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।** का० प्र० ८. ६६, ७१

(१) रस के साथ गुण का प्रधान सम्बन्ध है—इसका तात्पर्य यह है कि शृंगार, करुण आदि कोमल रसों में चित्त की द्रुति होने के कारण माधुर्य गुण की स्वीकृति होगी, और वीर, रौद्र आदि कठोर रसों में चित्त की दीप्ति होने के कारण ओज गुण की। कोमल अथवा कठोर रसों में से किसी भी रस में यदि अर्थ का अव-बोध त्वरित हो जाएगा तो वहां चित्त की व्याप्ति होने के कारण माधुर्य अथवा ओज के अतिरिक्त प्रसाद गुण की भी स्वीकृति की जाएगी। दूसरे शब्दों में, किसी रचना

---

१. 'जो मुझे रुचिकर है, मेरी प्रिया वही करती है'—बस वह इतना ही जानती है, किन्तु वह [भोली] यह नहीं जानती कि वह जो भी करती है वह मुझे प्रिय लगता है।

में यदि त्वरित अर्थावबोध न होगा तो वहां रस के अनुकूल माधुर्य अथवा ओज में से किसी एक गुण की स्थिति मानी जाएगी, और यदि त्वरित अर्थावबोध हो जाएगा तो वहां रस के अनुकूल माधुर्य और प्रसाद गुण, अथवा ओज और प्रसाद गुण—दो-दो गुणों की स्थिति स्वीकृत होगी। इस प्रकार ये गुण सहृदय के चित्त की विभिन्न अवस्थाओं पर आधारित हैं। चित्त की द्रुति अथवा दीप्ति एवं व्याप्ति नामक अवस्थाएं पहले होती हैं, और रसाभिव्यक्ति इनके बाद होती है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि सहृदय का मन इन अवस्थाओं में से न गुज़रे, और उसे रस की अभिव्यक्ति हो जाए। **निष्कर्षतः, चित्तवृत्ति-रूप गुण और रस में पूर्वापर-सम्बन्ध है, तथा यह सम्बन्ध नित्य अर्थात् अनिवार्य है।**

(२) गुण का रचना के साथ गौण सम्बन्ध भी है—इसका तात्पर्य यह है कि शृंगार, करुण आदि कोमल रसों में कोमल वर्णों का प्रयोग होना चाहिए तथा समस्त (समास-बद्ध) पदों का प्रयोग या तो न हो, और यदि हो तो अल्प हो, जिसमें समस्त पद लघु हों। इसी प्रकार वीर, रौद्र आदि कठोर रसों में कठोर वर्णों का प्रयोग करना चाहिए, तथा सघन और अधिक समासों का प्रयोग होना चाहिए। उक्त वर्णों एवं पदों का प्रयोग कोमल रसों में माधुर्य गुण का अभिव्यंजक कहलाता है, और कठोर रसों में ओज गुण का। इनके अतिरिक्त यदि किसी सरस रचना में अर्थ का अवबोध त्वरित हो जाएगा तो उनमें चाहे कैसे भी वर्णों और पदों का प्रयोग हो वहां माधुर्य अथवा ओज में से किसी एक गुण के साथ प्रसाद गुण की स्वीकृति भी की जाएगी। इस प्रकार ये गुण वर्ण और शब्द (पद) से सम्बन्धित हैं—रचना अर्थात् काव्य के बाह्य पक्ष, दूसरे शब्दों में 'रीति' से सम्बन्धित हैं, पूर्वोक्त गुणों के समान सहृदय की चित्तवृत्ति अर्थात् काव्य के आन्तरिक पक्ष से सम्बन्धित नहीं हैं। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त गुणों के समान इन गुणों का रस के साथ नित्य सम्बन्ध भी नहीं है। उदाहरणार्थ, शृंगार रस के किसी पद्य में यदि कोई अप्रौढ़ कवि टवर्गादि से युक्त कठोर वर्ण-योजना और दीर्घ-समस्त-वृत्ति का प्रयोग कर लेगा, तो इस स्थिति में भी उस पद्य में रसगत माधुर्य गुण की ही स्वीकृति होगी, और वर्णादिगत ओज गुण की, क्योंकि चित्तवृत्ति-रूप गुण की स्थिति रस पर आधृत है न कि वर्ण-योजना पर। हाँ, इस पद्य में 'वर्ण-प्रतिकूलता' नामक दोष अवश्य माना जाएगा। किन्तु आदर्श स्थिति यही है कि शृंगार आदि रसों में माधुर्य गुण के अभिव्यंजक वर्ण प्रयुक्त किये जाने चाहिएं, और रौद्र आदि रसों में ओज गुण के।

इस प्रकार उपर्युक्त आधार पर निम्नोक्त तत्त्वों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है— (१) रचना, (२) चित्तवृत्ति, (३) गुण : रस का नित्य धर्म, (४) गुण : शब्दार्थ (रचना) का गौण धर्म, (५) रीति, (६) वर्ण-प्रतिकूलता नामक रस-दोष।

निम्नोक्त तालिका से उपर्युक्त समग्र धारणा स्पष्ट हो जाएगी—

रस	चित्तवृत्ति	रसगत गुण	रचना	रचनागत गुण	रीति	दोष
१. शृंगार	द्रुति	माधुर्य	कोमल	माधुर्य	वैदर्भी	
२. ,,	,,	,,	कठोर	ओज	गौडी	वर्णप्रतिकूलता
३. ,,	(क) ,,	,,	(क) कोमल	माधुर्य	वैदर्भी	
	(ख) व्याप्ति	प्रसाद	(ख) त्वरित अर्थबोध	प्रसाद	पांचाली	
४. ,,	(क) द्रुति	माधुर्य	(क) कठोर	ओज	गौडी	वर्णप्रतिकूलता
	(ख) व्याप्ति	प्रसाद	(ख) त्वरित अर्थबोध	प्रसाद	पांचाली	
५. वीर	दीप्ति	ओज	कठोर	ओज	गौडी	
६. ,,	,,	,,	कोमल	माधुर्य	वैदर्भी	वर्णप्रतिकूलता
७. ,,	(क) ,,	,,	(क) कठोर	ओज	गौडी	
	(ख) व्याप्ति	प्रसाद	(ख) त्वरित अर्थबोध	प्रसाद	पांचाली	
८. ,,	(क) दीप्ति	ओज	कोमल	माधुर्य	वैदर्भी	वर्णप्रतिकूलता
	(ख) व्याप्ति	प्रसाद	(ख) त्वरित अर्थबोध	प्रसाद	पांचाली	

इस तालिका से स्पष्ट है कि—

—चित्तवृत्ति का पर्याय गुण तो 'रस' का नित्य धर्म है,

—किन्तु वर्ण-योजना से द्योतित गुण 'शब्दार्थ' (रचना) का गौण (अनित्य) धर्म है।

—यह उल्लेखनीय है कि सर्वाधिक आदर्श स्थिति संख्या ३ और ७ है, तथा उसके बाद सं० १ और ५।

संघटना, रचना-शैली अथवा रीति-प्रयोग के नियामक तत्त्व

आनन्दवर्धन ने संघटना (रीति) के प्रयोग के सम्बन्ध में चार नियामक तत्त्वों का उल्लेख किया है। (१) वक्तृ-औचित्य (२) वाच्यौचित्य (३) विषयौचित्य, और (४) रसौचित्य, अर्थात् वक्ता, वाच्य, विषय और रस—इन चारों के समन्वित रूप के ही औचित्य को ध्यान में रखते हुए संघटना का प्रयोग करना चाहिए—

(१) **वक्तृ-औचित्य**—वक्ता स्वयं कवि अथवा कवि-निबद्ध पात्र होता है। पात्र नायक होता है अथवा नायकेतर कोई अन्य पात्र होता है। नायक चार प्रकार के होते हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त। यों तो कवि अथवा पात्र प्रायः रस-भाव-युक्त कथनों का प्रयोग करते हैं, किन्तु कभी-कभी वे औचित्य के ही आधार पर रस-भाव-रहित कथनो का प्रयोग भी करते हैं। इस प्रकार इन सबके औचित्य के आधार पर असमस्ता, अल्पसमस्ता तथा दीर्घ-समस्ता संघटना का प्रयोग काव्य-चमत्कार का साधक होता है।

(२) **वाच्यौचित्य**—वाच्य से तात्पर्य है वर्णनीय वस्तु अथवा कथानक। यह अभिनेय और अनभिनेय दोनों प्रकार का होता है, तथा उत्तम, अधम आदि सब प्रकार के पात्रों की प्रकृति के साथ सम्बद्ध रहता है। इस सबके अनुरूप संघटना का प्रयोग समुचित है।

(३) **विषयौचित्य**—यहाँ विषय से तात्पर्य है काव्य-प्रकार, अर्थात् प्रबन्ध, मुक्तक, चम्पू, दृश्य-काव्य, कथा, आख्यायिका आदि। इन सब के औचित्य को ध्यान में रख कर संघटना का प्रयोग करना चाहिए। उदाहरणार्थ, प्रबन्ध-काव्यों की, विशेषतः महाकाव्यों की, संघटना (रचना-शैली) चाहे कितनी सघन हो, किन्तु दृश्यकाव्य में प्रायः उससे बचना चाहिए। इस दृष्टि से आख्यायिका और कथा नामक गद्यकाव्य का उल्लेख करना आवश्यक है। आख्यायिका में सदा गाढबन्धता का प्रयोग होना चाहिए, चाहे शृंगार रस का वर्णन भी क्यों न हो, और कथा में सदा मसृण रचना का प्रयोग करना चाहिए, चाहे रौद्र रस का वर्णन भी क्यों न हो, कारण सम्भवतः यह है कि आख्यायिका का पाठक विशिष्ट वर्ग का व्यक्ति होता है, और कथा का पाठक सामान्य वर्ग का। पर हमारे विचार में यह आदर्श स्थिति नहीं है।

(४) **रसौचित्य**—संघटना का प्रयोग रसानुकूल होना चाहिए। उदाहरणार्थ, करुण, विप्रलम्भ शृंगार, शान्त आदि कोमल रसों में असमासा अथवा मध्यमसमासा संघटना का प्रयोग समुचित है, और वीर, रौद्र भयानक आदि कठोर रसों में दीर्घ-समासा रचना का।

आनन्दर्धन का अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त चारों—वक्ता, वाच्य, विषय और रस—के अलग-अलग रूप को नहीं, अपितु इनके समन्वित रूप को ही लक्ष्य में रखकर संघटना का प्रयोग श्रेयस्कर है। वस्तुतः, काव्य में इन्हें पृथक्-पृथक् किया

भी नहीं जा सकता—यों समझने-समझाने के लिए इनका उक्त विभाजन कर दिया गया है। ○ ○

इस प्रकार हमने देखा कि वामन-सम्मत रीति एक विशिष्ट प्रकार की पद-रचना है, जो गुणों से निर्मित होती है। दूसरे शब्दों में, वामन के अनुसार गुण रीति पर आश्रित हैं। इसी रीति को वामन ने काव्य की आत्मा माना था। वामन ने रीतियों के स्वरूप-निर्देश में समास-बद्धता की ओर भी संकेत किया था—सम्भवतः इसी आधार पर आनन्दवर्धन ने 'रीति' के स्थान पर 'संघटना' शब्द का प्रयोग करते हुए इसे केवल 'समास-बद्धता' से सम्बन्वित कर दिया। आगे चलकर, एक ओर इसी 'संघटना' शब्द को लेते हुए, और दूसरी ओर, इसे गुणों से सम्बद्ध करने, और साथ ही, इसे रसोपकारिका मानने के उद्देश्य से मम्मट ने इसका नूतन लक्षण प्रस्तुत किया कि 'ऐसी पदसंघटना रीति कहाती है जो गुणों अर्थात् गुण-व्यंजक वर्णों पर आश्रित रह कर रस का उत्कर्ष करती है,' और विश्वनाथ के शब्दों में—'रीति रस का उत्कर्ष उस प्रकार करती है जिस प्रकार हमारी अंग-संस्था(अंगों की बनावट) हमारी आत्मा का प्रकारान्तर से उत्कर्ष करती है।'

इस प्रकार, कहां तो वामन के समय में रीति पर गुण आश्रित थे और रीति काव्य की आत्मा थी, और कहाँ अब रीति गुणों पर आश्रित है, और शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर की अंग-संस्था के समान रहकर रस-रूप काव्यात्मा का प्रकारान्तर से उत्कर्ष करती है। अब यह केवल रचना मात्र है, आधुनिक शब्दावली में कहें तो एक 'शैली' मात्र है, और अधिकांशतः काव्य के बाह्य पक्ष—कलापक्ष—के स्वरूप की निश्चायक है।

○ ○ ○

६.

ध्वनि-सिद्धान्त

आनन्दवर्धन और ध्वनि-सिद्धान्त

आनन्दवर्धन को ध्वनि (व्यंजनाशक्ति-जन्य व्यंग्यार्थ) नामक काव्य-तत्त्व के प्रवर्तक होने का श्रेय दिया जाता है। यद्यपि इन्होंने कई बार यह उल्लिखित किया है कि उनके समकालीन अथवा पूर्ववर्ती आचार्यों ने ध्वनि और उसके भेदों का निरूपण किया है।[1] पर अन्य आचार्यों के ग्रन्थों की उपलब्धि-पर्यन्त आनन्दवर्धन को ही ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तन का श्रेय मिलता रहेगा। फिर भी, यह अनुमान कर लेना सम्भव है कि इन पूर्व आचार्यों के ध्वनि-विषयक मौलिक सिद्धान्तों की केवल पंडित-गोष्ठियों में चर्चामात्र रही होगी, और इन पर किसी प्रसिद्ध और स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण नहीं हुआ होगा।[2]

ध्वनि-सिद्धान्त की आवश्यकता

सर्वप्रथम विचारणीय प्रश्न है कि आनन्दवर्धन को ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापन की आवश्यकता का अनुभव क्यों हुआ ? इनसे पूर्व अलंकार-सिद्धान्त और रीति-सिद्धान्त थे, किन्तु ये दोनों सिद्धान्त काव्य के बाह्य रूप तक ही अधिकांशतः सीमित थे। इनके अतिरिक्त रस-सिद्धान्त पर भी विशद विवेचन हो चुका था, किन्तु 'रस' विभावादि-सामग्री से अनुप्राणित नाटक पर घटित होता था; प्रबन्ध-काव्य (महाकाव्य और खण्डकाव्य) पर भी घटित हो जाता था; विभावादि की परिपक्व सामग्री से सम्पन्न मुक्तक रचना पर भी घटित हो जाता था; किन्तु फिर भी, ऐसे सहस्रों मुक्तक स्थल (पद्यात्मक एवं गद्यात्मक) अवशिष्ट रह जाते हैं, जो कि विभावादि की परिपक्व सामग्री से शून्य होते हुए भी चमत्कार-पूर्ण होते हैं, पर इन्हें रसवाद के आवेष्टन में लाना कठिन नहीं, असम्भव था, क्योंकि रस अपनी विशिष्ट शास्त्र-प्रक्रिया में परिबद्ध है, उसकी सीमा विभाव आदि सामग्री तक ही सीमित है। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने उक्त तीनों—रस, अलंकार और रीति—सिद्धान्तों की त्रुटियों को पहचाना और ध्वनि-तत्त्व का प्रवर्तन किया। इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन से पूर्व अभिधा,

---

१. (क) काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः। ध्वन्या० १.१

(ख) विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्वः।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यंजितः सोऽयम्॥ ध्वन्या० ३.३४

२. विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनाद् इत्यभिप्रायः।
—ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ११

लक्षणा और तात्पर्या नामक तीन वृत्तियाँ भी प्रचलित थीं, किन्तु आनन्दवर्धन ने इनसे ज्ञात अर्थ से अतिरिक्त अर्थ की द्योतक, एक अन्य चतुर्थी, व्यंजना वृत्ति के आधार पर व्यंग्यार्थ की स्वीकृति करते हुए ध्वनि-तत्त्व का प्रतिष्ठापन किया।[१]

ध्वनि का स्रोत

'व्याकरण-शास्त्र को 'ध्वनि' का स्रोत मान लिया गया है, यद्यपि व्याकरण-ग्रन्थों में ध्वनि अथवा व्यंजना शब्दशक्ति से सम्बन्धित ऐसे संकेत स्पष्ट अथवा प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त नहीं होते, जिन्हें काव्यशास्त्र में प्रतिपादित ध्वनि का मूल संकेत माना जा सके। काव्यशास्त्र-विषयक ध्वनि पर प्रायः व्याकरण-सम्मत 'स्फोट' का प्रभाव स्वीकार किया जाता है, पर वस्तुतः यह प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है। स्फोट-वादियों ने ध्वनि (अर्थात् उच्चार्यमाण शब्द अथवा नाद) को व्यंजक माना है, और स्फोट को व्यंग्य माना है। किन्तु इधर काव्यशास्त्रियों ने 'व्यंजक शब्द' और 'व्यंजक अर्थ' इन दोनों को भी ध्वनि की संज्ञा दी है। स्वयं मम्मट ने इस अप्रत्यक्ष प्रभाव को स्वीकार किया है।[२] काव्यशास्त्रियों ने उक्त दो अर्थों के अतिरिक्त 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार अन्य तीन अर्थों में भी किया है—व्यंजना शक्ति, व्यंग्यार्थ और व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य।[३] निष्कर्ष यह कि काव्यशास्त्रियों ने 'ध्वनि' शब्द लिया तो स्फोटवादियों (वैयाकरणों) से है, किन्तु इन्होंने इसका उनसे नितान्त भिन्न एवं बहुविध अर्थ किया है।[४]

आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में यद्यपि ध्वनि शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं मिलता, तथापि भामह, दण्डी और उद्भट तथा रुद्रट के ग्रन्थों में प्रस्तुत कतिपय अलंकारों में व्यंजना के संकेत मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाऽभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥

—का० अ० सा० सं० (उद्भट) ५.६

---

१. तस्मादभिधा-तात्पर्य-लक्षणा-व्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वनन-द्योतन-व्यंजन-प्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः।

—ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ६०

२. काव्यप्रकाश १.४ वृत्ति

३. तथा च तथाविधः शब्द-वाच्य-व्यंग्य-व्यंजन-समुदायात्मकः काव्यविशेषो ध्वनिरिति कथितः। ध्वन्यालोक (बालप्रिया), पृष्ठ १०६

४. यहां यह ज्ञातव्य है कि बहुत आगे चलकर—मम्मट के उपरान्त—वैयाकरणों ने भी काव्यशास्त्रीय ध्वनि (व्यंजना शक्ति) की आवश्यकता का अनुभव किया। नागेश जैसे सुप्रसिद्ध व्याकरण ने न केवल व्यंजना का स्वरूप काव्यशास्त्रानुकूल निर्दिष्ट किया है, अपितु इसे व्याकरणशास्त्र का भी एक आवश्यक तत्त्व ठहराया है।

सम्भवतः, यही संकेत धीरे-धीरे विकसित होते-होते आनन्दवर्धन के समय तक ध्वनि-सिद्धान्त के रूप में प्रस्फुटित हो गये होंगे। इतना ही नहीं, यह सिद्धान्त आनन्दवर्धन के समय में इतना प्रचलित हो गया था कि इसके विरोधी भी उत्पन्न हो गये थे, जिन्हें करारा उत्तर देने के लिए आनन्दवर्धन को अपने ग्रन्थ में सर्वप्रथम लेखनी उठानी पड़ी थी। इन विरोधियों में से तीन वर्ग प्रमुख थे—अभाववादी (अर्थात् अलंकारवादी), भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी। प्रथम वर्ग को ध्वनि की सत्ता ही स्वीकृति नहीं है, तथा तृतीय वर्ग इसकी सत्ता स्वीकार करता हुआ भी इसे अनिर्वचनीय कहता है, और द्वितीय वर्ग ध्वनि को भाक्त अर्थात् लक्षणागम्य अतएव गौण मानता है। सम्भव है कि इन सभी अथवा एक या दो वर्गों की कल्पना स्वयं आनन्दवर्धन ने कर ली हो, अथवा इस प्रसंग का दायित्व भी विद्वद्-गोष्ठीगत मौखिक शास्त्रीय चर्चाओं पर ही हो। पर इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक तो भरत अथवा भामह से लेकर आनन्दवर्धन के ही लगभग समकालीन रुद्रट तक उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ध्वनि-विरोधियों की चर्चा तक नहीं की गयी; और दूसरे, इन विरोधी आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का नामोल्लेख स्वयं आनन्दवर्धन ने भी नहीं किया। आनन्दवर्धन ने इन विरोधियों के मन्तव्यों का उल्लेख किया, और उनका खण्डन भी किया—वस्तुतः, इन्हीं विरोधी काव्यशास्त्रियों के मन्तव्यों में ही 'ध्वनि' के बीज निहित हैं।

ध्वनि का स्वरूप

आनन्दवर्धन ने ध्वनि का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'जहाँ' [वाच्य] अर्थ और [वाचक] शब्द अपने-अपने अस्तित्व को गौण बना कर जिस [विशिष्ट] अर्थ को प्रकट करते हैं वह (अर्थ) ध्वनि कहाता है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ ध्वन्या० १.१३

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के स्वरूप को समझाने के लिए कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

(क) जिस प्रकार किसी अंगना के सुन्दर अवयव और उनसे फूटता हुआ लावण्य भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, उसी प्रकार महाकवियों की वाणी में प्रसिद्ध अवयव (अर्थात्, वाचक शब्द और वाच्य अर्थ) और उनसे अभिव्यक्त प्रतीयमान अर्थ भी भिन्न-भिन्न हैं—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥ ध्वन्या० १.४

(ख) जिस प्रकार कोई व्यक्ति प्रकाश के लिए दीपशिखा [को प्रज्वलित करने] का प्रयास करता है, उसी प्रकार ध्वन्यर्थ का अभिलाषी वाच्यार्थ की अपेक्षा रखता है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार दीपशिखा और उससे निःसृत प्रकाश अलग-अलग पदार्थ हैं, उसी प्रकार 'वाच्यार्थ' और उससे व्यंजना शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त 'व्यंग्यार्थ' अलग-अलग तत्त्व हैं।

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वद् अर्थे वाच्ये तदादृतः॥ वही, १.९.

(ग) ध्वन्यर्थ तो सुन्दरियों की लज्जा की भांति [एक आन्तरिक एवं विभिन्न तत्त्व] है—

मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥ वही, ३.३८

उक्त उदाहरणों का निष्कर्ष यह है कि—

—ध्वनि (व्यंग्यार्थ) शब्दार्थ से विभिन्न तत्त्व है।

—ध्वनि लावण्य, लज्जा आदि के समान एक आन्तरिक तत्त्व है।

—शब्दार्थ आधार एवं साधन है और ध्वनि आधेय एवं साध्य। जिस प्रकार लावण्य के लिए अंगना के अगों की, अथवा प्रकाश के लिए दीपशिखा की अपेक्षा रहती है उसी प्रकार ध्वनि के लिए शब्दार्थ (वाचक शब्द और वाच्य अर्थ) की अपेक्षा रहती है।[1]

संक्षेप में कहें तो वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ 'व्यंग्यार्थ' अथवा 'ध्वनि' कहाता है, और इसी व्यंग्यार्थ (ध्वनि) को आनन्दवर्धन ने, और उनके अनुकरण में मम्मट और जगन्नाथ ने काव्य की आत्मा माना है। इसी प्रसंग के अन्त में आनन्दवर्धन का यह कथन उद्धरणीय है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति शब्दार्थ की प्रक्रिया अर्थात् वाच्यार्थ के ज्ञानमात्र से नहीं होती, अपितु वह तो केवल काव्यार्थ के तत्त्व को जानने वालों को ही होती है—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥ ध्वन्यालोक १.७

---

१. वस्तुतः देखा जाए तो अंगना के अवयव और उनसे फूटता हुआ लावण्य, तथा दीपशिखा और प्रकाश का उदाहरण शब्दार्थ और ध्वनि पर सटीक नहीं उतरता। अवयव-समुदाय अथवा दीप को अपने-अपने साध्य की सिद्धि के लिए गौण नहीं बनना पड़ता, पर ध्वनि की अभिव्यक्ति तभी संभव है जब 'शब्दार्थ' गौण बन जाता है।

ध्वनि का क्षेत्र : ध्वनि के आधार पर काव्य के तीन प्रमुख भेद

आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि जैसे मानसिक व्यापार और व्यापक काव्य-तत्त्व की स्थापना का सुपरिणाम यह हुआ कि एक ओर अलकांर, रीति जैसे बाह्य काव्यांगों का शताब्दियों से प्रचलित अनावश्यक महत्त्व समाप्त हो गया, और दूसरी ओर चमत्कारपूर्ण मुक्तक काव्य भी, जो रस के क्षेत्र में प्रवेश नहीं पा सकते थे, अब ध्वनि-काव्य के विशाल क्षेत्र में प्रवेश पा गये। इन्हें ध्वनि-काव्य के दो प्रमुख भेदों—वस्तु-ध्वनि अथवा अलंकार-ध्वनि में स्थान मिल गया।

पर आनन्दवर्धन ने अब भी देखा कि दो प्रकार की ऐसी रचनाएँ और हैं जो चमत्कारपूर्ण होते हुए भी ध्वनि के उक्त प्रमुख तीन रूपों में से किसी में अन्तर्भूत नहीं हो सकतीं—

१. जिनमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की तुलना में कम चमत्कारोत्पादक होता है; दूसरे शब्दों में, उसका अंग—उसकी तुलना में गौण—बन जाता है।

२. जिनमें व्यंग्यार्थ अस्फुट रहता है।

मर्मज्ञ आचार्य ने इनको भी काव्य जैसे महनीय अभिधान से सुशोभित करने के लिए व्यंग्यार्थ के तारतम्य की दृष्टि से, दूसरे शब्दों में, वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की तारतमिक उच्चावचता के आधार पर, काव्य के निम्नांकित तीन प्रकार गिना दिये—ध्वनि-काव्य, गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्र-काव्य।

ध्वनि-काव्य के पांच प्रमुख भेद हैं—(१) अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि, (२) अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि, (३) वस्तु-ध्वनि, (४) अलंकार-ध्वनि, (५) रस-ध्वनि। इन पाँच भेदों में से भी अन्तिम तीन भेदों को प्रमुख स्वीकार किया गया है, तथा शेष दो भेदों को इनमें अन्तर्भूत माना गया है।[1]

गुणीभूतव्यंग्य काव्य के आठ प्रमुख भेद हैं—(१) अगूढ-व्यंग्य (२) अपरांग-व्यंग्य, (३) वाच्य-सिद्‌ध्यंग व्यंग्य, (४) अस्फुट-व्यंग्य, (५) सन्दिग्ध-प्राधान्य-व्यंग्य (६) तुल्य-प्राधान्य-व्यंग्य, (७) काक्वाक्षिप्त-व्यंग्य, (८) असुन्दर-व्यंग्य।[2]

फिर ध्वनि-काव्य तथा गुणीभूत-व्यंग्य-काव्य के बहुविध उपभेद गिनाये गये हैं, जिनकी संख्या सहस्रों तक पहुँच जाती है।

चित्र-काव्य के अन्तर्गत शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का चमत्कार

१,२. ध्वनिकाव्य और गुणीभूतव्यंग्यकाव्य के प्रमुख भेदों के लक्षणों तथा उदाहरणों के लिए आगे देखिए।

समाविष्ट किया गया तथा साथ ही, गुणों की वर्ण-व्यंजकता से जन्य सौन्दर्य को भी चित्रकाव्य माना गया।[1]

मम्मट ने इन तीन प्रकारों को तारतम्य के अनुसार क्रमशः उत्तम, मध्यम और अवर (अधम) काव्य भी कहा है।[2] संस्कृत-काव्यशास्त्र के अन्तिम प्रतिभाशाली आचार्य जगन्नाथ ने इस विभाजन में एक अन्य कोटि का परिवर्द्धन कर दिया। उन्होंने शब्दालंकारों को अधम काव्य कहा; अर्थालंकारों को मध्यम काव्य; तथा गुणीभूत-व्यंग्य-काव्य और ध्वनि-काव्य को क्रमशः उत्तम-काव्य और उत्तमोत्तम काव्य।[3] उनके विचार में शब्दालंकार और अर्थालंकार को एक कोटि में रखना समुचित नहीं है।[4] किन्तु यह तो वाह्य विभाजनमात्र है, इन दोनों आचार्यों की मूल धारणा में कोई अन्तर नहीं है कि 'ध्वनि' काव्य का अनिवार्य तत्त्व है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि-तत्त्व के तारतम्य के आधार पर समग्र काव्य को तीन प्रकारों में विभक्त कर दिया है, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि काव्य-चमत्कार की दृष्टि से पहले प्रकार के उदाहरण शेष दो प्रकार के उदाहरणों की अपेक्षा सदा उत्कृष्ट कोटि के होंगे, अथवा तीसरे प्रकार के उदाहरण शेष दो प्रकारों की अपेक्षा सदा हीन कोटि के होंगे, और दूसरे प्रकार के उदाहरण सदा मध्यम कोटि के ही होंगे। यह तो केवल एक शास्त्रीय परिधिमात्र है।

ध्वनि-सिद्धान्त में रस का स्थान

आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना ने शताब्दियों से चली आ रही काव्यशास्त्रीय अव्यवस्था को मिटा दिया। अव अलंकार, गुण और रीति जैसे काव्यांगों का महत्त्व सीमित हो गया। पर इसका श्रेय ध्वनि के उपर्युक्त प्रमुख तीनों भेदों में से रसध्वनि को है, वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि को नहीं। स्वयं आनन्दवर्धन के कथनानुसार अव अलंकारों का महत्त्व इसी में रह गया कि वे शब्दार्थ के आश्रित रहकर परम्परा-सम्वन्ध से रस का उपकार करें। गुण रस के ही उत्कर्षक धर्म घोषित किए गये; तथा रीति को भी रस की ही उपकर्त्री रूप में स्वीकृत किया गया। यहां तक कि दोष का लक्षण और दोषों की नित्यानित्य-व्यवस्था का मूलाधार भी रस को

१. (क) यहां यह उल्लेख्य है कि विश्वनाथ ने चित्रकाव्य की स्वीकृति नहीं की।
(ख) चित्र-काव्य के स्वरूप के लिए आगे देखिए।

२. का० प्र० १.४, ५

३. र० गं० पृष्ठ ११

४. तत्रार्थचित्रशब्दचित्रयोरविशेषेणाऽधमत्वमयुक्तं वक्तुम् तारतम्यस्य स्फुटमुपलब्धेः।
—र० गं० १म आ०, पृष्ठ २४

ही माना गया । रस के इस केन्द्रीकरण से निःसन्देह यह भी सिद्ध हो जाता है कि आनन्दवर्धन रसध्वनि को शेष ध्वनियों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे । उन्होंने अपने ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अपनी इस प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है, तथा कुछ-एक स्थलों पर स्पष्ट निर्देश भी । उदाहरणार्थ, ध्वनि-भेदों के उपसंहार-वाक्य में उन्होंने कवि को रसध्वनि की ओर ही अधिक प्रवृत्त रहने का आदेश दिया है, अन्य भेदों की ओर नहीं—

व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि ।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ॥ ध्वन्यालोक ५.५

इसी प्रकार शब्द और अर्थ के औचित्यपूर्ण प्रयोग का आदेश देते हुए आनन्दवर्धन ने रसध्वनि को ही प्रधान लक्ष्य बनाया है, ध्वनि के दो अन्य प्रमुख रूपों को नहीं—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः ॥ ध्वन्यालोक ३.३२

यहां यह उल्लेख्य है कि रसध्वनि को 'वाच्यता-असह' कहा गया है, तथा वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को 'वाच्यता-सह' । वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि के उदाहरणों में ध्वनि-तत्त्व के प्रधान रूप से विद्यमान होने के कारण एक ओर तो ध्वनि-काव्य के ये दोनों भेद गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के भेदों की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं; और दूसरी ओर 'वाच्यता-सह' होने के कारण रसध्वनि के उदाहरणों की अपेक्षा वे निम्न कोटि के माने गये हैं । विश्वनाथ ने वस्तु-ध्वनि [और अलंकार-ध्वनि] को भाव, रसाभास, भासाभास आदि में अन्तर्भूत करते हुए इन्हें अस्वीकृत किया है ।[1] पर हमारे विचार में वाच्यता-सहत्व के कारण जिसे कि स्वयं विश्वनाथ ने भी स्वीकार किया है, वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि उक्त भाव रसाभास आदि के अपेक्षाकृत उच्च पद पर नहीं पहुँच सकते । अतः उन्हें स्वतन्त्र रूप में ही स्वीकार करना चाहिए ।

ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध तथा अन्ततः स्वीकृति

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि-तत्त्व' पर समग्र काव्य को अवलम्बित मानते हुए ध्वनि को काव्य की आत्मा माना ।[2] किंतु इनके पश्चात् पूरे दो सौ वर्ष तक विभिन्न काव्यशास्त्री ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध करते रहे । दशरूपककार धनंजय (दशवीं शती) ने इसे 'तात्पर्य' में अन्तर्भूत किया, वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक (दसवीं-ग्यारहवीं शती) ने 'वक्रोक्ति' में, और व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट (ग्यारहवीं शती) ने 'अनुमान' में । इसके अतिरिक्त इसे अभिधा और लक्षणा में भी अन्तर्भूत करने का

---

१. **वस्तुमात्रस्य व्यंग्यत्वे कथं काव्यव्यवहारः इति चेत्, न । अत्रापि रसाभासवत्तयैवेति ब्रूमः ।**—सा० द० १ म परि० पृष्ठ २४

२. ध्वनि काव्य की आत्मा है—इस सम्बन्ध में आगे 'उपसंहार' देखिए ।

प्रयास किया गया। परंतु काव्यप्रकाश के प्रणेता मम्मट (ग्यारहवीं शती) ने मानो आनन्दवर्धन का अवतार ग्रहण कर अपने प्रख्यात ग्रन्थ काव्यप्रकाश में गंभीर विवेचन द्वारा ध्वनि-विरोधियों का समर्थ शैली में खण्डन प्रस्तुत कर ध्वनि-सिद्धान्त की अकाट्य रूप से स्थापना की, और इसके प्रति आस्था उत्पन्न कर दी। ध्वनि के प्रति मम्मट द्वारा स्थापित यह आस्था अगली छह शताब्दियों तक निरंतरबनी रही। यहां तक कि अलंकार को काव्य का अनिवार्य अंग स्वीकृत करने वाले चन्द्रालोककार जयदेव (तेरहवीं शती) ने भी अपने ग्रन्थ में ध्वनि-प्रकरण को स्थान दिया; ध्वनि के स्थान पर रस को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने न केवल ध्वनि-प्रकरण का निरूपण किया, अपितु रस को ध्वनि का ही एक भेद माना। संस्कृत के अंतिम आचार्य जगन्नाथ ने भी ध्वनि-सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन किया, और व्यंग्य (ध्वनि) को ही काव्य की आत्मा माना।[1]

ध्वनि-काव्य, गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्र-काव्य का स्वरूप

ध्वनि-काव्य और उसके पांच प्रमुख भेद

जहां व्यंग्यार्थ का चमत्कार वाच्यार्थ के चमत्कार की अपेक्षा प्रधान होता है वहां ध्वनि-काव्य होता है।[2] इसके पांच प्रमुख भेद हैं —

---

१. उदाहरणार्थ—

काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजकस्य अलंकाराः। (रसगगाधर)

२. मम्मट-प्रस्तुत ध्वनि-काव्य का भेदोपभेद-विवरण इस प्रकार है—

ध्वनि के प्रमुख दो भेद—अविवक्षितवाच्य-ध्वनि (लक्षणामूला ध्वनि) और विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि (अभिधामूला ध्वनि)।

—अविवक्षितवाच्य-ध्वनि (लक्षणामूला ध्वनि) के दो भेद—अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि और अर्थान्तिर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि।

—विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि (अभिधामूला-ध्वनि) के दो भेद—संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि और असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि।

—संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि के दो भेद—शब्दशक्त्युद्भव-ध्वनि, अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि और शब्दार्थशक्त्युद्भव-ध्वनि।

—शब्दशक्त्युद्भव-ध्वनि के दो भेद—वस्तुगत और अलंकारगत। ये दोनों दो-दो प्रकार के—पदगत और वाक्यगत। इस प्रकार ये चार भेद हुए।

—अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के तीन भेद—स्वतःसम्भवी, कवि-प्रौढोक्तिमात्र-सिद्ध और कविनिबद्धप्रौढोक्तिमात्र-सिद्ध।

१. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि—यह ध्वनि वहां मानी जाती है जहां वाच्यार्थ अन्य (व्यंग्य) अर्थ में नितान्त संक्रमित हो जाता है। यथा—

(१) कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि [सर्वं सहे।
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

[मैं तो कठोर-हृदय राम हूं, सब कुछ सह लूंगा। परन्तु वैदेही (सीता) की क्या दशा होगी ? हा देवि ! धैर्य धारण करना।]

इस पद्यांश में 'राम' शब्द का वाच्यार्थ है दशरथ-पुत्र, किन्तु व्यंग्यार्थ है अत्यन्त दुःख-सहिष्णु, प्रजापालक राम। अतः यहां अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि है।

(२) सेना छिन्न, प्रयत्न भिन्न कर मा मुराद मन चाही।
कैसे पूजूं गुमराही को, मैं हूं एक सिपाही ॥ (भारतीय आत्मा)

—ये तीनों चार-चार प्रकार के—वस्तु से वस्तु-व्यंग्य, वस्तु से अलंकार-व्यंग्य, अलंकार से वस्तु-व्यंग्य, अलंकार से अलंकार-व्यंग्य। इस प्रकार ये बारह भेद हुए। ये बारह भेद फिर तीन-तीन प्रकार के—पदगत, वाक्यगत और प्रबन्ध-गत। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के कुल छत्तीस भेद।

—शब्दार्थशक्त्युद्भव-संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि केवल एक—वाक्यगत।

—इस प्रकार संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि के कुल ४+३६+१=४१ भेद।

—असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि को एक ही माना गया है। इसी का दूसरा नाम रस अथवा रसादि-ध्वनि है, फिर इसके निम्नोक्त छह उपभेद हैं—पद, पदांश (प्रकृति प्रत्यय, उपसर्ग और निपात), रचना, वर्ण, वाक्य और प्रबन्ध-गत।

—इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि के कुल ४१+६=४७ भेद।

—इस प्रकार अविवक्षितवाच्य-ध्वनि के उक्त ४ भेद और ये ४७ भेद= कुल ५१ भेद।

अब यही ५१ भेद—

(क) परस्पर गुणा करने पर, (ख) फिर इस गुणनफल को तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टि से, अर्थात् चार से, गुणा करने पर, (ग) और फिर, इस गुणनफल में उक्त शुद्ध ५१ भेद जोड़ने पर, ध्वनि के भेदों की संख्या १०४५५ तक जा पहुंचती है—

५१×५१=२६०१×४=१०४०४+५१=१०४५५।

[देखिए काव्यप्रकाश ४.४४]

'सिपाही' शब्द का वाच्यार्थ है योद्धा। किन्तु यहां यह वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ में नितान्त संक्रमित हो गया है। 'सिपाही' शब्द का व्यंग्यार्थ है—देशरक्षक, कष्टसहिष्णु, साहसी, देश का उन्नायक, आदि।

२. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि—यह ध्वनि वहां मानी जाती है जहां वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ के द्योतनार्थ अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है। यथा—

(१) उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता........

[आपने हमारा बहुत उपकार किया है, आपकी शराफ़त के क्या कहने ?] यहां वाच्यार्थ नितान्त अभीष्ट नहीं है।

(२) नीलोत्पल के बीच समाये मोती से आँसू के बूंद।
हृदय-सुधानिधि से निकले हो तब न तुम्हें पहचान सके॥ (प्रसाद)

यहां 'नीलोत्पल' शब्द का वाच्यार्थ है कमल, और व्यंग्यार्थ है 'नेत्र'। वाच्यार्थ नितान्त अभीष्ट नहीं है, यह व्यंग्यार्थ के द्योतनार्थ अत्यन्त तिरस्कृत हो गया है।

३. वस्तु-ध्वनि—जहां व्यंग्यार्थ किसी वस्तु[1] के रूप में प्रतीत होता है, वहां वस्तु-ध्वनि मानी जाती है। यथा—

(१) भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥[2] ध्वन्यालोक १.४ (वृत्ति)

[हे धार्मिक व्यक्ति! गोदावरी नदी के किनारे कुंज में रहने वाले मदमत्त सिंह ने उस कुत्ते को मार डाला है। अब आप निश्चिन्त होकर भ्रमण कीजिए।]

यहां वाच्यार्थ तो विधि-रूप है कि निश्शंक होकर घूमो फिरो, किन्तु व्यंग्यार्थ निषेध-रूप है कि यहाँ से भाग जाओ, अब यहाँ सिंह आ गया है, और यह व्यंग्य वस्तु-रूप है।

(२) वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीपशिखा सी शान्त भाव में लीन,
वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति-रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन,
दलित भारत की विधवा है। (निराला)

---

१. यहां 'वस्तु' शब्द से तात्पर्य है कोई भाव (कॉनसैप्ट)।
२. 'भम धम्मिअ······' प्राकृत पद्य की संस्कृतच्छाया।

इस पद्य में भारत की विधवा को 'पूजा', 'दीपशिखा', 'क्रूरकाल ताण्डव की स्मतिरेखा', 'छुटी लता' आदि से उपमित किया गया है। इन उपमानों से भारत की विधवा की क्रमश: पवित्रता, तेजस्विता, दयनीय दशा तथा असहायावस्था द्योतित होती है। 'पवित्रता' आदि वस्तु हैं।

४. **अलंकार-ध्वनि**—जहां व्यंग्यार्थ किसी अलंकार के रूप में प्रतीत होता है, वहाँ अलंकार-ध्वनि होती है। यथा—

(१) रजनीषु विमलभानोः करजालेन प्रकाशितं वीर।
धवलयति भुवनमण्डलमखिलं तव कीर्तिसंततिः सततम् ॥

—सा० द० ४र्थ परि०

[हे वीर, केवल रात्रि में ही चन्द्रमा की किरणों से प्रकाशित होने वाले भुवनमण्डल को अब आपकी कीर्ति दिन-रात शुभ्र कर रही है।]

कीर्ति चन्द्रमा की अपेक्षा अधिक प्रकाश करती है—यह व्यतिरेक अलंकार यहाँ वाच्य-रूप में प्रस्तुत न होकर व्यंग्य-रूप में प्रतीत होता है।

(२) दियो अरघ नीचे चलौ संकट भानै जाइ।
सुचती ह्वै औरें सबै ससिहिं विलोकैं आइ ॥ (विहारी)

[हे सखि ! एक कहना मानो, दूज का चाँद देख चुकी, उसे अर्घ्य भी दे चुकी, अब आओ गणेश-चतुर्थी के व्रत का पारायण करें। कहीं ऐसा न हो कि अन्य सभी सखियां दूज की रात्रि में भी आकाश में पूनम का चाँद उदित हुआ समझ उसे देखने के लिए इकट्ठी हो जाएं।]

'मुख-चन्द्र सोहत' इस प्रकार के उदाहरणों में रूपक अलंकार होता है, और यह वाच्य कहाता है। किन्तु उपर्युक्त पद्य में रूपक अलंकार व्यंग्य है, क्योंकि नायिका के मुख पर चन्द्रमा का आरोप रूपक अलंकार के समान स्पष्ट रूप में—वाच्य रूप में—न किया जाकर, अस्पष्ट रूप में—व्यंग्य रूप में—किया गया है।

५. **रसध्वनि**—जहाँ व्यंग्यार्थ विभाव, अनुभाव और संचारिभाव के संयोग पर आधारित होता है, वहाँ रसध्वनि मानी जाती है।

काव्यशास्त्र में रस से तात्पर्य है—रसादि आठ अर्थात् रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशवलता और भावशान्ति। अतः इसे रसादि-ध्वनि भी कह सकते हैं। इसी का नाम असलक्ष्य-क्रमव्यंग्य-ध्वनि है—क्योंकि इसके उदाहरणों में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में क्रम होता हुआ भी लक्षित नहीं होता। **न संलक्ष्यः, न सम्यग् ज्ञातः सन्नपि क्रमोयस्य व्यंग्यस्य सः।** ध्वनि के अन्य भेदों

की तुलना में इसमें वाच्यार्थ के उपरान्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति इतनी त्वरित होती है कि लक्षित नहीं होती।

रस—सहृदय के हृदय में वासना-रूप से स्थित स्थायिभाव का जब काव्य-नाटक आदि में वर्णित विभाव आदि के साथ संयोग होता है तो वह स्थायिभाव रस-रूप में अभिव्यक्त होता है। यथा—

(१) एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो,
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।
दम्पत्योः शनकैरपांगवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहः॥ सा० द० ३.१९८(वृत्ति)

[पति और पत्नी एक ही शय्या पर मानवश एक-दूसरे से मुंह फेरे हुए चुपचाप सोये हुए हैं। दोनों के मन में एक-दूसरे के प्रति अनुनय करने की इच्छा भी है, पर अपने-अपने गौरव की रक्षा-हेतु बोल नहीं पा रहे कि इतने में धीरे-धीरे कटाक्ष-वीक्षण द्वारा उनकी आंखें चार हो गयीं, और मान-कलह टूट गया, और हंसी का फव्वारा छोड़ते हुए वे दोनों आलिंगन-बद्ध हो गये।]

यहाँ दम्पती आलम्बन-विभाव है। एकान्त स्थान उद्दीपन-विभाव है। कटाक्ष-वीक्षण, हंसना, आलिंगन, अनुभाव है। अनुनय की इच्छा संचारिभाव है। इनके संयोग से सहृदय का 'रति' नामक स्थायिभाव संयोग शृंगार रस के रूप में अभिव्यक्त (निष्पन्न अथवा परिणत) हो जाता है।

(२) एक पल मेरे प्रिया के दृग-पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे।
चपलता ने इस विकंपित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था॥ (पन्त)

यहां आलम्बन-विभाव नायक और नायिका है। उद्दीपनविभाव है नायिका के दृग-पलकों का ऊपर नीचे गिरना। अनुभाव है—नायक का विकम्पित पुलक। संचारिभाव हैं—लज्जा, चपलता आदि। इस सम्पूर्ण काव्य-सामग्री से ध्वनि यह निकलती है है कि दोनों में अतिशय प्रणय-भाव है—इस प्रतीति के उपरान्त काव्यानन्द प्राप्त होता है। उक्त सामग्री के कारण यहां 'रस-ध्वनि है—इसे संक्षेप में 'रस' भी कहते हैं। यह शृंगार रस का उदाहरण है।[1]

---

१. इसी सम्बन्ध में संस्कृत का एक प्रसिद्ध उदाहरण उल्लेख्य है—
शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥ सा० द० १म परि०

यहां यह उल्लेखनीय है कि रसादि-ध्वनि अथवा असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि से तात्पर्य है रस, भाव, रसाभास भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशवलता और भावशान्ति । ऊपर रस का लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है । अब शेष सातों के लक्षण तथा उदाहरण लीजिए ।

भाव—भाव वहां माना जाता है जहां (१) निर्वेद, ग्लानि, शंका आदि संचारि-भाव प्रधानता से प्रतीयमान (व्यंजित) हों, (२) देवता, राजा, राष्ट्र, गुरु आदि के प्रति रति-भाव प्रधानता से प्रतीयमान हो, (३) विभाव आदि के सम्यक् निर्वहण के अभाव में रति, हास, उत्साह आदि स्थायिभाव उद्‌बुद्ध-मात्र रह गये हों ।

(१) प्रधानता से प्रतीयमान (व्यंजित) लज्जा रूप अवहित्था नामक संचारिभाव—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥ (कुमारसम्भव)

(अनुरूप वर है शिव इसका'—
देवर्षि के कहते ही इतना,
बैठी पास पिता के ऊमा,
लगी गिनने कमल के पत्तों को वह,
मानों खेल-खेल में झुके-झुके आनन से ।]

—हिन्दी रूपान्तर

प्रधानता से प्रतीयमान (व्यंजित) मति नामक संचारिभाव—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥
[क्षत्रिय संग विवाह-योग्य यह इसमें कुछ सन्देह नहीं-
मेरा शुभ मन है अभिलाषी इस कन्या में रमता जो ।
संशय-स्थल में साक्षी होती सज्जन की बस अन्तःवृत्ति,
यह कन्या है रमणी मेरी, यह ही मेरी रमणी है ।।]

—हिन्दी-रूपान्तर

(२) मातृभूमि (राष्ट्र) के प्रति व्यंजित रतिभाव—

शुचि सुधा सींचता रात में तुझ पर चन्द्रप्रकाश है ।
हे मातृभूमि ! दिन में तरणि करता तम का नाश है ।।

—(मैथिलीशरण गुप्त : पद्य-प्रबन्ध)

(३) केवल उद्बुद्ध-मात्र उत्साह नामक स्थायिभाव—

सहे वार पर वार अन्त तक,
लड़ी वीर बाला सी।
आहुति-सी गिर चढ़ी चिता पर,
चमक उठी ज्वाला सी॥ (सुभद्राकुमारी चौहान)

३,४. रसाभास और भावाभास—जहां रस अथवा भाव की व्यंजना में किसी कारणवश अनौचित्य झलकने लगे, वहां क्रमशः रसाभास अथवा भावाभास माना जाता है।

उदाहरणार्थ (१) नायिका का उपनायक-विषयक अथवा बहुपुरुष-विषयक प्रेम, (२) एक नर का, अथवा नरों का, एक समय पर अथवा अनेक समयों पर बहुनारी-प्रेम (३) उभयनिष्ठ रति न होना, अर्थात् नायक अथवा नायिका में से केवल एक का दूसरे के प्रति प्रेम, (४) कुलीन का नीच के प्रति अथवा नीच का कुलीन के प्रति प्रेम, (५) नायिका द्वारा मान करने के उपरान्त मानशान्ति न होना, (६) पशु-पक्षी-विषयक प्रेम, आदि।

यहां यह ज्ञातव्य है कि स्थायिभावों की अनौचित्यपूर्ण अभिव्यक्ति में 'रसाभास, माना जाएगा और संचारिभावों की अनौचित्य अभिव्यक्ति में 'भावाभास'।

रसाभास—

(१) कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूसदृशः॥

[कदली कदली ही है, करभ[1] करभ है, हाथी की सूंड हाथी की सूंड ही है। वस्तुतः, इनमें से किसी की भी समता मृगनयनी सीता के उन ऊरुद्वय से नहीं की जा सकती, जिसका सादृश्य तीनों लोकों में नहीं है।]

इस पद्य में रावण का सीता के प्रति प्रेम व्यक्त किया गया है जो कि अनौचित्य-प्रवर्तित है। अतः यहां 'शृंगाराभास' है, क्योंकि यहां उभयनिष्ठ रति नहीं है।

(२) शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः।
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥

—अभिज्ञानशाकुन्तलम् ६.१७

---

१. हाथ की पीठ, अर्थात् 'कलाई से लेकर नखों तक के भाग' को करभ कहते हैं। जंघाओं की उपमा 'करभ' की आकृति से दी जाती है—'करभोपमोरूः'। (रघुवंश ६.८६)

[शाखाओं पर जिनकी लटके वल्कल
ऐसे वृक्ष बनाने हैं—
नीचे एक मृगी मृग के सींगों से,
निज बांया नयन खुजाती हो ।]—हिन्दी-रूपान्तर

यहां पशु-विषयक प्रेम वर्णित होने के कारण रसाभास है।

भावाभास—

सीता को लक्ष्य में रख कर रावण की उक्ति—

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी
सा स्मेरयौवनतरंगितविभ्रमाङ्गी ।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं
तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥

[वह पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान मुख वाली, तथा चंचल और बड़ी-बड़ी आंखों वाली, उभरते नव-यौवन से उद्भूत हाव-भावों से इठला रही है। अब मैं क्या करूँ? उसके साथ किस प्रकार मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करूं? उसकी स्वीकृति प्राप्त करने का क्या उपाय है?]

यहां रावण की सीता के प्रति 'चिन्ता' अनौचित्य-प्रवर्तित है, क्योंकि यह भाव उभयपक्ष-निष्ठ न होकर एकपक्ष-निष्ठ है।[1]

(५, ६.७) **भावोदय, भावसंधि और भावशबलता**—जहां एक भाव के उदय का वर्णन हो वहां भावोदय माना जाता है, जहां दो भावों का वर्णन हो वहां भावसन्धि, और जहां दो से अधिक भावों का वर्णन हो वहां भावशबलता मानी जाती है।

(८) **भावशान्ति**—जहां एक भाव उदित होकर शान्त हो जाए वहां भाव-शान्ति मानी जाती है।[2]

१. यहां यह उल्लेख्य है कि काव्यप्रकाश के अनेक टीकाकारों ने यहां भावाभास इसी लिए माना है कि कामशास्त्र तथा कवि-सम्प्रदाय के नियम के अनुसार पहले स्त्री के अनुराग का वर्णन करना चाहिए, फिर पुरुष के अनुराग का, परन्तु यहां पुरुष के अनुराग का वर्णन किया गया है और वह भी अननुरक्ता स्त्री के प्रति। परन्तु इन टीकाकारों द्वारा भी 'भावाभास' मानने का मुख्य हेतु यही माना गया है कि यहाँ उभयनिष्ठ रति नहीं है।

२. (क) पाठकों से अपेक्षा की जाती है कि वे इन चारों के उदाहरण स्वयं ढूंढ लें।
(ख) ये रस, भाव आदि आठों परस्पर मित्र भी होते हैं और अमित्र भी।

यहां यह ज्ञातव्य है कि रसादि—रस, भाव आदि आठों—ध्वनि (व्यंग्यार्थ) पर ही आश्रित रहते हैं, न कि वाच्यार्थ पर। उदाहरणार्थ—**'चन्द्रमण्डलमालोक्य शृंगारे मग्नमन्तरम्'** इसमें 'शृंगार' शब्द का प्रयोग कर देने से शृंगार रस की अभिव्यक्ति नहीं हो जाती। इसी प्रकार—

(क) आः कितना **सकरुण** मुख था, आर्द्र सरोज अरुणमुख था!

(ख) कौशल्या क्या करती थीं, कुछ-कुछ **धीरज** धरती थीं।

ऐसे स्थलों में 'करुण', 'धीरज', शब्दों के प्रयोग कर देने पर भी करुण रस की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः रसादि को ध्वनि (व्यंग्यार्थ) पर आश्रित माना गया है, न कि वाच्यार्थ पर, और इसी कारण आनन्दवर्धन ने रसादि को ध्वनि का ही एक भेद माना है।

इस प्रकार ध्वनि के ये पांच प्रमुख भेद हैं। यही भेद पद, वाक्य, प्रबन्ध आदि के रूप में बहुसंख्यक बन जाते हैं। यहां यह उल्लेख्य है कि यह आवश्यक नहीं है कि प्रबन्धगत ध्वनि का काव्य-चमत्कार मुक्तक-ध्वनि (पदगत अथवा वाक्यगत) के काव्य-चमत्कार की अपेक्षा उत्कृष्ट होता है। मुक्तक भी प्रबन्ध-काव्यों के समान चमत्कार-पूर्ण होते हैं। उदाहरणार्थ, अमरुक कवि के मुक्तक।[1]

(ख) गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के प्रमुख आठ भेद

जहां व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा गौण (अप्रधान) अर्थात् न्यून अथवा समान रूप से चमत्कारक हो, वहाँ **गुणीभूतव्यंग्य-काव्य** माना जाता है।[2] यह गौणता आठ कारणों से सम्भव है। अतः गुणीभूतव्यंग्य के निम्नोक्त प्रमुख आठ भेद बताये गये है—१. अगूढव्यंग्य, २. अपरांगव्यंग्य, ३. वाच्यसिद्धयंगव्यंग्य ४. अस्फुटव्यंग्य, ५. संदिग्ध-प्राधान्यव्यंग्य, ६. तुल्य-प्राधान्यव्यंग्य, ७. काक्वाक्षिप्तव्यंग्य, ८. असुन्दर-व्यंग्य।[3]

१. **अगूढ़-व्यंग्य**—जहां व्यंग्यार्थ गूढ़ न हो, अपितु स्पष्ट हो, वहां अगूढ़-व्यंग्य नामक गुणीभूतव्यंग्य-काव्य माना जाता है।

(१) **एतच्चकास्ति रवेरुदयाचलचुम्बि बिम्बम्।** का० प्र० ५.११४

[उदयाचल को चूमने वाला यह रवि-बिम्ब शोभित हो रहा है।]

---

१. **मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा हि अमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगारस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।** ध्वन्या० ३.७ (वृत्ति)

२. **प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य।**
यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥ ध्वन्यालोक ३.३५

३. फिर यही आठ भेद ध्वनि के उक्त भेदों में से अधिकतर भेदों के साथ मिलकर गुण-प्रक्रिया द्वारा असंख्य बन जाते हैं—न केवल हजारों, लाखों, बल्कि करोड़ों तक जा पहुंचते हैं। (देखिए काव्यप्रकाश ४.४६,४७ तथा 'बालबोधिनी' टीका।)

यहां 'चूमना' शब्द अपने वाच्यार्थ का द्योतक नहीं है, अपितु इस व्यंग्यार्थ का द्योतक है कि रवि-बिम्ब उदयाचल से अत्यन्त मिला हुआ है। किन्तु यह व्यंग्यार्थ 'अगूढ़' है—अत्यन्त स्पष्ट है।

(२) **पुत्रवती युवती जग सोई।**
रामभक्त सुत जाकर होई॥—तुलसी

इस पद्यांश का वाच्यार्थ स्पष्ट है। व्यंग्यार्थ यह है कि जिनके पुत्र रामभक्त हैं, केवल वही माताएं प्रशंसनीय हैं, शेष नहीं। इस प्रकार यहां 'पुत्रवती' शब्द का व्यंग्यार्थ है प्रशंसनीय जननी, किन्तु यह 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' वाच्यार्थ के ही समान अगूढ़ (स्पष्ट) है। अतः यहां अगूढ़ गुणीभूतव्यंग्य है। वस्तुतः, व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा न तो अधिक स्पष्ट होना चाहिए, और न ही अधिक अस्पष्ट। इसी स्थिति में ही ध्वनि-काव्य माना जाता है, अन्यथा गुणीभूतव्यंग्य-काव्य।

२. **अपरांग-व्यंग्य**—जहां एक व्यंग्य किसी दूसरे व्यंग्य का अंग बन जाए। इसका अभिप्राय यह है कि जहां ध्वनि-भेदों में से कोई एक किसी दूसरे का, अथवा वाच्यार्थ का अंग बनकर उसका उत्कर्ष करे, और साथ ही, जिसका अंग बने उस अंग की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण भी हो।

(१) रस की अंगता को **रसवत् अलंकार** कहते हैं, (२) भाव की अंगता को **प्रेयस्वत् अलंकार**, (३) रसाभास और भावाभास की अंगता को **ऊर्जस्वि अलंकार**, और (४) भावशबलता की अंगता को **समाहित** अलंकार (५) भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता की अंगता को क्रमशः **भावोदय, भावसंधि** और **भावशबलता** अलंकार कहते हैं।

इन अंगभूतों को 'अलंकार' इसलिए कहा जाता है कि ये अपने अंगीभूतों को अलंकृत करते हैं—अंग अलंकार हैं और अंगी उनके द्वारा अलंकरणीय। उदाहरण लीजिए—

रणभूमि में कट कर गिरे हुए भूरिश्रवा के हाथ को देखकर उसकी पत्नी विलाप कर रही है—

(१) **अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।**
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥ काव्यप्रकाश ५.११६

[मेरी रशना को खींचने वाला, पीन स्तनों का मर्दन करने वाला, नाभि, ऊरु तथा जघन का स्पर्श करने वाला तथा नीवी को खोलने वाला यह हाथ है।]

यहां शृंगार रस का वर्णन यद्यपि चमत्कारपूर्ण है, किन्तु यह करुण रस का अंग बनकर इसकी पुष्टि कर रहा है। अतः अपरांग गुणीभूतव्यंग्य है।

(२) **सपनो है संसार यह रहत न जाने कोय।**
मिलि पिय मनमानी करौ काल कहां धौं होय॥ (अज्ञात)

'मिलि पिय मनमानी करौ' इस पद्यांश में शृंगार रस की सामग्री है और शेष अंश में शान्त रस की। इस पद्य में शान्त रस अंग अर्थात् पोषक है, और शृंगार रस उससे पोषित होने के कारण अंगी है, किन्तु शान्त रस (अंग) शृंगार रस (अंगी) की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण बन गया है। अतः अपरांग है। यही उदाहरण रसवत् अलंकार का भी है। इसी प्रकार जिन पद्यों में महादेव, पार्वती आदि के प्रति भक्ति की व्यंजना करते हुए भी कवि उनका रति-सम्बन्ध अपेक्षाकृत अधिक चमत्कारपूर्ण रूप में वर्णित करता है, वहाँ भी अपरांग गुणीभूतव्यंग्य होता है।

३. **वाच्यसिद्ध्यंग-व्यंग्य**—जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए उसका अंग बन जाए।[1]

(१) **दीपयन् रोदसीरन्ध्रमेष ज्वलति सर्वतः।**
प्रतापस्तव राजेन्द्र वैरिवंशदवानलः॥

[हे राजेन्द्र! शत्रु-वंश का दावाग्नि-रूप तुम्हारा यह प्रताप पृथ्वी और आकाश के बीच सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है।] यहाँ 'प्रताप' को दावाग्नि कहा गया है, किन्तु इस वाच्यार्थ के चमत्कार की सिद्धि तभी संभव है, जबकि 'वंश' शब्द के द्वारा श्लेष के माध्यम से यह व्यंग्यार्थ भी ग्रहण किया जाएगा कि शत्रु-वंश 'बांस' के जंगल के समान है, क्योंकि दावाग्नि शब्द 'जंगल की आग' के लिए प्रसिद्ध है। इस प्रकार यहाँ 'व्यंग्यार्थ' वाच्यार्थ की सिद्धि का अंग है।

(१) **वसुधा पर ओस बने बिखरे**
हिमकण आँसू जो क्षोभ भरे—
ऊषा बटोरती अरुण गात। (प्रसाद)

उषाकाल का वर्णन यहां प्रस्तुत है। वाच्यार्थ है—पृथ्वी पर आंसू के रूप में बिखरे ओस-कणों को उषा बटोर लेती है। व्यंग्यार्थ है जीवन का शुभ प्रभात व्यक्ति के पूर्ण दुःखों को मिटा देता है। यह व्यंग्यार्थ उक्त वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए अंग (पोषक) बन गया है। इसके जानने के उपरान्त उषाकाल द्वारा ओस के बटोरने के विषय चमत्कार-पूर्ण हो उठता है।

(२) **खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के,**
प्रथम वसन्त में गुच्छ गुच्छ॥ (निराला)

जगत् में वसन्त के आगमन पर नवीन तथा सुगन्धित पुष्पों के गुच्छ-समूह खिल उठे—यह उक्त पद्य का वाच्यार्थ है। व्यंग्यार्थ यह है कि इस नायिका के यौवन

---

१. 'अपरांग' में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का अंग बनकर उसका उत्कर्ष करता है, किन्तु वाच्यसिद्ध्यंग' में वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए व्यंग्यार्थ की अपेक्षा रहती है।

में पदार्पण करते ही उसके मन में अनेक लालसाएं उदित हो उठीं। यह व्यग्य 'तुरन्त समझ नहीं आता, बहुत देर तक सोचने के बाद कठिनता से समझ आता है, अत: अस्फुट है।

(३) निशा की धो देता राकेश चाँदनी में जब अलकें खोल।
कली से कहता था मधुमास बता तो मधु मदिरा का मोल॥ (यामा)

यहां यद्यपि 'राकेश' से नायक की, निशा' से नायिका की, मधुमास' से नायक की, और 'कली' से नायिका की प्रतीति होती है, किन्तु इस व्यंग्यार्थ की अपेक्षा स्वयं वाच्यार्थ कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण है, और व्यंग्यार्थ इस वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए उसका अंग बनकर सहायता कर रहा है।

४. **अस्फुट-व्यंग्य**—जहाँ व्यंग्य स्फुट न हो, अर्थात् क्लिष्ट हो, बहुत देर से समझ में आए।

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम्॥[1]

[आपका दर्शन न होने पर दर्शन की उत्कण्ठा रहती है, और दर्शन होने पर वियोग का भय लगा रहता है। इस प्रकार आपका दर्शन न होने और होने, दोनों स्थितियों में आपसे सुख नहीं मिलता।]

यहाँ नायिका का अभिप्राय यह है कि आप ऐसा उपाय करें कि आप न तो अदृष्ट रहें और न आपके वियोग का भय हो, अर्थात् सदा मेरे पास रहें। किन्तु यह व्यंग्यार्थ अस्फुट (क्लिष्ट) है।[2]

५. **सन्दिग्धप्राधान्य-व्यंग्य**—जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में किस की प्रधानता है—यह सन्देह बना रहे।

(१) हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशि।
उमामुखे विम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥
—कु० सं० ३.६७, का० प्र० ५.१२९

---

१. न देखूं तो दर्शन की उत्कण्ठा जागे, देखूं तो विच्छेद का डर रहता है।
चाहे तुमको देखूं या न देखूं, नहीं मिल पाता है चैन मुझे तो॥

२. यह ज्ञातव्य है कि चित्रकाव्य में भी व्यंग्य अस्फुट माना गया है (दे० पृष्ठ ९७), किन्तु वहाँ अस्फुटता का कारण है गुण अथवा अलंकार के चमत्कार का आधिक्य। यहाँ अस्फुटता भाव की दुरूहता के कारण है। यदि इस भेद का नाम अस्फुट-व्यंग्य न होकर अस्पष्ट-व्यंग्य अथवा कोई ऐसा नाम होता तो समुचित रहता।

[जैसे चन्द्रमा के उदित होने पर समुद्र अधीर हो उठता है, उसी प्रकार महादेव ने बिम्बफल-सदृश निम्नोष्ठ वाले पार्वती के मुख को देखा तो वह अधीर हो उठे और उसे अपने तीनों नेत्रों से देखते रह गये।]

इस पद्य में वाच्यार्थ का चमत्कार है—महादेव का पार्वती के मुख के प्रति विलोचन-व्यापार, और व्यंग्यार्थ का चमत्कार है उसे परिचुम्बित करने की तीव्र इच्छा—इन दोनों चमत्कारों में से यहाँ कौन-सा चमत्कार प्रधान है, यह सन्देहास्पद है।

(२) थके नयन रघुपति छवि देखी। पलकनहूं परिहरी निमेखी ॥
अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी ॥ (तुलसी)

जैसे चकोरी चन्द्रमा को देखती रह जाती है वैसे सीता भी राम को देखती रह गयी—यह वाच्यार्थ है। अधिक स्नेह के कारण सीता की देह भोरी (स्तब्ध) रह गयी—इससे 'जड़ता' संचारिभाव व्यंजित होता है। उक्त वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में से कौन-सा अर्थ अधिक चमत्कारपूर्ण है इसमें सन्देह है।

६. **तुल्यप्राधान्य-व्यंग्य**—जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का चमत्कार लगभग एक-समान प्रतीत हो।

(१) ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥ महावीरचरित, २य अंक

[परशुराम ने राक्षसों के उपद्रव से क्रुद्ध होकर रावण को लक्ष्य में रखकर रावण के मन्त्री माल्यवान् को यह सन्देश भेजा कि ब्राह्मणों का अपमान न करना तुम्हारे ही भले के लिए है, और इसी कारण परशुराम तुम्हारे मित्र बने रहेंगे, अन्यथा वह बिगड़ जाएंगे।]

इस पद्य में 'बिगड़ जाएंगे' इस वाच्यार्थ और 'राक्षस-कुल का तुरन्त ध्वस कर देंगे' इस व्यंग्यार्थ का चमत्कार तुल्य-रूप से हृदयहारी है।

(२) पश्चिम जलधि में
मेरी लहरीली अलकावली समान
लहरें उठती थीं मानो चूमने को मुझको
और सांस लेता था समीर मुझे छूकर।
(प्रसाद : लहर, 'प्रलय की छाया')

यहाँ वाच्यार्थ है—कमला की लम्बी-लम्बी 'केशराशि' तथा 'प्रेमोच्छ्वासों का क्रमशः 'जलधि की तरंगों' और 'समीर' इन उपमानों द्वारा वर्णन, और व्यंग्यार्थ

है—कमला का अपने रूप-सौन्दर्य पर स्वयं मुग्ध होना। वस्तुतः, ये दोनों अर्थ ही तुल्य रूप से चमत्कार-पूर्ण प्रतीत होते हैं।

७. **काक्वाक्षिप्तव्यंग्य**—जहां व्यंग्यार्थ काकु द्वारा आक्षिप्त (स्वतःगृहीत) हो। काकु कहते हैं भिन्न कंठ-ध्वनि को।

(१) कौरवों के आगे युधिष्ठिर की ओर से किये गये सन्धि-प्रस्ताव को सुनकर भीमसेन की सहदेव के प्रति उक्ति—

> **मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्,**
> **दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।**
> **संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू,**
> **सन्धिं करोतु भवतां नृपतिं पणेन॥** वेणीसंहार

[मैं रण में क्रोध से सौ कौरवों को न मारूँगा ? दुःशासन की छाती से रुधिर न पीऊंगा ? गदा से दुर्योधन की टांगें न तोड़ूंगा ? तुम्हारे राजा (मेरे नहीं) पण (पांच ग्रामों के लेने की शर्त) पर सन्धि कर लें।]

यहाँ काकु द्वारा निषेध का अर्थ विधि-परक ही द्योतित होता है कि मैं कोपवश सौ कौरवों को मार डालूँगा, आदि।

> (२) **प्रेम अर्चना यही, करें हम मरण को वरण ?**
> **स्थापित कर कंकाल भरें जीवन का प्रांगण ?**
> **शव को दें हम रूप, रंग, आदर, मानव का ?**
> **मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?**
> 'ताज' (पन्त : आधुनिक कवि)

'क्या यही प्रेम की अर्चना है कि हम मरण का वरण करें ? इसका व्यंग्यार्थ है कि ऐसा करना समुचित नहीं है, और यह *व्यंग्यार्थ* काकु पर आश्रित है।

> (३) कितीं न गोकुल की वधू काहिन किहि सिखि दीन।
> कौंने तजी न कुल गली, ह्वै मुरली सुर लीन॥ (विहारी)

> (४) —अरावली शृंग सा समुन्नत सिर किसका ? (प्रसाद)
> —वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ? (प्रसाद)
> —कितना सुहाग था कैसा अनुराग था ? (प्रसाद)

आदि प्रश्नवाचक कथनों से जो व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वह काक्वाक्षिप्त है, अर्थात् काकु द्वारा प्रतीत होता है।

८. **असुन्दरव्यंग्य**—जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ सुन्दर न हो।

(१) वानीरकुंजोड्डीन-शकुनि-कोलाहलं शृण्वन्त्या ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यंगानि ॥ (प्राकृत से संस्कृत)

[वेत के लतागृह में उड़ते हुए पक्षियों के शोर को सुनकर घर के काम-काज में लगी हुई वधू के अंग शिथिल होने लग गये ।]

'अंग शिथिल होने लग गये' इस वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ यह है कि 'उसका कोई 'दत्तसंकेत' प्रेमी नियत समय पर लतागृह में आ पहुँचा है ।' किन्तु यह व्यंग्यार्थ उक्त वाच्यार्थ की अपेक्षा कम सुन्दर है ।

(२) निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप पाओगे ?

'केश-पाश के अन्धकार में न छिप सकना'—इस वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ है कि मैं तुम्हें खोज लूंगा । किन्तु यह व्यंग्यार्थ इतना चमत्कारपूर्ण नहीं है जितना कि उपर्युक्त वाच्यार्थ चमत्कारपूर्ण है ।

चित्र-काव्य : अलंकार-निवन्ध

पीछे 'अलंकार-सिद्धान्त' में यह प्रतिपादित किया गया है कि भामह, दण्डी और उद्भट—इन तीनों अलंकारवादी आचार्यों के अनुसार 'अलंकार' काव्य का सर्वस्व था, किन्तु आगे चलकर यह धारणा नितान्त परिवर्तित हो गयी, और इस परिवर्तन का श्रेय आनन्दवर्धन को है ।

ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने व्यंग्यार्थप्रधान और व्यंग्यार्थाप्रधान काव्य को क्रमशः ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य नाम दिया है तो इनसे इतर (अर्थात् स्फुट-व्यंग्य-रहित) काव्य को 'चित्र' नाम से पुकारा है ।

गुणप्रधानभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥ ध्वन्यालोक ३.४३

मम्मट, अप्पय्यदीक्षित और नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी इस दिशा में आनन्दवर्धन का अनुसरण किया है ।[1]

इन चारों आचार्यों से मत में **चित्रकाव्य शब्दालंकार और अर्थालंकार का तो पर्याय है ही, साथ ही** मम्मट और नरेन्द्रप्रभसूरि ने अलंकार के अतिरिक्त गुण-युक्त **काव्य को भी 'चित्र'** कहा है ।[2] पर यहाँ उनका 'गुण' शब्द द्रुत्यादि चित्तवृत्तियों के

---

१. (क) **शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्** । काव्यप्रकाश १.५
(ख) चित्रमीमांसा पृष्ठ ५, (ग) अलंकारमहोदधि १.१७

२. **चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्** । का० प्र० १ म उ०

द्योतक माधुर्य आदि गुणों का बोधक न होकर गुणाभिव्यंजक रचना का ही पर्याय है,[1] जैसा कि उनके उदाहरणों से भी स्पष्ट है। वस्तुत:, रस के नित्य-धर्मस्वरूप 'गुण' को चित्रकाव्य का अंग समझना युक्तियुक्त है भी नहीं।[2]

आनन्दवर्धन के शब्दों में—'चित्र (अवर, अधम) काव्य उसे कहते हैं जो रसभावादि-तात्पर्यरहित और व्यंग्यार्थ-विशेष के प्रकाशन की शक्ति से शून्य हो। चित्रकाव्य केवल शब्द और अर्थ के वैचित्र्य के आधार पर निर्मित एक प्रतिकृति-मात्र है।'[3]

व्यंग्य-रहितता चित्रकाव्य की सबसे बड़ी विशेषता है। पर यहाँ एक शंका उपस्थित होती है—'संसार की कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो काव्य में वर्णित होने पर निमित्त-नैमित्तिक पद्धति के अनुसार अन्ततोगत्वा विभाव रूप से रस या भाव का अंग न बन जाती हो। अत: चित्रकाव्य को वस्तु-व्यंग्य और अलंकार-व्यंग्य से रहित तो कह सकते हैं, पर उसे रस-व्यंग्य से रहित कभी नहीं कह सकते।'[4]

किन्तु अपनी उक्त शंका का समाधान आनन्दवर्धन ने स्वयं कर दिया है—'यह सत्य है कि रसादि-प्रतीति-रहित कोई भी काव्य सम्पन्न नहीं हो सकता, पर यह सब कुछ कवि की विवक्षा पर आधृत है। जब कवि रस, भाव आदि की विवक्षा से रहित होकर शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार की रचना करता है, तब उस रचना में रस आदि के किसी न किसी रूप में होने पर भी रसादि-शून्यता की कल्पना की जाती

---

१. अत्र गुणपदं तद्व्यंजकपरम्। अन्यथा रसधर्मतया तन्निबन्धनचमत्कारित्वे चित्रत्वानुपपत्तेः।—का० प्र० पृष्ठ २२, टीका भाग।

२. रस तथा ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों की स्थिति दो प्रकार की है—(१) ये क्रमश: द्रुति, दीप्ति और व्याप्ति नामक चित्तवृत्तियों से युक्त आह्लाद आदि के पर्याय हैं, और इसीलिए रस के नित्य धर्म हैं। (२) ये तीनों क्रमश: अपनी-अपनी नियत वर्णावली और रचना के भी अभिव्यंजक हैं। मम्मट और उनके अनुसार नरेन्द्रप्रभसूरि जब चित्रकाव्य को गुणयुक्त काव्य भी कहते हैं तो इससे उनका तात्पर्य है—गुणाभिव्यंजक वर्णों से युक्त रचना।

३. रसभावादितात्पर्यरहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशन-शक्तिशून्यं च काव्य केवलवाच्य-वाचक-वैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्।
—ध्वन्यालोक ३.४३ (वृत्ति)

४. तत्र, यत्र वस्त्वलंकारान्तरं वा व्यंग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः। यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव। यस्मादवस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते, अन्ततो विभावत्वेन।—वही

है। ऐसी अवस्था में जो रसादि-प्रतीति होती भी है, वह परिदुर्वल होती है।'[1] अतः चित्रकाव्य वह 'अलंकार-निबन्ध' है, जहाँ रस-भावादि के किसी न किसी रूप में विद्यमान रहने पर भी कवि की विवक्षा इन पर नहीं रहती—

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥ ध्वन्या० ३.४३ (वृत्ति)

इधर मम्मट ने भी इसी तथ्य का अनुमोदन करते हुए कहा—'चित्रकाव्य' (अलंकार-निबन्ध) को नितान्त व्यंग्य-शून्य कभी नहीं कह सकते। इसमें प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ रहता अवश्य है, पर वह स्फुट नहीं होता।[2] इसी कारण इसे अधम काव्य कहा गया है।

इसी प्रसंग में आनन्दवर्धन ने एक विकल्प यह प्रस्तुत किया है कि 'चित्रकाव्य' को काव्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह प्रधानतः रस-भाव आदि से निरपेक्ष और स्फुट-प्रतीयमानार्थ-रहित होता है। पर उन्होंने जब देखा कि विशृंखल अर्थात् अभ्यासार्थी कवियों की प्रवृत्ति इसी ओर अधिक रहती है तो उन्होंने इसे भी काव्य का एक प्रकार मानने की अनुमति दे दी—

तच्चित्रं कवीनां विशृंखलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्तिदर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्। ध्वन्यालोक ३.४३ (वृत्ति)

इस प्रकार उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है—

(१) चित्रकाव्य प्रधानतः अलंकार-निबन्ध को कहते हैं।

(२) चित्रकाव्य को ध्वनि-काव्य और गुणीभूतव्यंग्य-काव्य की तुलना में 'अव्यंग्य' कहा गया है, किन्तु 'अव्यंग्य' से तात्पर्य व्यंग्य-रहितता नहीं है, अपितु 'व्यंग्यार्थ' की अस्फुटता है। अर्थात्—

जिस काव्य में किसी शब्दगत अलंकार अथवा किसी अर्थगत अलंकार अथवा किसी गुण की वर्णव्यंजकता का चमत्कार इतना अधिक हो कि व्यंग्यार्थ अस्फुट रह जाए, वहां चित्रकाव्य माना जाता है।

---

१. सत्यं, न तादृक् काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः। किन्तु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालंकारमर्थालंकारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः। वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते।
—ध्वन्यालोक ३.४३ (वृत्ति)

२. अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। काव्यप्रकाश १.४

(३) यद्यपि चित्रकाव्य में व्यंग्य अस्फुट (नगण्य रूप से) रहता है, तथा रस, भाव आदि किसी न किसी रूप में अवश्य रहते हैं, पर कवि की विवक्षा इनकी अपेक्षा रचना तथा शब्द और अर्थ के चमत्कार-द्योतन में ही अधिक रहती है। अतः **'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'** इस मान्यता के अनुसार चित्रकाव्य को व्यंग्य-रहित और नीरस माना गया है।

(४) ध्वनि के तारतम्य के आधार पर चित्रकाव्य को भी काव्य का एक प्रकार (अधम, अवर प्रकार) माना गया है, **क्योंकि चित्रकाव्य में व्यंग्यार्थ, अस्फुट रूप से सही, रहता अवश्य है।**

(५) यहां यह ज्ञातव्य है कि चित्रकाव्य को चित्रालंकार (खड्ग-वन्ध आदि) नहीं समझना चाहिए। चित्रालंकार तो शब्दालंकार है।

अब इस सम्बन्ध में कतिपय उदाहरण लीजिए :

प्रति-पल-परिवर्तित व्यूह—भेद-कौशल-समूह,—
राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह,—क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरित-वह्नि—राजीव-नयन-हत-लक्ष्य-वाण,
लोहित-लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
—राम की शक्ति पूजा (निराला)

इसमें कवि की विवक्षा अनुप्रासालंकार-जन्य चमत्कार-द्योतन में ही अधिक है। अतः यह शब्दचित्र (शब्दालंकार) का उदाहरण है।

(२) **विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।**
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती॥ का० प्र० १.१५

[अर्थात्, हयग्रीव के निकलने की खबर सुनकर इन्द्र ने [अमरावती नगरी] की अर्गला बन्द करा ली, मानो अमरावती [नगरी-रूपी-नायिका] ने डर के मारे आखें बन्द कर ली हों।]

इस पद्य में उत्प्रेक्षालंकार से जन्य वाच्यार्थ ही प्रधान है, हयग्रीव की वीरता का द्योतक व्यंग्य अस्फुट (नगण्य) मात्र रह गया है।

(३] इदं किल व्याजमनोहरं वपु-
स्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया
शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति॥ अभि० शा० १.१७

[इस रूपमती के सहज मनोहर कोमल वपु को,
है जो चाहता तप के योग्य बनाना।
धारा से वह नील कमल के मृदु पल्लव की,
चाहता मानो शमी वृक्ष की शाखा से कटवाना।] हिन्दी-रूपान्तर

कालिदास के उपर्युक्त पद्य में कवि की विवक्षा उत्प्रेक्षालंकार-जन्य चमत्कार-द्योतन में ही अधिक है। अतः यह अर्थचित्र (अर्थालंकार) का उदाहरण है।

इसी प्रकार प्रसाद, ओज और माधुर्य गुणों के व्यंजक वर्णों के चमत्कार के बल पर भी जहां काव्यत्व होगा, वे स्थल भी चित्रकाव्य के ही उदाहरण हैं। उक्त **'प्रतिपल-परिवर्तित······'** पद्य में ओजगुण के व्यंजक वर्णों के कारण भी काव्यत्व की स्वीकृति की जा सकती है। इसी प्रकार निम्नोक्त पद्य में प्रसाद गुण ही काव्यत्व का कारण है—

(४) **क्षमा करो इस भाँति न तुम तज दो मुझे,**
स्वर्ण नहीं हे राम ! चरण-रज दो मुझे। साकेत (मै० श० गुप्त)

× × ×

किन्तु इनके विपरीत एक उदाहरण और लीजिए :

अलकें खुली हुई रेशम की, नयनों में चित्रों की माया,
प्राणों में मधु-पलक छके, अधरों पर मधु-आसव की छाया।
सौरभ-स्रस्त वसन आकुल है, केशर-अंग चमकते सुन्दर,
नील यवनिका हटा गगन की, चली आ रही लज्जा मंथर॥ वसन्तश्री (नगेन्द्र)

वसन्त-शोभा के उक्त वर्णन में रूपक, उत्प्रेक्षा तथा रूपकातिशयोक्ति अलंकार वर्ण्य-विषय—शृंगार रस के अन्तर्गत उद्दीपनविभाव के—उपकारक हैं। कवि की विवक्षा 'वसन्तश्री' का वर्णन करना है, न कि अलंकारों का चमत्कार दिखाना। **अतः ऐसे स्थलों में चित्रकाव्य नहीं माना जाता।**

इसी प्रकार—

अमी हलाहल मदभरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार॥

इस पद्य में भी कवि को नेत्रों के अद्भुत सौन्दर्य का वर्णन करना अभीष्ट है, न कि यथासंख्य अलंकार का चमत्कार दिखाना। हाँ, इस अलंकार का चमत्कार वर्ण्य विषय की अभिवृद्धि अवश्य कर रहा है। अतः, इस प्रकार के स्थल भी 'चित्रकाव्य' के अन्तर्गत नहीं आते।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि-तत्त्व के तारतम्य के आधार पर समग्र काव्य को तीन प्रकारों में विभक्त कर दिया है, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि काव्य-चमत्कार की दृष्टि से पहले प्रकार के उदाहरण शेष दो प्रकार उदाहरणों की अपेक्षा सदा उत्कृष्ट कोटि के होंगे, अथवा तीसरे प्रकार के उदाहरण शेष दो प्रकारों की अपेक्षा सदा हीन कोटि के होंगे, और दूसरे प्रकार के उदाहरण सदा मध्यम कोटि के ही होंगे। यह तो केवल एक शास्त्रीय व्यवस्थामात्र है।

ध्वनि-तत्त्व तथा अन्य काव्य-तत्त्व

ध्वनि-प्रवर्तक आनन्दवर्धन से पूर्व 'अलंकार' को काव्य का सर्वस्व और 'रीति' को काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया गया था, और इसके अतिरिक्त रस-तत्त्व भी प्रतिपादित हो था। आगे चलकर वक्रोक्ति-सिद्धान्त भी निरूपित हुआ। इन चारों काव्य-तत्त्वों का ध्वनि के प्रति अथवा ध्वनि का इनके प्रति क्या दृष्टिकोण रहा—यहां इसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना अपेक्षित है।

अलंकार और ध्वनि— अलकारवादी आचार्यों को काव्य के सभी तत्त्वों का अन्तर्भाव अलंकार में करना अभीष्ट था। उन्होंने यद्यपि 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग तो नहीं किया, किन्तु प्रतिवस्तूपमा, पर्यायोक्त आदि अलंकारों के लक्षणों से प्रतीत होता है कि वे ध्वनि-तत्त्व से परिचित थे, और अपने दृष्टिकोण से उन्हें ध्वनि का अन्तर्भाव विभिन्न अलंकारों में करना अभीष्ट होगा, किन्तु आनन्दवर्धन ने अलंकार को 'शब्दार्थ का शोभाकारक धर्म' माना। उनके अनुसार ध्वनि महाविषयीभूत है। उसके तारतम्य के आधार पर काव्य के तीन भेदों में से 'चित्रकाव्य' के अन्तर्गत अलंकार का चमत्कार समाविष्ट हो जाता है। अतः ध्वनि को अलंकार में अन्तर्भूत नहीं करना चाहिए।

रीति और ध्वनि—रीतिवादी वामन के ग्रन्थ में ध्वनि का साक्षात् अथवा प्रकारान्तर से सकेत नहीं मिलता। इधर आनन्दवर्धन ने वामन-सम्मत रीतिवाद का यद्यपि कहीं खण्डन तो नहीं किया, किन्तु उनके निम्नोक्त कथन से रीति के प्रति अव-हेलना अवश्य प्रकट होती है—'ध्वनि जैसे अवर्णनीय काव्य-तत्त्व को समझ सकने में असमर्थ लोगों द्वारा काव्यशास्त्रीय जगत् में रीतियां चला दी गयीं।'[1] इसके अतिरिक्त उन्होने वामन-सम्मत 'रीति' की एक विशेपता 'समस्तपदता' के आधार पर संघटना (सम्यक् घटना = रचना-शैली) का निरूपण किया, तथा इसके तीन रूप निर्धारित किये—असमासा, अल्प-समासा और दीर्घ-समासा। यही रूप आगे चलकर मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थों में रीति का स्वरूप निर्धारित करने में सहायक हुए।

रस और ध्वनि—आनन्दवर्धन ने यद्यपि रस को स्वतन्त्र काव्य-तत्त्व स्वीकार न करके ध्वनि का एक भेद 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि' माना, और इसी में रस, भाव आदि आठों को अन्तर्भूत किया, फिर भी, रस की महत्ता को उन्होंने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया।[2] उनके दृष्टिकोण से रस, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, अपने पारिभाषिक, अर्थ में, विभावादि की परिधि में सीमित है, अतः रस प्रबन्ध-काव्य (महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि) तथा दृश्य काव्य पर निःसन्देह घटित हो जाता है, अधिकतर मुक्तकों

---

१. अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः॥ ध्वन्यालोक ३.४७

२. देखिए, आगे रस-सिद्धान्त।

पर भी घटित हो जाता है, किन्तु फिर भी, ऐसे अनेक चमत्कारपूर्ण मुक्तक शेष रह जाते हैं, जिन पर वह सुघटित नहीं होता। इसी कारण, उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए रसादि को उसका एक भेद स्वीकार किया। ध्वनि का फलक अति विशाल है, और 'रस' ध्वनि का एक भेद है।

वक्रोक्ति और ध्वनि—वक्रोक्तिवाद के प्रवर्तक कुन्तक के सम्मुख आनन्दवर्धन का ग्रन्थ था, और वस्तुत: ध्वनि के समस्त भेदोपभेदों को 'वक्रोक्ति' में समाविष्ट करने के ही उद्देश्य से उन्होंने इसके पहले छह प्रमुख भेद और फिर इकतालीस उपभेद किये।[1] एक स्थान पर उन्होंने वक्रोक्ति को 'विचित्रा अभिधा' भी कहा है, जो इस तथ्य का सूचक है कि वह वक्रोक्ति को ध्वनि के समकक्ष रखना चाहते थे—ध्वनि यदि अभिधा से भिन्न है तो कुन्तक की वक्रोक्ति 'विचित्रा अभिधा' है। किन्तु वक्रोक्ति वस्तुत: काव्य का एक अधिकांशत: बाह्यपरक तत्त्व है, और ध्वनि एक पूर्णत: आन्तरिक तत्त्व। यही दोनों में प्रधान अन्तर है।

ध्वनि : काव्य की आत्मा—काव्यशास्त्र में 'आत्मा' शब्द से तात्पर्य है काव्य का वह आन्तरिक साधन जो उसमें अनिवार्यत: विद्यमान रहे। ध्वनि-तत्त्व पर यह सब घटित होता है। ध्वनि काव्य का आन्तरिक तत्त्व है। इसके बिना काव्य का अस्तित्व असम्भव है—वह काव्य में प्रमुख, गौण अथवा अस्फुट रूप से सदा विद्यमान रहती है—यहां तक कि शास्त्रीय दृष्टि से रस (रसध्वनि) का चमत्कार भी ध्वनि (व्यंग्यार्थ) पर ही आश्रित है। इसके अतिरिक्त ध्वनि साधन है, स्वयं सिद्धि अथवा साध्य नहीं है। सिद्धि अथवा साध्य तो काव्याह्लाद, काव्यानन्द अथवा रस है। अत: ध्वनि काव्य की आत्मा है।[2]

उपसंहार

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने अलंकार, रीति और रस के स्थान पर ध्वनि-तत्त्व को अधिक महत्त्व दिया। ध्वनि से तात्पर्य है वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ। ध्वनि के तारतम्य के अनुसार काव्य के तीन प्रकार हैं—ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यंग्यकाव्य और चित्रकाव्य। इन तीनों में समग्र काव्य समाविष्ट हो जाता है। अत: ध्वनि आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य का अनिवार्य तत्त्व है, इसीलिए इसे इन्होंने काव्य की आत्मा घोषित किया।[3] रस को उन्होंने ध्वनिकाव्य का एक भेद स्वीकृत किया, तथा अलंकार, गुण और रीति का स्वरूप पूर्ववर्ती आचार्यों के समान प्रस्तुत न कर रस को केन्द्र मान कर नवीन रूप से प्रस्तुत किया[4], और इस प्रकार उन्होंने ध्वनि के माध्यम से काव्यशास्त्र को एक अभिनव दिशा की ओर उन्मुख कर दिया।

OOO

---

१. देखिए आगे पृष्ठ १०५, १०६।

२, ३. विशेष विवरण के लिए देखिए आगे 'काव्य की आत्मा'।

४. देखिए आगे 'रस-सिद्धान्त'।

७.

वक्रोक्ति-सिद्धान्त

इतिवृत्त

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रवर्तन का श्रेय कुन्तक को है, यद्यपि इनसे पूर्व वक्रोक्ति-तत्त्व व्यापक और संकुचित दोनों अर्थों में प्रचलित था। इसके अतिरिक्त अलंकार, रीति, रस और—ध्वनि ये प्रमुख काव्य-तत्त्व भी सम्यक् रूप से प्रतिपादित हो चुके थे, किन्तु कुन्तक ने वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ ग्रहण करते हुए इसे काव्य का जीवित (आत्मा) माना। कुन्तक के उपरान्त इस सिद्धान्त का अनुकरण नहीं हुआ, तथा विश्वनाथ और महिमभट्ट ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इसका खण्डन किया।

'वक्रोक्ति' शब्द का दो रूपों में प्रयोग

रीति और अलंकार की भांति वक्रोक्ति शब्द का भी काव्यशास्त्र में पहले व्यापक और फिर संकुचित दोनों रूपों में प्रयोग हुआ है। इसके व्यापक अर्थ का संकेत काव्यशास्त्र के अतिरिक्त बाणभट्ट (छठी शती) के ग्रन्थ कादम्बरी में भी मिलता है, जहां राजा शूद्रक को 'वक्रोक्ति-निपुण' कहा गया है[1], तथा कविराज (११वीं शती) ने अपने ग्रन्थ 'राघव-पाण्डवीयम्' में बाणभट्ट को 'वक्रोक्ति मार्ग-निपुण' कहा।[2] कुन्तक से पूर्व भामह और दण्डी के ग्रन्थों में वक्रोक्ति के व्यापक रूप का स्रोत उपलब्ध हो जाता है[3], और वामन, रुद्रट तथा आनन्दवर्धन ने इसे केवल अलंकार के रूप में

---

१. **वक्रोक्तिनिपुणेन आख्यायिकाख्यानपरिचयचतुरेण**···। (कादम्बरी)

२. **सुबन्धुबाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा॥** रा० पा० १.१४१

३. काव्यालंकार (भामह) १.३०,३६, २.८१, ८५-८७, काव्यादर्श (दण्डी) २.३६३

—यहां यह भी ज्ञातव्य है कि कुन्तक ने भी एक स्थान पर 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग सभी अलंकारों के लिए किया है—

वक्रोक्तिः सर्वालंकारसामान्यम्। (व० जी० १.३१, वृत्ति)

स्वीकृत किया ।[1] कुन्तक के समकालीन भोजराज ने वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ ग्रहण किया तो मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने संकुचित अर्थ ।[2]

स्वरूप

कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति कहते हैं—वैदग्ध्य-भंगी-भणिति को, अर्थात् कवि-कर्म-कौशल से उत्पन्न वैचित्र्यपूर्ण कथन को । दूसरे शब्दों में, जो काव्य-तत्त्व किसी कथन में लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न कर दे, उसका नाम वक्रोक्ति है । इसका तात्पर्य यह है कि लोकवार्ता से, यों कहिए लौकिक सामान्य वचन से, विशिष्ट कथन 'वक्रोक्ति' के अन्तर्गत आता है । उन्होंने वक्रोक्ति को एक ओर तो 'काव्य का अपूर्व अलंकार' कहा, और दूसरी ओर इसे 'विचित्रा अभिधा' (प्रकारान्तर से कहें तो 'ध्वनि') की संज्ञा प्रदान की ।[3] इससे प्रतीत होता है कि वह अलंकार और ध्वनि से प्रभावित होते हुए भी वक्रोक्ति को इन दोनों तत्त्वों की भांति व्यापक रूप में प्रतिपादित करना चाहते थे । वस्तुतः, ध्वनि के वहुसंख्यक भेदोपभेदों को—जो कि पदांश से लेकर प्रवन्ध तक फैले हुए हैं—वक्रोक्ति के कलेवर में समाविष्ट करने के उद्देश्य से ही इन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन किया और इसके अनेक भेदोपभेद प्रस्तुत किये ।

भेदोपभेद

कुन्तक-सम्मत वक्रोक्ति के छह प्रमुख भेद हैं—(१) वर्णविन्यासवक्रता, (२) पदपूर्वार्धवक्रता, (३) पदपरार्धवक्रता, (४) वाक्यवक्रता, (५) प्रकरणवक्रता, (६) प्रवन्धवक्रता । फिर इनके कुल ४१ उपभेद हैं, जो कि निम्नोक्त हैं । ये सभी वक्रोक्तियां, यों कहिए सौन्दर्योत्पादक विधाएं, अकेले-अकेले रूप में भी काव्य-सौन्दर्य

---

१. का० सू० वृ० ४,३.८, का०, अ० २,१४-१७, ध्वन्या० २.२१ (वृत्ति)

२. स० क० आ० ५.८, का० प्र० ८.७८, सा० द० १०.९

३. (क) वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । कीदृशी वैदग्ध्यभंगी-भणितिः । वैदग्ध्यं विदग्धता, कविकर्मकौशलम्, तस्य भंगी विच्छित्तिः, तया भणितिः । विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते ।

[यहां यह उल्लेख्य है कि कुन्तक से पूर्व राजशेखर ने वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग न करते हुए भी लगभग उक्त शब्दों द्वारा इस काव्य-तत्त्व से परिचिति दिखायी है—विदग्धभणितिभंगिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावम् ।
—का० मी०, पृष्ठ ११४]

काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ।। व० जी० १.२
[इस कथन का वास्तविक अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि कुन्तक को अपने

उत्पन्न करती हैं, तथा एक से अधिक रूप में मिलकर भी ।[१] दूसरी स्थिति में काव्य की शोभा कहीं अधिक बढ़ जाती है। अब वक्रोक्ति के भेदोपभेदों की सूची तथा उनका स्वरूप प्रस्तुत है—

वक्रोक्ति के प्रमुख ६ भेद हैं—

(१) वर्ण-विन्यास-वक्रता, (२) पदपूर्वार्द्ध-वक्रता, (३) पदपरार्द्ध-वक्रता, (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता, (६) प्रबन्ध-वक्रता ।

१. वर्णविन्यास-वक्रता के ६ भेद—

(१,२,३) एक या दो या दो से अधिक वर्णों की थोड़े-थोड़े अन्तर से की गयी आवृत्ति । (४) वर्गान्त-युक्त स्पर्शों की आवृत्ति । (५) त, न, ल के द्वित्व रूपों की आवृत्ति । (६) शेष स्पर्श वर्गों के रकार-युक्त वर्णों की आवृत्ति ।

२. पदपूर्वार्ध-वक्रता के ११ भेद—

(१) रूढिवैचित्र्य-वक्रता, (२) पर्याय-वक्रता, (३) उपचार-वक्रता, (४) विशेषण-वक्रता, (५) संवृत्ति-वक्रता, (६) प्रत्यय-वक्रता, (७) आगम-वक्रता, (८) वृत्ति-वक्रता, (९) भाव-वक्रता, (१०) लिंग-वक्रता, (११) क्रियावैचित्र्य-वक्रता ।

३. पदपरार्द्ध-वक्रता के ६+२=८ भेद—

(१) काल-वक्रता, (२) कारक-वक्रता, (३) संख्या-वक्रता, (४) पुरुष-वक्रता (५) उपग्रह-वक्रता, (६) प्रत्यय-वक्रता, तथा (७) उपसर्ग-वक्रता, और (८) निपात-वक्रता ।

४. वाक्य-वक्रता (और इसी के अन्तर्गत वस्तु-वक्रता)—१ भेद

५. प्रकरण-वक्रता के ९ भेद—

(१) पात्रप्रवृत्ति-वक्रता, (२) उत्पाद्य-कथा-वक्रता (इसके दो उपभेद— अविद्यमान की कल्पना, विद्यमान का संशोधन), (३) उपकार्योपकारक-वक्रता, (४) आवृत्ति-वक्रता, (५) प्रासंगिक प्रकरण-वक्रता, (६) प्रकरण-रस-वक्रता, (७) अवान्तरवस्तु-वक्रता, (८) नाटकान्तर्गत नाटक-वक्रता, (९) मुखसन्ध्यादि-विनिवेश-वक्रता ।

---

१. **परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित् ।
प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम् ।।** व० जी० २.३४
(यद्यपि कुन्तक ने यह कथन पदपरार्ध-वक्रता के उपभेदों को निर्दिष्ट करने के उपरान्त कहा है, किन्तु वस्तुतः यह सभी भेदों के सम्बन्ध में घटित हो सकता है।)

६. प्रबन्ध-वक्रता के ६ भेद—

(१) मूलरस-परिवर्तन, (२) प्रकरण-विशेष पर कथा-समाप्ति, (३) कथा-विच्छेद, (४) नायक द्वारा आनुषंगिक फलों की प्राप्ति, (५) प्रधान कथा का द्योतक नाम (६) कथासाम्य ।

इस प्रकार वक्रोक्ति के कुल ६+११+८+१+६+६=४१ भेद हैं । अब उक्त भेदोपभेदों के लक्षण तथा उदाहरण लीजिए—

१. वर्णविन्यास-वक्रता

वर्णों के विन्यास पर आधारित वक्रता । सभी शब्दालंकारों, विशेषतः अनुप्रास और यमक, के भेदों का चमत्कार इसी में अन्तर्भूत है । इसके छह भेद हैं—

—१, २, ३. एक या दो या अधिक वर्णों की थोड़े-थोड़े अन्तर से आवृत्ति ।

—४. वर्गान्त-युक्त स्पर्शो (ङ्क, ञ्च, ण्ट, न्त, म्ब) की आवृत्ति ।

—५. त, ल के द्वित्व रूपों (त्त, ल्ल,) की आवृत्ति ।

—६. चौथे और पांचवें भेद में निर्दिष्ट वर्णों को छोड़कर शेष स्पर्श वर्णों के रकार-युक्त वर्णों (जैसे—र्क, क्र, र्म, म्र, र्स, स्र, आदि) की आवृत्ति ।[1]

कतिपय उदाहरण लीजिए—

एक वर्ण की आवृत्ति :

(१) **लीलामन्थरतारके च नयने यातं विलासालसम् ।**
कोऽप्येवं हरिणीदृशः स्मरशतापातावदातः क्रमः ।। व० जी० २.१

[इस मृगनयनी का व्यापार-क्रम ही कुछ और हो गया है—आंखें भावपूर्ण और मन्दगति वाली पुतलियों से युक्त हैं, गति हाव-भाव से अलस (मन्द) है, आदि ।]

यहाँ 'लीलामन्थरतारके' में लकार और रकार की, 'नयने यातम्' में यकार की, तथा 'विलासालसम्' में लकार और सकार की आवृत्ति के कारण वर्ण-विन्यास-वक्रता है । इसी प्रकार—

(२) **कमल मिलल दल मधुप चलल घर, विहग गइल निज ठामै ।**
अरे रे पथिक जन थिर रे करिअ मन, बड़ पातर दुर गामै ।। (विद्यापति)

इस पद्य में लकार वर्ण की आवृत्ति हुई है ।

---

१. यहां यह उल्लेख्य है कि इन छहों को वर्णविन्यास-वक्रता के भेद न मानकर रूप मानना चाहिए, क्योंकि भेद (kinds) परस्पर जितना भिन्न होते हैं, रूप (varieties) परस्पर उतने भिन्न नहीं होते । अतः 'वर्णविन्यासवक्रता' को वक्रोक्ति का एक भेद ही समझना चाहिए ।

दो वर्णों की आवृत्ति :

(३) सेनासीमन्तिनीनामनवरतरताभ्यासतान्तिं समीराः ॥ व० जी० २.२

अर्थात् [नदी-तट की] हवाएं शत्रुसेना की नारियों के निरन्तर रति-विलास की थकावट को [दूर करती थीं ।]

इस पद्यांश में सकार और नकार तथा रकार और तकार की एकत्र आवृत्ति है ।

कुन्तक ने वर्णों के विन्यास को एक प्रकार की वक्रता[1] (चमत्कृति) स्वीकार करते हुए भी इनके विवेकशील प्रयोग पर बल देने के उद्देश्य से निम्नोक्त प्रतिबन्धों का निर्देश किया है कि वर्णविन्यास-वक्रता—

(१) विषय के अनुकूल होनी चाहिए ।

(२) आग्रहपूर्वक विरचित नहीं होनी चाहिए ।

(३) असुन्दर वर्णों से युक्त न होकर सुन्दर वर्णों से भूषित होनी चाहिए ।

(४) इनमें पूर्व-प्रयुक्त वर्णों का प्रयोग यथासम्भव न किया जाए, अपितु इसे नूतन वर्णों के प्रयोग से उज्ज्वल बनाया जाए ।

(५) यह प्रसाद-गुणयुक्त होनी चाहिए ।

(६) कर्णप्रिय होनी चाहिए ।

(७) गुण, मार्ग और वृत्ति के अनुकूल होनी चाहिए ।[2]

२. पदपूर्वार्द्धवक्रता [3]

पद के पूर्वार्द्ध (प्रकृति-रूप) पर आधारित काव्य-वक्रता (काव्य-चमत्कार, अथवा काव्य-सौन्दर्य ।) पद कहते हैं सुबन्त और तिङन्त रूपों को—सुप्तिङन्तं पदम् । (अष्टाध्यायी), सुबन्त, जैसे 'बालकः । तिङन्त, जैसे गच्छति' । (क) सुबन्त पद के पूर्वार्द्ध से तात्पर्य है—'प्रातिपदिक' [न कि 'सु' आदि प्रत्यय] जैसे बालक, (ख) तिङन्त पद के पूर्वार्द्ध से तात्पर्य है—'धातु' [न कि तिप् आदि प्रत्यय] जैसे गम् ।

---

१. आनन्दवर्धन के मतानुसार वर्ण-विन्यास-वक्रता (शब्दालंकार) को शब्दचित्र-काव्य के अन्तर्गत रख सकते हैं ।

२. व० जी० २.३-६

३. पदस्य सुबन्तस्य तिङन्तस्य वा यत्पूर्वार्द्धं प्रातिपदिकलक्षणं धातुलक्षणं वा तस्य वक्रता वक्रभावो विन्यास-वैचित्र्यम् ।

जहां प्रातिपदिक अथवा धातु से सम्बद्ध वक्रता हो, वहां पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता मानी जाती है। इसके निम्नोक्त ११ भेद हैं—

(१) रूढिवैचित्र्य-वक्रता, (२) पर्याय-वक्रता, (३) उपचार-वक्रता, (४) विशेषण-वक्रता, (६) संवृति-वक्रता, (६) प्रत्यय-वक्रता, (७) आगम-वक्रता, (८) वृत्ति-वक्रता, (९) भाव-वक्रता, (१०) लिंग-वक्रता, (११) क्रियावैचित्र्य-वक्रता।

[१] **रूढि-वैचित्र्य-वक्रता**—रूढि (प्रसिद्धार्थ) के वैचित्र्य पर आधारित वक्रता। कवि इस वक्रता का प्रयोग किसी व्यक्ति अथवा वस्तु की लोकोत्तर प्रशंसा अथवा लोकोत्तर तिरस्कार करने के उद्देश्य से करता है। रूढि का वैचित्र्य या तो प्रसिद्धार्थ से असम्भव अर्थ के रूप में होता है, अथवा प्रसिद्धार्थ से अतिशय अर्थ के रूप में।[1] इस प्रकार इस वक्रता के दो रूप हैं—

(क) असम्भाव्य-धर्म-अध्यारोप-गर्भता, इसे आनन्दवर्धन-सम्मत 'अत्यन्त-तिरस्कृति-वाच्य-ध्वनि' के समकक्ष रख सकते हैं, और

(ख) विद्यमान-धर्म-अध्यारोप-गर्भता, इसे 'अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि' के समकक्ष रख सकते हैं। उदाहरण लीजिए—

(क) असम्भाव्य-धर्म-अध्यारोप-गर्भता का उदाहरण, हमारे विचार में, कुन्तक ने प्रस्तुत नहीं किया। इसका उदाहरण आनन्दवर्धन द्वारा प्रस्तुत वही हो सकता है, जो उन्होंने अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि का दिया है—

(१) **रवि-संक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।**
निःश्वासन्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ।। ध्वन्या० २.१ (वृत्ति)

[यह चन्द्रमा, जिसका प्रकाश सूर्य में डूब गया है, तथा जिसका मंडल तुषार द्वारा ढाँप लिया गया है, ऐसे दीखता है जैसे निःश्वास से अन्धा बना दर्पण]

यहाँ 'अन्ध' शब्द का वक्रार्थ (व्यंग्यार्थ) है 'छायाहीनता', 'अनुपयोगी' आदि, न कि अन्धा। इसी प्रकार निम्नोक्त पद्य में भी यही स्थिति है—

(२) **नीलोत्पल के बीच समाये मोती से आँसू के बूंद।**
हृदय-सुधानिधि से निकले हो तब न तुम्हें पहचान सके।। (प्रसाद)

यहां 'नीलोत्पल' शब्द का वक्रार्थ है 'नेत्र'।

(ख) विद्यमान-धर्म-अध्यारोप-गर्भता का उदाहरण—

(३) **तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।**
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ।। व० जी० २. ९.

---

१. व० जी० २. ८, ९

[गुण तभी ग्राह्य बनते हैं, जब वे पारखियों द्वारा स्वीकार किये जाते हैं। कमल तभी 'कमल' होते हैं, जब वे रवि-किरणों द्वारा अनुगृहीत (विकसित) हो जाते हैं।]

यहां दूसरे 'कमल' शब्द का वक्रार्थ है—अत्यन्त सुन्दर कमल। कुन्तक के अनुसार यहां 'विद्यमान-धर्म-अध्यारोपगर्भता' है, और आनन्दवर्धन के अनुसार अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य-ध्वनि। इसी प्रकार—

(४) कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे।
वैदेही तु कथं भविष्यति, हा हा देवि धीरा भव॥ व० जी० २.२७

[मैं कठोर-हृदय राम हूँ, सब कुछ सह लूँगा।]

इस पद्यांश में भी 'राम' शब्द में यह वक्रता है कि मैं 'सकल-दुःख-सहिष्णु, पिता की आज्ञा का पालक, प्रजा-वत्सल आदि' हूँ। यहां भी उपर्युक्त स्थिति है।

(५) मेरा राम रमा है मुझ में
मैं चाहे मणि हूं या कांच। (गुरुकुल : मै० श० गुप्त)

यहां भी 'राम' शब्द का वक्रार्थ है—भक्त-पालक, कृपालु, आदि।

अन्त में यह उल्लेख्य है कि उक्त सभी उदाहरणों में कवि का उद्देश्य वर्ण्य पदार्थ की प्रशंसा अथवा तिरस्कार करना है। इस प्रकार के कथन या तो (१) कोई वक्ता स्वयं अपने विषय में कहता है, या (२) कोई व्यक्ति किसी अन्य वर्ण्य व्यक्ति के विषय में कहता है। उक्त पांच पद्यों में से 'कामं सन्तु……', और 'मेरा राम……' पहले प्रकार के उदाहरण हैं, और शेष तीन दूसरे प्रकार के।

[२] पर्यायवक्रता—किसी विशिष्ट पर्याय (समानार्थक शब्द) पर आश्रित वक्रता। इसके छह भेद हैं—

(क) अभिधेयान्तरतम—जो पर्याय-शब्द वाच्यार्थ के निकटतम भाव को प्रकट करे—

(१) सन्ति भूभृति हि नः शराः परे।
ये पराक्रमवसूनि वज्रिणः॥ (किराता० १३.५८), व० जी० २.३२

[हमारे राजा के पास तो बहुत-से बाण हैं, जो वज्रधारी (इन्द्र) के भी पराक्रम की निधि हैं।]

---

१. व० जी० २.१०-१२

इन्द्र-वाचक अनेक पर्याय-शब्दों में से यहाँ 'वज्रिन्' शब्द का प्रयोग वाच्यार्थ के निकटतम भाव को प्रकट करता है। इसी प्रकार निम्नोक्त पद्यांशों में क्रमशः 'मधुप' और 'जलधर' शब्दों का प्रयोग—

(२) **मधु पीकर मधुप रहे सोये।** (प्रसाद : संगीत)

(३) **कृषक-बालिका के जलधर।** (पन्त : बादल)

(ख) **अभिधेयातिपोषक**—जो पर्याय-शब्द वाच्यार्थ का अतिशय पोषक हो, अर्थात् विषय का उत्कर्ष करे—

(१) **गौरांगीवदनोपमापरिचितस्तारावधूवल्लभः,**
चन्द्रः सुन्दरि दृश्यतामयमितश्चण्डीशचूडामणिः।[1]
—(बालरामायण १०.१४), व० जी० २.३४

[राम पुष्पक पर बैठे बोले—हे सुन्दरी सीते, उधर चन्द्रमा को देखो, जो गौरांगनाओं के मुख की उपमा के लिए प्रसिद्ध है, तारा-रूप वधुओं का प्रिय है, तथा शिव के मस्तक का आभूषण है।]

इस पद्यांश में चन्द्रमा के उक्त तीनों विशेषण-रूप पर्याय प्रस्तुत प्रसंग के उत्कर्षक हैं—सीता का मुख चन्द्र के समान है, तो राम तारा-रूप वधू का प्रिय है, और सीता का सौन्दर्य राम के लिए आभूषण अर्थात् गौरवास्पद है।

एक उदाहरण और लीजिए—

(२) **यामिनी जागी**
अलस-पंकज-दृग अरुण
मुख तरुण अनुरागी। (गीतिका : निराला)

यहाँ रात्रि के पर्याय 'यामिनी' (पहरों वाली—यहां पहर-पहर गिन-गिन कर बिताने वाली) शब्द के प्रयोग में भी उक्त सौन्दर्य है।

(ग) **वाच्यार्थालंकर्ता**—जहां कोई पर्याय-शब्द स्वयं अथवा अपने विशेषण के द्वारा अपने वाच्यार्थ को सुन्दर छायान्तर के स्पर्श से अलंकृत करे।

इस पर्याय-वक्रता का सौन्दर्य श्लिष्ट पर्याय-शब्दों के प्रयोग के कारण सम्पन्न होता है। आनन्दवर्धन के अनुसार ऐसे स्थलों में पदगत अथवा वाक्यगत 'शब्दशक्ति-मूल-संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि' होती है—

---

१. यह पूरा पद्य नहीं है—यहां केवल द्वितीय और चतुर्थ पाद उद्धृत किये गये हैं।

(१) पान्थ, नात्र स्रस्तरमस्ति[1] मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस ॥
—(संस्कृतच्छाया) सा० द० ४.६ (वृत्ति)

[रमणी बोली—हे पथिक, इस पहाड़ी गांव में न तो 'सत्थर' अर्थात् स्रस्तर (विस्तर) है, और न ही 'सत्थर' अर्थात् [पर-नारी-रमण-विषयक] 'शास्त्र' [के नियमों का पालन] है । हाँ, यदि उठे हुए इन 'पयोधरों' (बादलों अथवा स्तनों) को देखकर यहां ठहरना चाहते हो तो ठहर जाओ ।]

यहां 'सत्थर' और 'पयोधर' इन श्लिष्ट पर्याय-शब्दों के प्रयोग के कारण उक्त पर्याय-वक्रता है । इस प्रकार—

(२) दुर्दिन में आंसू बनकर वह आज बरसने आई । (आँसू : प्रसाद)
यहां 'दुर्दिन' (वर्षा-दिवस, बुरे-दिन) श्लिष्ट पर्याय-शब्द में भी यही वक्रता है ।

(घ) स्वच्छायोत्कर्षपेशल—जहां पर्याय-शब्द अपने सौन्दर्य के उत्कर्ष के कारण वर्ण्य विषय को मनोहर बना दे । इसी प्रकार—

(१) कृष्णकुटिलकेशीति वक्तव्ये यमुनाकल्लोलवक्रालकेति ।

[किसी रमणी को 'काले घुंघराले बालों वाली' न कहकर यह कहना—'यमुना की तरंगों के सदृश वक्र अलकों वाली ।'] इसी प्रकार—

(२) अलकों में मलयज बन्द किए । (लहर : प्रसाद)
अर्थात् 'केश-राशि में सुगन्ध समायी हुई है' इसमें भी उक्त वक्रता है ।

(ङ) असम्भाव्यार्थसूचक—जहां पर्याय-शब्द असम्भाव्य अर्थ को सूचित करने में सक्षम हो । जैसे—

अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥
—रघुवंश २.३४, व० जी० २.४०

[शंकर का अनुचर सिंह राजा दिलीप से कहता है—हे महीपाल, व्यर्थ श्रम मत करो । मेरे ऊपर चलाया गया तुम्हारा अस्त्र व्यर्थ जाएगा—वृक्षों को उखाड़ देने में समर्थ आँधी का वेग पहाड़ का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता ।]

इस पद्य में 'राजा' शब्द के अनेक पर्याय-शब्दों में से 'महीपाल' शब्द का प्रयोग यहां अधिक सार्थक है । 'महीपाल' शब्द में वक्रता यह है कि तुम कहाते तो

---

१. मूल प्राकृत पाठ है—'सत्थर' (स्रस्तर अथवा शास्त्र)

पृथ्वीपति हो, पर तुम गुरु वसिष्ट की गाय की रक्षा नहीं कर सके। एक महीपाल के प्रति, जो कि सामान्यतः सब कुछ कर सकने में समर्थ होता है, यह कथन उसकी सर्व-कार्य-क्षमता को असम्भव बना रहा है।

(च) अलंकारोपसंस्कार-मनोहारी—जहां अलंकार द्वारा अथवा अलंकार के उपसंस्कार (शोभन) द्वारा मनोहारी रचनापरक पर्याय-शब्द प्रयुक्त हों। जैसे—

देवि त्वन्मुखपंकजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणा।
पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम्॥
—रत्नावली १.२५, व० जी० २.४४

[हे देवि, देखो, चन्द्रमा की शोभा को तिरस्कृत करने वाले तुम्हारे मुखकमल से हारे हुए कमल मुरझाये जा रहे हैं।]

यों तो कमल चन्द्रमा के उदित होने पर कान्ति-हीन हो जाते हैं, पर यहां तो [मानो] वे तुम्हारे मुख-कमल के आगे फीके पड़ रहे हैं। इस प्रकार उक्त पद्य में उत्प्रेक्षा अलंकार प्रतीयमान है,[1] और इस अलंकार का उपसस्कार (शोभन) तभी संभव हो सका है जब मुख की उपमा, अनेक उपमानों में से, कमल के साथ दी गयी हो। किन्तु हमारे विचार में 'पर्याय-वक्रता' का यह भेद स्वीकृत नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसमें कहीं अधिक खींचतान से काम लेना पड़ता है।

इसी प्रकार निम्नोक्त पद्यों भी पर्याय-वक्रता का चमत्कार है—

(१) लखकर सायर अरु तुम्हें कर सायक सर चाप।
देखत हूं खेदत मनु मृर्गाह पिनाकी आप॥
—शकुन्तला (मै० श० गुप्त)

(२) है कृषिप्रधान प्रसिद्ध भारत और कृषि की यह दशा।
होकर रसा यह नीरसा अब हो गई है कर्कशा॥
—भारत-भारती (मै० श० गुप्त)

प्रथम पद्य में महादेव के अनेक पर्यायवाची शब्दों में से यहां 'पिनाकी' शब्द, और द्वितीय पद्य में भूमिवाची अनेक शब्दों में से 'रसा' शब्द, सार्थक एवं उपयुक्त होने के कारण वक्रता (काव्य-चमत्कार) के उत्पादक हैं।

अन्ततः, यह ज्ञातव्य है कि पर्याय-वक्रता के अन्तर्गत परिकर, पर्याय आदि अलंकार भी समाविष्ट हो जाते हैं, जिनका चमत्कार किसी विशिष्ट पर्यायवाची शब्द के कारण होता है।

---

१. आनन्दवर्धन के अनुसार ऐसे स्थलों में अलंकार-ध्वनि होती है।

[३] **उपचार-वक्रता**—उपचार का लक्षण है—अत्यन्त विभिन्न पदार्थों में भी किसी एक पक्ष में अति साहश्य के कारण, भेद-प्रतीति अथवा भेद-ज्ञान का ध्यान न रखते हुए अभेद की प्रतीति।[1] अतः उपचार-वक्रता का लक्षण है—

'सर्वथा भिन्न स्वभाव वाले भी 'प्रस्तुत' पर उस अप्रस्तुत के आरोप द्वारा वक्रता, जिसके सामान्य धर्म का प्रस्तुत के साथ लेशमात्र ही सम्बन्ध हो। उपचार के सम्पर्क से रूपक आदि अलंकार सरसता को प्राप्त हो जाते हैं।[2]

रुय्यक के कथनानुसार उपचार-वक्रता के अन्तर्गत ध्वनि का समस्त प्रपञ्च समाविष्ट किया जा सकता है।[3] किन्तु रुय्यक की यह मान्यता आंशिक रूप में ही स्वीकार्य हो सकती हैं, क्योंकि 'उपचार' शब्द को व्यंजना अथवा ध्वनि अथवा व्यंग्य का पर्याय नहीं माना जा सकता। ध्वनि-भेदों के जो स्थल किसी-न-किसी रूप में 'साहश्य' से सम्बद्ध हैं, केवल वही 'उपचार-वक्रता' के अन्तर्गत गृहीत हो सकते हैं।

(१) गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वी
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः॥

—(मेघदूत : पूर्वार्ध, ३७) व० जी० २.४६

[उज्जयनी नगरी में रात को अपने प्रिय के घर को जाती हुई अभिसारिकाओं को जब राजमार्ग में सूची-भेद्य गहन अंधकार में दृष्टि से कुछ दिखायी न पड़े, तो उस समय कसौटी पर खिंची सोने की रेखा से उन्हें मार्ग दिखाना, किन्तु बरस और गरज कर अधिक आवाज़ न करना कि जिससे वे भयभीत हो जाएं।

यहां 'अमूर्त' अन्धकार में 'मूर्त' पदार्थ के योग्य सूची-भेदन का प्रयोग उपचार से किया गया है। इसी प्रकार सौदामिनी (बिजली) के लिए 'स्निग्ध' विशेपण का प्रयोग भी उपचार-वक्रता है।

(२) गगनञ्च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि।
निरहंकारमृगांका हरन्ति नीला अपि निशाः॥ व० जी० २.४७

[मदमाते मेघों से ढका हुआ आकाश, वर्षा की धाराओं से आन्दोलित अर्जुन

---

१. **अत्यन्त-विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्याऽतिशयमहिम्ना भेद-प्रतीति-स्थगनमुपचारः।**

२. व० जी० २.१३,१४

३. **उपचारवक्रताभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृत एव।**—अलं० सर्व०, पृष्ठ ८

वृक्ष तथा गर्व-रहित (क्षीण प्रकाश) चन्द्रमा वाली काली रातें भी मन को हरने वाली हैं ।]

'मत्त' और 'निरहंकार' विशेषण, जो कि चेतन पदार्थों के साथ प्रयुक्त होते हैं, यहां अचेतन पदार्थों—क्रमशः 'मेघ' और 'चन्द्रमा'—के साथ प्रयुक्त किये गये हैं।

इस प्रकार निम्नोक्त पद्य में उपचार-वक्रता है—

(३) छूते थे मनु और कंटकित होती थी वह बेली ।
स्वस्थ व्यथा की लहरों-सी जो अंगलता थी फैली ।। कामायनी (कर्म)

इसमें जड़ (बेली) पर चेतन (सुन्दरी कन्या : श्रद्धा) का आरोप किया गया है ।

यहां यह उल्लेख्य है कि कुन्तक-सम्मत उपचार-वक्रता के अन्तर्गत साम्यमूलक उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारों के अतिरिक्त गौणी लक्षणा शब्दशक्ति, अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य-ध्वनि का विषय-क्षेत्र अन्तर्गत हो जाता है ।

(४) विशेषण-वक्रता—जहां विशेषण के प्रभाव से क्रिया अथवा कारक का सौन्दर्य उल्लसित होता है ।[1] उदाहरणार्थ, निम्न पदों में 'विशेषण' का प्रभाव देखिए—

(१) शुचिशीतलचन्द्रिकाप्लुताश्चिरनिःशब्दमनोहरा दिशः ।
प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि कस्याप्यथ हेतुतां ययुः ।। व० जी० २.५३

[ये दिशाएं, जो कि स्वच्छ और शीतल चांदनी से व्याप्त हैं, तथा बहुत देर से निःशब्द होने के कारण मनोहर हैं, किसी के हृदय में शान्त रस और किसी के हृदय में शृंगार रस को उत्पन्न करने वाली हैं ।]

यहां दिशाओं के उक्त विशेषणों के प्रभाव के कारण ही दोनों रसों की स्थिति सम्भव हो सकी है । इस प्रकार—

(२) मूक स्तब्ध सजनता मेरी, कलकल-विकल विजनता ।

(३) खिले नव पुष्प प्रथम सुगन्ध के, प्रथम वसन्त में गुच्छ गुच्छ । (निराला)

(४) शीतल ज्वाला जलती थी, ईंधन होता दृगजल का । (प्रसाद)

[५] संवृति वक्रता—संवृति अर्थात् गोपन की वक्रता । काव्य-वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए सर्वनाम आदि के प्रयोग द्वारा किसी विषय का संवरण (गोपन) करना ।[2] यह विषय (१) अत्यन्त सुन्दर (२) अत्यन्त सुकुमार (३) अनुभव द्वारा संवेद्य होने पर भी वाणी द्वारा अवर्णनीय तथा (४) सदोष होने के कारण महापातक [आदि

१, २. व० जी० २.१६

कुछ भी] हो सकता है ।[1] उदाहरणार्थ—

(१) दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः ।
वीक्ष्य बिम्बमनुबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया ॥
—(कु० स० ८.११), व० जी० २.६

[दर्पण में अपने मुख पर सम्भोग-चिह्नों को देखती हुई पार्वती ने अपने पीछे की ओर बैठे हुए प्रियतम शिवजी के प्रतिबिम्ब को अपने प्रतिबिम्ब के समीप देखकर लज्जा से 'क्या-क्या' चेष्टाएं नहीं कीं ?]

यहां कवि ने 'कानि-कानि' (क्या-क्या) सर्वनाम के प्रयोग द्वारा पार्वती की चेष्टाओं का गोपन किया है, और इससे काव्य-वैचित्र्य उत्पन्न हो गया है ।

(२) सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमे कर्तुं किमप्युद्यतः ।
(—स्वप्नवासवदत्तम्), व० जी० २.६६

[वासवदत्ता के मृत्यु-समाचार से खिन्न होकर उसकी पुनःप्राप्ति के लोभ-वश पद्मावती से विवाह करने के इच्छुक उदयन की उक्ति—हे प्रियतमे वासवदत्ते, एकपत्नीत्व-रूप मिथ्याव्रत को धारण करने वाला यह मैं 'कुछ' भी करने को तैयार हो गया हूं ।]

इस पद्यांश में 'कुछ' से तात्पर्य है—विवाह, जो कि अब उदयन के लिए अकरणीय कृत्य है । अतः वह इसका नाम भी नहीं लेना चाहता । इसी प्रकार—

(३) पड़ी तरल यमुना तरंगिनी घनी खड़ी हो जाए ।
तो उस अंग-भंगिमा का 'कुछ' रंग-ढंग वह पाए ॥ (पंचवटी)

(४) नित्य परिचित हो रहा तब भी रहा 'कुछ' शेष । (कामायनी)

(५) है 'कुछ' बात ऐसी कि चुप हूं मैं, वरना क्या बात कर नहीं आती ?
पहले आती थी हर बात पे हँसी, अब किसी बात पर नहीं आती ॥
—(ग़ालिब)

[६,७] प्रत्यय-वक्रता और आगम-वक्रता—पद-पूर्वार्द्ध के मध्य प्रयुक्त 'प्रत्यय' अथवा 'आगम' के कारण वक्रता ।[2] उदाहरणार्थ, प्रत्यय-वक्रता—

(१) स्निह्यत्कटाक्षे दृशौ ।
[उस नायिका की आंखों में कटाक्ष स्नेह-युक्त बनते चले जा रहे है ।]

(२) वेल्लद्बलाका घनाः ।
[इन बादलों के पास बगले विहार करने लगे हैं ।]

---

१. व० जी० २.१६ (वृत्ति के आधार पर)

२. व० जी० २.१७, १८

उक्त दोनों स्थलों में 'स्निह्यत्कटाक्षे' और 'वेल्लद्वलाकाः' पदों के मध्य प्रत्यय-युक्त पदों 'स्निह्यत्' और 'वेल्लत्' का प्रयोग वक्रता का उत्पादक है। इस प्रकार के प्रयोग संस्कृत-शब्दों में ही संभव हैं, हिन्दी-शब्दों में प्रायः संभव नहीं हैं।

इसी प्रकार 'आगम-वक्रता' भी प्रायः संस्कृत-शब्दों की ही विशिष्टता है—

(१) वाचालं मां न खलु सुभगम्मन्यमानः करोति। (मेघदूत), व० जी० २.६६

[अपने आप को सुन्दर मानता हुआ भी, मैं यक्ष, उस विरहिणी के कारण अपना यह भाव अधिक नहीं कहना चाहता।]

यहां 'सुभगम्मन्यमानः' में 'मुम्' आगम के कारण काव्य-वक्रता है। हिन्दी में भी कुछ इस प्रकार के रूप मिल जाएंगे—

(२) विहँसने लगा व्यंग्य से विश्व, अरी ओ 'रसवंती' नार।

(३) विद्रूप 'अट्टहास' से उसके, डोल उठा भू-मण्डल।

'रसवती' के स्थान पर 'रसवन्ती' शब्द का, और विरूप के स्थान पर 'विद्रूप' शब्द का प्रयोग—इनमें क्रमशः 'न्' और 'द्र' का आगम। इन शब्दों के प्रयोग से इन स्थलों में क्रमशः माधुर्य और कठोरता की अभिवृद्धि हो गयी है।

[८] वृत्ति-वक्रता—वृत्ति से तात्पर्य है समास, तद्धित, कृत् आदि। इन वृत्तियों द्वारा प्राप्त वक्रता।[1] जैसे—

(१) अहो धत्ते शोभामधिमधु लतानां नवरसः। व० जी० २.७२

(अधिमधु अर्थात् वसन्त ऋतु के अन्तर्गत विद्यमान लताओं का नवीन रस शोभा को धारण कर रहा है।)

इसमें 'अधिमधु' इस अव्ययीभाव-समास-युक्त शब्द के कारण वक्रता है।

(२) तुमने यह कुसुम-विहग! लिवास
क्या अपने सुख से स्वयं बुना? (वीणा)

यहाँ 'कुसुम-विहग' इस कर्मधारय-समास-बद्ध शब्द के कारण काव्य-वक्रता है।

[९] भाव-वक्रता[2]—भाव का अर्थ है क्रिया। क्रिया साध्य-रूपा होती है, अर्थात् किसी व्यापार का निष्पादन ही उसका ध्येय है, परन्तु कभी-कभी चमत्कार उत्पन्न करने के अभिप्राय से भाव के साध्य-रूप का तिरस्कार कर उसे सिद्ध-रूप में

---

१. व० जी० १.८९ २. व० जी० २.२०

प्रदर्शित किया जाता है।[1] इसके उदाहरण संस्कृत-शब्दों में ही सम्भव हो सकते हैं—

नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा।
पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा॥[2]

[पुष्पधनु कामदेव प्रत्येक मनुष्य पर वाण फेंक रहा है, और प्रत्येक नगर में मानिनी स्त्रियों के मान धारण करने की चर्चा समाप्त हो गयी है।]

सुवन्त पद सिद्ध होते हैं और तिङन्त पद साध्य। कृदन्त शब्द भी 'सिद्ध' माने जाते हैं। जब कोई क्रिया साध्य (तिङन्त) रूप में प्रयुक्त न की जाकर कृदन्त (सिद्ध) रूप में प्रयुक्त की जाती है तो वहाँ भाव-वक्रता मानी जाती है। उक्त पद्यांश में 'विन्यवर्तत्' इस साध्य (तिङन्त) के स्थान पर 'विनिवृत्ता' सिद्ध (कृदन्त) क्रिया का प्रयोग किया गया है। इस 'सिद्ध' क्रिया के प्रयोग से यह काव्य-चमत्कार उत्पन्न हो गया है कि कामदेव तो अभी वाण चला रहा है (किरति), किन्तु मानिनियों का मान समाप्त भी हो गया है।

[१०] **लिगवक्रता**—जहां किसी विशिष्ट लिंग के प्रयोग के कारण वक्रता (विचित्रता) हो। यह वक्रता तीन प्रकार से सम्भव है—

(क) एक ही प्रसंग में भिन्न लिंग वाले शब्दों का जहां समानाधिकरण से प्रयोग हो,[3] अर्थात् उनका इस प्रकार से प्रयोग हो कि एक विशिष्ट लिंग वाले शब्द को दूसरे लिंग वाला शब्द वना दिया जाए। ऐसे शब्द भी प्रायः संस्कृत-भाषा में सम्भव हैं—

तेनैषा मम फुल्लपंकजवनं जाता दृशां विंशतिः। व० जी० २.७६

[रावण सीता के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कह रहा है कि उसे देखकर ये मेरे वीसों नेत्र कमल के वन वन गये हैं, अर्थात् आह्लादवश खिल उठे हैं।]

इस पद्यांश में 'दृशां विंशतिः' इस स्त्रीलिंगीय शब्द को 'वनं' नपुंसकलिंगीय वना दिया गया है।

(ख) किन्हीं दोनों अथवा तीनों लिंगों में प्रयुक्त होने वाले किसी शब्द का, सुकुमारता लाने के उद्देश्य से, स्त्रीलिंग में प्रयोग कर देना—क्योंकि स्त्रीलिंग-वाची शब्द कोमल होते हैं।[4] उदाहरणार्थ—

तटी तारं ताम्यत्यतिशशियशाः कोऽपि जलद-
स्तथा मन्ये भावी भुवनवलयाक्रान्तिसुभगः। व० जी० २.७९

[यह पर्वत-तटी अत्यन्त सन्तप्त हो रही है, अतः मैं ऐसा मानता हूँ कि कोई

१,२. भारतीय साहित्यशास्त्र (दूसरा भाग), पृष्ठ ३९२
३, ४, ५. व० जी० २, २१, २२, २३

ऐसा मेघ आने वाला है जो शीघ्र ही चन्द्र-ज्योत्स्ना को तिरस्कृत करने वाला है, तथा समग्र संसार को व्याप्त कर लेने के कारण मनोहर होगा ।]

'तट' शब्द का प्रयोग तीनों लिंगों में होता है—(तटः, तटी, तटम्), किन्तु यहां स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होने के कारण काव्य-सौन्दर्य का उत्पादक है कि 'तटी-रूपी यौवनोद्दीप्ता नायिका का उपभोग करने वाला मेघरूप नायक शीघ्र आ रहा है।

(ग) किसी अन्य लिंग की अवहेलना करके, अर्थ-औचित्य के उद्देश्य से, किसी विशिष्ट लिंग का प्रयोग कर देना—

(१) त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता, तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
आदर्शयन् वक्तुमशक्नुवन्त्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ।।
—रघुवंश १३. २४, व० जी० २.८०

[राम बोले—हे भीरु सीते ! तुमको राक्षस रावण जिस मार्ग से हरण करके ले गया था, उस मार्ग को, बोलने में असमर्थ इन लताओं ने, अपने मुड़े हुए पत्तों से युक्त शाखाओं के द्वारा, मुझ पर अनुग्रह करके, दिखाया था ।]

यहां दयाभाव लताओं—स्त्रीलिंग वाची शब्द—द्वारा दिखाया गया है, न कि वृक्ष, द्रुम आदि—अन्य-लिंगवाची शब्दों द्वारा । इसी प्रकार—

(२) सिखा दो ना हे मधुपकुमारि !
मुझे भी अपने मीठे गान ।। (पन्त)

इस पद्य में भी 'मधुपकुमार' के स्थान पर 'मधुपकुमारी' शब्द का प्रयोग काव्य-चमत्कारोत्पादक है । इस प्रकार छायावादी काव्य में प्रकृति पर नारी के आरोप द्वारा इसी प्रकार के सुकोमल प्रयोग किये गये हैं ।

[११] **क्रियावैचित्र्यवक्रता**—क्रिया [अथवा धातु] के कारण विचित्रता । इसके पांच भेद होते हैं—(क) कर्ता की अत्यन्त अन्तरंगता, (ख) दूसरे कर्ता की विचित्रता, (ग) क्रिया-विशेषण की विचित्रता, (घ) उपचार के कारण सुन्दरता, (ङ) कर्म आदि का संवरण (गोपन) कर देना । इनमें से कुछ के उदाहरण लीजिए—

(१) किं शोभिताऽहमनयेति शशांकमौलेः,
पृष्ठस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः ।। कु० सं० ३.३३, व० जी० २.८३

[पार्वती ने लाड़-लाड़ में महादेव की चन्द्रलेखा अपने सिर पर धारण करके पूछा—क्या मैं इससे सुन्दर लगती हूँ ? उत्तर में महादेव ने उनका माथा चूम लिया—यह उत्तर आप सबकी रक्षा करे ।]

'परिचुम्बन' इस क्रिया से बढ़कर भला और क्या उत्तर हो सकता था ? इस क्रिया से कर्ता की अत्यन्त अन्तरंगता द्योतित होती है ।

(२) झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर। (परिमल : निराला)

यहां क्रिया-विशेषण का चमत्कार है।

अब उपचार-सौन्दर्य के द्योतक उदाहरण लीजिए। सादृश्य-सम्बन्ध के द्वारा एक धर्म का दूसरी क्रिया में आरोप करना 'उपचार' कहाता है।

(३) उन्नत वक्षों में आलिंगन,
सुख-लहरों सा तिरता। (कामायनी)

आलिंगन के लिए 'तिरता' क्रिया का प्रयोग उपचार के कारण सुन्दरता का द्योतक है।

३. पद-परार्द्ध-वक्रता

[सुवन्त और तिङन्त] पदों के परार्ध अर्थात् प्रत्यय के वैचित्र्य से जन्य वक्रता। इसके छह भेद हैं—(१) काल-वक्रता, (२) कारक-वक्रता, (३) संख्या-(वचन) वक्रता, (४) पुरुष-वक्रता, (५) उपग्रह-वक्रता, (६) प्रत्यय-वक्रता।

[१] काल-वक्रता—वर्तमान, भूत अथवा भविष्यत् काल के सूचक प्रत्यय के कारण वक्रता[1]—

(१) समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसंचाराः।
अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लंघ्याः॥
—गाथासप्तशती ६७५; व० जी० २.९५

[वर्षा ऋतु में ये मार्ग शीघ्र ही, ऊंचे-नीचे भेद से रहित, अति कम चल सकने योग्य तथा मनोरथ से भी अगम्य हो जाएंगे।]

यहां भविष्यत् काल-सूचक 'स्य' प्रत्यय के कारण वक्रता है। इसी प्रकार निम्नोक्त पद्य में भी 'गा' प्रत्यय के कारण वक्रता है—

(२) हाय! मिलेगा मिट्टी में वह वर्ण-सुवर्ण खरा।
सूख जायगा मेरा उपवन जो है आज हरा॥ यशोधरा

[२] कारकवक्रता—कारक-परिवर्तन के कारण वक्रता।[2]

(१) पाणिः सम्प्रति ते हठात् किमपरं स्प्रष्टुं धनुर्धावति॥ व० जी० २.९७

समुद्र पर पुल बांधने से पूर्व लंका का रास्ता न मिलने पर क्रुद्ध रामचन्द्र बोले—अब और क्या किया जाए, मेरा हाथ धनुष उठाने के लिए बढ़ रहा है।

---

१. व० जी० २.२६   २. व० जी० २. २७, २८

'अब हाथ से धनुष उठाना चाहता हूँ', यह कहने के स्थान पर उक्त वाक्य कहा गया है—और इस प्रकार करण-रूप हाथ पर कर्तृत्व के प्रयोग द्वारा काव्य-सौन्दर्य उत्पन्न किया गया है। इसी प्रकार—

(२) झींगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल विश्रान्ति को रहा चीर। (पन्त)

इस पद्यांश में भी 'तीर के द्वारा' करण कारक का प्रयोग न करके 'तीर' को कर्ता कारक के रूप में प्रयुक्त किया गया है।

(३) संख्या-वचन-वक्रता—संख्या के (परिवर्तन के) कारण वक्रता[1]।

(१) करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं,
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥

—अभिज्ञान० १.१२, व० जी० २.१०२

[हे मधुकर, यह कन्या हमारे योग्य भोग्या क्षत्रिया है अथवा नहीं, हम तो इसी तत्त्व के अन्वेषण में ही मारे गये, किन्तु तुम हाथों को फटकारती हुई इसके रति-सर्वस्व अधरों का पान करके कृतार्थ हो गये।]

'मैं मारा गया' एकवचन के स्थान पर 'हम मारे गये' बहुवचन का प्रयोग काव्य-सौन्दर्य का कारण बन गया है। इसी प्रकार—

(२) हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र-धर्म के नाते। यशोधरा

'मैं भेज देती' के स्थान पर 'हमीं' का प्रयोग समस्त क्षत्रिय-नारियों का सूचक है, जिसमें यह वक्रता है कि मैं भी उसी परम्परा का पालन अनिवार्यतः करती-।

[४] पुरुष-वक्रता—उत्तम पुरुष अथवा मध्यम पुरुष के परस्पर-परिवर्तन द्वारा जन्य वक्रता[2]।

(१) अतोऽत्र किञ्चिद् भवतीं बहुक्षमां द्विजातिभावादुपपन्नचापलः।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने न चेद् रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥ कु०सं० ५.४०

[ब्रह्मचारी के वेश में महादेव बोले—हे तपोधने पार्वति, यदि यह जन ब्राह्मण होने के कारण ढीठ बनकर आप जैसी सुयोग्या नारी से कुछ कह बैठे तो आप बुरा न मानकर, यदि कोई रहस्य की बात न हो तो, उत्तर दीजिएगा।]

यहां महादेव ने 'मैं' (उत्तम पुरुष) के स्थान पर 'अयं जनः' (प्रथम पुरुष) का प्रयोग किया है, जिससे काव्य-वक्रता उत्पन्न हो गयी है। इसी प्रकार—

---

१. व० जी० २.२९   २. व० जी० २.३०

(२) **कामायनि ! तू हृदय कड़ा कर धीरे-धीरे सब सह ले ।**

(कामायनी : लज्जा-सर्ग)

यहां श्रद्धा ने स्वयं को कामायनी कहा है—इस प्रकार के स्थल भी पुरुष-वक्रता के अन्तर्गत माने जा सकते हैं ।

[५] **उपग्रह-वक्रता**—उपग्रह से तात्पर्य है परस्मैपद और आत्मनेपद, इन पर आधारित वक्रता ।[1]

(१) **तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान् मुमुक्षोः, कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः ।**
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरयत्सु नेत्रैः, प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥

—रघुवंश ९.५८, व० जी० २.१०६

[राजा दशरथ ने, मृगया खेलते समय, दूसरे हरिणों पर बाण चलाने के लिए बाण की चुटकी ज्यों ही कान तक खींची कि उन्होंने हरिणों की डरी हुई चंचल आंखों को देखा और तभी उन्हें अपनी प्रौढ़ प्रियतमा के चपल नेत्रों के विलासों का स्मरण हो आया, और उनकी ज़ोर से बंधी मुट्ठी खुल गयी ।]

यहां 'बिभिदे' आत्मनेपदी प्रयोग है, जिसका अर्थ है 'भिद्यते स्म—खुल गयी ।' 'मुष्टिः बिभिदे' इस कर्मवाच्य के प्रयोग में यह वक्रता है कि राजा चाहते, तो भी बाण नहीं चला सकते थे, क्योंकि मुट्ठी स्वतः खुल गयी थी । स्पष्ट है कि इस प्रकार के प्रयोग केवल संस्कृत-भाषा में ही उपलब्ध होंगे । यदि चाहें तो हिन्दी के इस प्रकार के प्रयोगों को भी उपग्रह-वक्रता का उदाहरण मान सकते हैं—

(२) **जो हरि राउरो चित्र लखै तौ कहूं कबहूं हँसि हेरि बुलावै ।**
व्याकुल बालसु आलिन सों कह्यो चाहै कछू तो कछू कहिवावै ॥

—जगत-विनोद, (पद्माकर) ५६४

इस पद्य के अन्तिम पाद में उपग्रह-वक्रता है । इसी प्रकार—

(३) **मैं जभी तोलने का करती उपचार, स्वयं तुल जाती हूं ।**

—कामायनी : लज्जा सर्ग

[६] **प्रत्यय-वक्रता अथवा प्रत्ययमाला-वक्रता**—जहां एक प्रत्यय से जोड़ा गया दूसरा प्रत्यय किसी अपूर्व सौन्दर्य का बोधक हो, वहां प्रत्यय-वक्रता होती है ।[2]

(१) **लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते**
निर्मातुं प्रभवेन्मनोरममिदं वाचैव यो वा बहिः ।

---

१. व० जी० २.३१ २. व० जी० २.३२

वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ, वन्देतरां तं पुनर्
यो विज्ञातपरिश्रमोऽयमनयोर्भारावतारक्षमः ।। व०जी० २.१०७

[कवि दो प्रकार के हैं—एक वे, जो वस्तु में छिपे सूक्ष्म सुन्दर तत्त्व को वाणी के द्वारा खींच निकालते हैं, दूसरे वे, जो वाणी के द्वारा सुन्दर सृष्टि का निर्माण करने में समर्थ होते हैं। मैं इन दोनों को नमस्कार करता हूँ, किन्तु साथ ही, उस (आलोचक) को तो मैं 'कहीं अधिक' नमस्कार करता हूँ जो इनके परिश्रम का ज्ञाता है और इनके भार को ढोने की सामर्थ्य रखता है, अर्थात् इनके काव्य के मर्म की व्याख्या करता है।]

यहां 'वन्देतराम्' (अपेक्षाकृत अधिक नमस्कार करता हूँ) में प्रत्यय-वक्रता है—'वन्दे' में एक प्रत्यय 'ते' के बाद अन्य प्रत्यय 'तरप्' का प्रयोग हुआ है। इस प्रयोग से कवि की भावातिरेकता लक्षित होती है। इसी प्रकार—

(२) पिय सों कहहु 'संदेसड़ा' हे भौंरा, हे काग। पद्मावत (जायसी)
(३) जीवन में आग लगा डालूं, हँसकर 'कलिंगड़ा' गाऊँ।
—हिम-किरीटिनी (मा० ला० चतुर्वेदी)

(४) पूरब दिसि से घिरि 'बदरिया' फिर बरसेगी पीर घनेरी।
—अपराजिता (अचल)

'संदेसड़ा' और 'कलिंगड़ा' में 'ड़ा' और 'बदरिया' में 'या' इन अतिरिक्त प्रत्ययों के कारण प्रत्यय-वक्रता है।

× × ×

पदवक्रता के उपर्युक्त दो प्रमुख भेदों पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता और पद-परार्द्ध-वक्रता के उक्त उपभेदों को निरूपित करने के उपरान्त पदवक्रता के दो भेद और भी निर्दिष्ट किये गये हैं—(१) उपसर्ग वक्रता और (२) निपात-वक्रता।

(१) उपसर्ग-वक्रता—उपसर्ग-प्रयोग के कारण रसद्योतन, अर्थात् काव्य-सौन्दर्य[1]—

(१) अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः।।
—विक्रमोर्वशीय ४.३, व० जी० २.१०९

[एक तो मुझे अपनी उस प्रिया का वियोग, और ऊपर से ये वर्षा ऋतु के दिन आ पड़े हैं, जो नव जलदों के कारण धूप के अभाव से रमणीय बन गये हैं—अब यह वियोग 'सुदुःसह' (अत्यन्त दुःसहनीय) हो गया है।]

---

१. व० जी० २.३३

यहाँ 'सुदुःसह' में 'सु' उपसर्ग के कारण उपसर्ग-वक्रता है, जिसका अभिप्राय है—'अत्यन्त', अर्थात् जिसका कोई प्रतिकार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार—

(२) तेरा अधर 'विचुम्बित' प्याला। नीरजा (महादेवी)

(३) एक बार पीकर 'प्रमत्त' हुआ जहाँ।
सुध फिर अपनी पराई उसको कहां? नहुष (मै० श० गुप्त)

इन कथनों में 'प्रमत्त' और 'विचुम्बित में' उपसर्ग-वक्रता है।

(२) **निपात-वक्रता**—निपात (अव्यय) के प्रयोग के कारण रसद्योतन, अर्थात् काव्य-सौन्दर्य।[1]

(१) मुहुरंगुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥
—अभिज्ञान० ३.७८. व० जी० २.११०

यहां 'तु' इस निपात के वक्रता के कारण वक्रता है। इससे दुष्यन्त का पश्चात्ताप द्योतित होता है। इसी प्रकार निम्नोक्त पद्य में 'ही' के कारण निपात-वक्रता है—

(२) उसके आशय की थाह मिलेगी किसको?
जनकर जननी 'ही' जान न पायी जिसको। साकेत (मै० श० गुप्त)

४. वाक्य-वक्रता

वस्तु-वक्रता (वाच्य-वक्रता अथवा अर्थ-वक्रता)—

पद-वक्रता (पद-पूर्वार्द्ध-गत और पद-परार्द्ध-गत वक्रता) का विवेचन करने के उपरान्त कुन्तक ने वाक्य-वक्रता के विवेचन से पहले और इसके बाद दोनों स्थलों पर 'वस्तु-वक्रता' पर प्रकाश डाला है। 'वस्तु' से यहां अभिप्राय है—वाच्य अथवा अर्थ, अर्थात् वर्णनीय विषय, जो कि वाक्य-वक्रता का प्रतिपाद्य होता है।[2] अतः 'वस्तु-वक्रता' वक्रोक्ति का कोई अलग भेद नहीं हैं। वस्तु वक्रता को वाच्य-वक्रता अथवा अर्थ-वक्रता भी कहते हैं। पहले इसी पर प्रकाश डालना अपेक्षित है।

वस्तु-वक्रता से अभिप्राय है—वस्तु अर्थात् काव्य के वर्णनीय विषय की वक्रता। कवि वस्तुतः अपनी वर्णनीय वस्तु का उत्पादक नहीं होता, अपितु वह तो लोक में पूर्व-विद्यमान पदार्थों में कुछ इस प्रकार की विशेषता उत्पन्न कर देता है कि

---

१. व० जी० २.३३

२. 'पद-वक्रता' का सम्बन्ध वाचक से है। वाचक के उपरान्त वाच्य पर प्रकाश डालने के लिए कुन्तक ने 'वस्तु-वक्रता' की सृष्टि की है।

जिससे वे सहृदयों के हृदय का हरण करने वाली किसी अपूर्व रमणीयता को प्राप्त हो जाते हैं।[1]

वस्तु का वर्णन नवीन स्वभाव तथा औचित्य से सुन्दर रूप में करना चाहिए। कुन्तक-सम्मत वस्तु-विभाजन इस प्रकार है।[2] वस्तु अपनी सत्ता (प्रत्यक्षता) के आधार पर दो प्रकार की होती है—चेतन और अचेतन।

—चेतन वस्तु दो प्रकार की होती हैं—प्रधान और गौण। देवता तथा मनुष्य—यह प्रधान चेतन वस्तु है, तथा पशु, पक्षी, आदि अप्रधान चेतन वस्तु। इनमें से प्रधान चेतन का वर्णन रति-आदि के परितोप से मनोहर रूप में वर्णित होना चाहिए, अर्थात् देवता आदि तथा मनुष्य को ही रति आदि का आलम्बन बनाना चाहिए, न कि पशु, पक्षी आदि को। पशु, पक्षी आदि का वर्णन उनके स्व-भाव-वर्णन के साथ—अर्थात् स्वाभाविक रूप में—रसों के सहायक रूप में करना चाहिए।

—इसी प्रकार अचेतन वस्तुओं का प्रयोग भी रसों की उद्दीपक सामग्री के रूप में ही करना चाहिए।

—चेतन और अचेतन वस्तु के वर्णन के प्रमुख रूप से दो प्रयोजन होते हैं—(१) रसादि का परिपोप या अभिव्यक्ति, (२) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस पुरुपार्थ-चतुष्टय की सिद्धि की शिक्षा।

—वस्तु-वक्रता (वर्णनीयता के आधार पर) दो प्रकार की होती है—पहली वस्तु-वक्रता और दूसरी वस्तु-वक्रता।

पहली वस्तु-वक्रता—किसी वस्तु का उत्कर्षशाली, स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन करना (पहली) वस्तु-वक्रता कहाती है।

(१) तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं व्यलम्बन्त पुरः निषण्णः।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः॥
—कु० स० ८.१३, व० जी० ३.१

[विवाहोपरान्त कृशांगी पार्वती को नारियां अपने सामने बिठाकर, उसे सजाने के लिए पास रखे हुए आभूपणों के होने पर भी, उसकी स्वाभाविक शोभा से ही नेत्र के आकर्षित हो जाने के कारण थोड़ी देर तक चुपचाप बैठी रह गयीं।]

इस पद्य में वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य का चित्रण किया गया है, कवि ने अपनी कल्पना का अधिक प्रयोग नहीं किया। इसी प्रकार निराला-रचित निम्नोक्त दोनों पद्यों की भी यही स्थिति है—

---

१. व० जी० ३.१ (वृत्ति)   २. व० जी० ३.५ ६, ७, ८, १०

(२) भरा हुआ तालाब खेलती हैं मछलियां,
पानी की सतह पर पूंछ पटकती हुई। अणिमा (निराला)

(३) जलाशय के किनारे कुहरी थी, हरे नीले पत्तों का घेरा था।
पानी पर आम की डाल आई हुई, गहरे अंधेरे का डेरा था॥ अणिमा

वस्तुत:, इस प्रकार की रचनाओं में स्वभावोक्ति 'अलंकार माना जाता है। कुन्तक से पूर्व और परवर्ती प्राय: सभी प्रमुख आचार्यों ने इस अलंकार की स्वीकृति की है। किन्तु कुन्तक स्वभावोक्ति को 'अलंकार' न मानकर 'अलंकार्य'[1]—अलंकार द्वारा 'अलंकरणीय'—मानते हैं।[2] उनके अनुसार वस्तु का सौन्दर्य-वर्णन करना—यह कोई अलंकार नहीं है। यदि यह भी एक अलंकार है तो फिर यह किसे अलंकृत करता है ? भला कोई व्यक्ति स्वयं अपने कन्धे पर चढ़ने में समर्थ हो सकता है ?[3] संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसे 'स्व-भाव' से रहित कह सकें। उससे रहित वस्तु तो निरुपाख्य होती है, अर्थात् यह उपाख्या (वर्णनीयता) से रहित होती है—'अकल्पनीय' अथवा शश के सींगों के समान असम्भव होती है।[4] अस्तु ! कुन्तक के अनुसार वस्तु की स्वाभाविक उक्ति को अलंकार न कहकर वस्तु-वक्रता मानना चाहिए।

किन्तु हमारे विचार में, केवल वस्तु-वर्णन में और उसके स्वाभाविक रूप के चित्रण में पर्याप्त अन्तर है। यही कारण है कि इस प्रकार के पद्यों में स्वभावोक्ति अलंकार नहीं माना जाता—

गोरपत्यं बलीवर्द: तृणान्यत्ति मुखेन स:।[5]
[वह बैल की सन्तान सांड मुख से घास खाता है।]

---

१. व० जी० ३.१

२. अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृति:।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते॥ व० जी० १.११

३. शरीरं चेदलंकार : किमलंकुरुते परम्।
आत्मैव नात्मन: स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति॥ व० जी० १.१३

४. स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते॥ व० जी० १.१२,१३
[निरुपाख्यं—उपाख्या- × × × वर्जितम्, असत्कल्पं वस्तु शशविषाणप्रायं शब्द-ज्ञानागोचरतां प्रतिपद्यते।]

५. इस पद्य की अगली पंक्ति है—
मूत्रं मुञ्चति शिश्नेन अपानेन तु गोमयम्।

अस्तु ! जो हो, कुन्तक यदि 'स्वभावोक्ति' (स्वाभाविक उक्ति : graphic picture) के स्थलों को 'वस्तु-वक्रता' कहते हैं, तो उनकी इस मान्यता से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि वे किसी वस्तु (वर्ण्य विषय) के अवक्र रूप से—स्पष्ट रूप से—कथनमात्र को काव्य नहीं मानते। अन्तर इतना है कि कुन्तक ऐसे वर्ण्य विषय को 'अलंकार्य' कहते हैं, और अन्य आचार्य इसे 'अलंकार' कहते हैं; किन्तु इस सम्बन्ध में कुन्तक को विशेष आपत्ति नहीं है,[1] क्योंकि इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग तो चलते रहते हैं।

दूसरी वस्तु-वक्रता—यह रचना, जो कवि की दोनों प्रकार की प्रतिभा—सहजा और आहार्या—के कौशल से शोभित होने वाली हो, तथा अभिनव कल्पना से प्रसूत होने के कारण लोक का (अर्थात् लोक-प्रसिद्ध, पुराने वर्णनों, उपमानों आदि का) अतिक्रमण करने वाली हो, दूसरी वस्तु-वक्रता कहाती है।[2]

कवि की स्वाभाविक प्रतिभा सहजा प्रतिभा कहाती है, और शिक्षा (काव्य, शास्त्र आदि के अध्ययन) से प्राप्त प्रतिभा आहार्या प्रतिभा। इन दोनों प्रकार की प्रतिभाओं के वल पर जो रचना की जाती है वह दूसरी वस्तु-वक्रता कहाती है। इनके आधार पर वस्तु-वक्रता के दो भेद हैं—सहजा वस्तु-वक्रता और आहार्या वस्तु-वक्रता। इनमें से आहार्या वस्तु-वक्रता वह होती है, जो उपमा आदि अर्थालंकारों के समावेश से रचित होती है।[3] सभी अर्थालंकारों के उदाहरण इसी आहार्या वाच्य-वक्रता (अर्थ-वक्रता) के उदाहरण माने जा सकते हैं। कुन्तक वस्तुतः इसी को वाक्य-वक्रता भी कहते हैं। अब वाक्य-वक्रता का लक्षण लीजिए।

वाक्य-वक्रता—

—सुकुमार, विचित्र और मध्यम—इन तीनों गुणों में स्थित वक्रता-पूर्ण शब्द, अर्थ और अलंकार के सौन्दर्य से भिन्न कथन ही जिसका प्राण है, ऐसी रचना वाक्य-वक्रता कहाती है।

—किसी रचना में वाक्य-वक्रता ऐसे पृथक् सी दीखती है, जैसे किसी सुन्दर आधार-भित्ति पर अंकित चित्र के रंगों के सौन्दर्य से भिन्न चित्रकार की मन को हरण करने वाली अनिर्वचनीय निपुणता पृथक् ही दीखती है।

---

१. यदि वा × × भावस्वभाव × × × शोभातिशयशालित्वादलंकार्योऽपि अलंकरणमित्यभिधीयते तदयमास्माकीन एव पक्षः। व० जी० ३.१ (वृत्ति)

(यों, आगे चलकर स्वयं कुन्तक ने ही वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत 'स्वभाव' का उदाहरण उपमा आदि अलंकारों के उपरान्त प्रस्तुत किया है, यद्यपि वे इसे वाक्य-वक्रता का एक गौण रूप मानते हैं। देखिए आगे पृष्ठ १२९]

२. व० जी० ३.२ ३. व० जी० २.२१ (वृत्ति)

—इस वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत समस्त अर्थालंकार-वर्ग समाविष्ट हो जाता है, और इसी कारण इसके सहस्रों भेद सम्भव हैं ।[1]

इसी प्रसंग में कुन्तक का निम्नोक्त कथन भी उल्लेख्य है : 'यद्यपि रस, स्वभाव और अलंकार—इन सबका जीवित कवि-कौशल होता है, तथापि विशेष-रूप से अलंकारोत्पादक कौशल के अनुग्रह के बिना नाम-मात्र का भी वैचित्र्य नहीं हो सकता ।[2]

वाक्य-वक्रता के सम्बन्ध में समग्रतः कुन्तक-सम्मत धारणाएं इस प्रकार हैं—

१. आहार्या वस्तु-वक्रता का ही अपर नाम वाक्य-वक्रता है । वाक्य-वक्रता सहस्र-विधा हो सकती है, जिसके अन्तर्गत सभी अर्थालंकार समाविष्ट हो जाते हैं ।

२. जिस प्रकार चित्र-फलक में चित्रकार का कौशल रंगों के सम्मिश्रण से भिन्न दीखता है, उसी प्रकार काव्य में भी कवि का कौशल सुकुमार आदि मार्गों की शोभा से भिन्न दीखता है, और यही अर्थालंकारों का कौशल 'वाक्य-वक्रता' कहाता है ।

३. (क) प्रमुख रूप से तो अर्थालंकारों में प्रदर्शित कवि-कौशल को ही वाक्य-वक्रता कहते हैं, किन्तु (ख) गौण रूप से वस्तु के स्वभाव-वर्णन (स्वभावोक्ति) से, तथा रस से, समन्वित रचनाओं में प्रदर्शित कवि-कौशल को भी वाक्य-वक्रता कह देते हैं ।

निष्कर्षतः, प्रमुख रूप से अर्थालंकारों को वाक्य-वक्रता कहते हैं । कुन्तक ने इसी प्रसंग में 'अलंकार' के अतिरिक्त 'अलंकार-ध्वनि'[3] के उदाहरण भी प्रस्तुत कर दिये हैं, और इस प्रकार उन्होंने बाह्य और आन्तरिक दोनों तत्त्वों को एक ही धरातल पर अवस्थित कर विषय को अव्यवस्थित-सा बना दिया है । अस्तु ! अब उदाहरण लीजिए—

[१] (क) अर्थालंकार : वाच्य रूप में—

(१) **दूर्वाकाण्डमिव श्यामा तन्वी श्यामा लता यथा ।** व० जी० ३.१७
[दूब के समान श्याम वर्ण वाली यह कोमलांगी श्याम (प्रियगु-लता) जैसी लगती है ।]

---

१. व० जी० ३.३,४ तथा १.२०

२. यद्यपि रसस्वभावालंकाराणां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितम्, तथापि अलंकारस्य विशेषतस्तदनुग्रहं बिना........मनाङ्मात्रमपि न वैचित्र्यमुत्प्रेक्षामहे ।
—व० जी० ४.४० (वृत्ति)

३. ध्वनि-काव्य का एक भेद (देखिए पृष्ठ ८६)

इसमें उपमालंकार के कारण वाक्य-वक्रता है, और निम्नोक्त पद्य में रूपक अलंकार के कारण—

(२) उदित उदयगिरि मंच पर, रघुवर बाल पतंग।
विकसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृंग ॥ (रामचरितमानस)

इसी प्रकार निम्नोक्त पद्य में उत्प्रेक्षा अलंकार के कारण वाक्य-वक्रता है—

(३) नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।
—कामायनी : श्रद्धा-सर्ग

(ख) अर्थालंकार : व्यंग्य-रूप में—

(१) लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे सरसायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये,
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधः ॥
—ध्वन्या० २.२७ (वृत्ति), व० जी० ३.७९

[हे चञ्चल और दीर्घ नेत्र वाली प्रिये ! तुम्हारे कान्ति-समुज्ज्वल मुख के मन्द मुस्कान से युक्त होने पर भी इस समुद्र में तनिक भी चंचलता दिखायी नहीं देती, प्रतीत होता है कि यह निरा जलमात्र-समूह ही है।]

यहां वक्रता (अथवा व्यंग्यार्थ) यह है कि 'मुख चन्द्रमा है'। इस रूपक अलंकार को लक्ष्य में रखकर कुन्तक ने यहां वाक्य-वक्रता मानी है। किन्तु आनन्दवर्धन ने यहां अलंकार (चित्रकाव्य) न मानकर अलंकार-ध्वनि मानी है, क्योंकि रूपक अलंकार यहां वाच्य-रूप में न होकर व्यंग्य-रूप में है। इसी प्रकार निम्नोक्त पद्य में भी रूपक अलंकार व्यंग्य रूप में है—

(२) दियो अरघ नीचे चलौ संकट भानै जाइ।
सुचती ह्वै सखिहि सबै ससिहि बिलोकन आइ ॥ (बिहारी)

[२] स्वभाव (किसी वस्तु के स्व-भाव) का वर्णन—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणाम्
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते मन्ये जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः ॥ व०जी० ३.२१

[हे भद्र उद्धव ! यमुना-तट के लताकुञ्ज कुशल से तो हैं, जो गोपवधुओं के विलास के सखा हैं, तथा राधा की एकान्त क्रीड़ाओं के साक्षी हैं। किन्तु अब तो

—कृष्ण के वहाँ से चले जाने के कारण—वे पत्ते पुराने पड़ गये होंगे, जो अपनी नीली कान्ति को फैलाते थे, क्योंकि अब मदन-शय्या का निर्माण करने के लिए उन्हें अपने कोमल रूप में तोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती होगी ।[1]]

कुन्तक के अनुसार ऐसे स्थलों में किसी अलंकार के बिना वस्तु (वर्णनीय विषय) का स्वाभाविक वर्णन-मात्र रहता हैं । अतः ऐसे स्थल स्वभावोक्ति तो हैं, पर इन्हें अलंकार नहीं मानना चाहिए,[2] हाँ, इन्हें वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत अवश्य माना जाएगा ।

(३) रस—

लोको यादृशमाह साहसधनं तं क्षत्रियापुत्रकं
स्यात् सत्येन स तादृगेव न भवेद् वार्ता विसंवादिनी ।
एकां कामपि कालविप्रुषममी शौर्योष्मकण्डूव्यय-
व्यग्राः स्युश्चिरविस्मृतामरचमूडिम्बाहवा बाहवः ।।

—व० जी० ३.२२

[रावण की आवेशपूर्ण उक्ति—उस 'साहसी' क्षत्रिया-पुत्रक राम को लोग जैसा कहते हैं वह सचमुच वैसा ही होगा, किन्तु मेरे वे बाहु तो, जिन्हें देवताओं की सेना के सैनिकों के साथ किया गया युद्ध विस्मृत हो गया है, अब थोड़ी देर के लिए सही, पराक्रम की गर्मी से उत्पन्न खुजली को मिटाने के लिए व्याकुल हो रहे हैं ।]

यहाँ वीर रस के कारण वाक्य-वक्रता है ।

इस प्रकार वाक्य-वक्रता प्रमुखतः अर्थालंकार का ही अपर नाम है । 'स्वभावोक्ति' और 'रस' को भी गौण रूप से वाक्य-वक्रता कह सकते है ।

५. प्रकरण-वक्रता

प्रकरण से तात्पर्य है—प्रबन्ध-काव्य का कोई एक देश (अंश), अर्थात् कथा-प्रसंग । प्रबन्ध के एक देश की वक्रता प्रकरण-वक्रता कहाती है । इसके नौ भेद है—

(१) पात्र-प्रवृत्ति-वक्रता (पात्रों द्वारा भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना)—जिससे पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष हो ।[3] कुन्तक ने उदाहरण-स्वरूप राजा रघु और कौत्स के प्रसंग को उद्धृत किया है, जिसमें कौत्स अपने गुरु महर्षि वरतन्तु को

---

१. स्वभावोक्ति के अन्य उदाहरण पीछे पृष्ठ १२५, १२६ पर 'पहली वस्तु-वक्रता' के अन्तर्गत देखिए ।

२. देखिए पृष्ठ १२६-१२८   ३. व० जी० ४.१,२

दक्षिणा देने के निमित्त धन-प्राप्ति के लिए रघु के पास जाता है। उसके आने से पूर्व ही यज्ञ में सर्वस्व दान कर चुकने के कारण राजा के पास मिट्टी के पात्र ही शेष थे। परन्तु कौत्स की इच्छापूर्ति के लिए रघु कुवेर पर आक्रमण करने जाता है, और उसी रात स्वर्ण-वृष्टि से रघु का कोप भर जाता है—'अव इधर रघु कौत्स को अपार सम्पत्ति ले लेने का आग्रह करता है, किन्तु उधर कौत्स गुरु-दक्षिणा से अधिक लेने को तैयार नहीं होते। दाता हो तो ऐसा, और याचक हो तो ऐसा! साकेतवासी लोगों के लिए ये दोनों अभिनन्दनीय थे—

(१) **जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूताम् अभिवन्द्यसत्त्वौ।**
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च॥

—रघुवंश ५.३१, व० जी० ४.७

इसी प्रकार की पात्रों की भावपूर्ण स्थिति निम्नोक्त पद्य में भी द्रष्टव्य है, जिससे कौशल्या, राम और लक्ष्मण का उत्कर्ष द्योतित होता है—

(२) **'आया फिर तू राम, कोख में मानो मेरी,**
लक्ष्मण, मेरी गोद रहे शिशु-शय्या तेरी।'
'जन्म-जन्म में यही कोख जननी मैं पाऊं।'
'मां, मैं लक्ष्मण इसी गोद में पलता जाऊं।' साकेत, सर्ग १२

[२] **उत्पाद्य कथा-वक्रता**—ऐतिहासिक कथा-वस्तु के किसी प्रकरण में कवि-कल्पना द्वारा तनिक से परिवर्तन से मधुर काव्य-सौन्दर्य की उत्पत्ति, जिससे यह प्रकरण रस की पराकाष्ठा को पहुंचकर सफल प्रवन्ध का प्राण वन जाए।[1] इसके दो रूप हैं—

(क) **अविद्यमान की कल्पना** (अर्थात् नवीन प्रसंग की उद्भावना)—जैसे कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में दुर्वासा के शाप[2] की कल्पना द्वारा दुष्यन्त के चरित को लांछित होने से वचा लिया है। इसी प्रकार 'साकेत' में मैथिलीशरण गुप्त ने कैकेयी के हृदय में अपने पति के प्रति और भी अधिक अविश्वस्त होने और उसे अनिष्टकारी समझने का यह एक नूतन कारण प्रस्तुत किया है कि—

'भरत से सुत पर भी सन्देह
वुलाया तक न उन्हें जो गेह'—
गूंजते थे रानी के कान
तीर-सी लगती थी यह तान। (साकेत)

---

१. व० जी० ४.३४

२. विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोनिधिं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स वोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥

—अभिज्ञान० ४.१, व० जी० ४.८

इसी प्रकार साकेत में 'कैकेयी का पश्चात्ताप-प्रसंग', लक्ष्मण-शक्ति का संवाद सुनकर अयोध्यावासियों का रणसज्जा-प्रसंग, आदि।

(ख) **विद्यमान का संशोधन**—जैसे मायुराज-प्रणीत 'उदात्तराघव' संस्कृत-नाटक (अप्राप्य) में मारीच-वध के लिए, राम नहीं अपितु, लक्ष्मण जाते हैं, और सीता लक्ष्मण की प्राण-रक्षा के लिए राम को भेजती है। इसी प्रकार 'चन्द्रगुप्त' नाटक में नन्द की हत्या शकटार द्वारा करायी गयी है, न कि चन्द्रगुप्त द्वारा। 'कामायनी' में मनु और इड़ा के बीच पिता-पुत्री के स्थान पर प्रिय-प्रिया-सम्बन्ध बताया गया है।

(३) **उपकार्योपकारक-भाव-वक्रता**—जहाँ प्रासंगिक कथाएं परस्पर एक-दूसरे का उपकार करती हुई अन्ततः प्रमुख कार्य (फलबन्ध) का उपकार करें।[1] उदाहरणार्थ—'उत्तररामचरित' के पहले अंक में राम ने जृम्भकास्त्रों की अद्भुत शक्ति का वर्णन किया और पांचवें अंक में लव ने उन अस्त्रों का प्रयोग किया। इन दोनों में से पहला प्रसंग दूसरे प्रसंग का उपकारक है, क्योंकि दूसरे प्रसंग में पाठकों को इन अस्त्रों की अद्भुतता पूर्वज्ञात थी, अन्यथा वे इसे असम्भव समझते। और फिर, ये दोनों प्रसंग नाटक के अन्त में 'राम-सीता-मिलन' इस प्रमुख कार्य (फलबन्ध) का उपकार करते हैं। कुन्तक की यह मान्यता अरस्तु-सम्मत 'कार्यान्विति' के अधिकांशतः समीप है। इसी प्रकार 'साकेत' के दूसरे सर्ग में लक्ष्मण तथा उर्मिला का भरत के विषय में सोचना कथा-प्रसंग को आगे बढ़ाता है। 'कामायनी' के 'काम-सर्ग में मनु-काम की वार्ता आगे चलकर इड़ा-सर्ग में काम के अभिशाप का उपकार करती हुई मनु को पतन के मार्ग पर और भी वेग से अग्रसर कर देती है, और इस प्रकार चरम घटना की सिद्धि में सहायक होती है।[2]

(४) **आवृत्ति-वक्रता**—किसी एक प्रकरण की नूतन रूपों में पुनः-पुनः प्रस्तुति। इसमें कवि नूतन रसों तथा अलकारों के समावेश से प्रकरण को उज्ज्वल बना देता है।[3]

उदाहरणार्थ—'तापसवत्सराजचरित' नामक (अप्राप्त) नाटक में वासवदत्ता के मृत्यु-समाचार से सन्तप्त उदयन का विलाप सात श्लोकों में वर्णित किया गया है। एक ही विषय के पुनः-पुनः आवृत्त होने पर भी इसमें नूतनता है।[4] इसी प्रकार, 'कामायनी' में श्रद्धा के लज्जावेष्टित सौन्दर्य का चित्रण निम्नोक्त पद्य में देखिए, जिसमे नूतन वर्णनाओं का आधार ग्रहण किया गया है—

गिर रही पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।

---

१. व० जी० ४.५, ६
२. व० जी० की भूमिका (डॉ० नगेन्द्र) पृष्ठ ९८
३. व० जी० ४.७,८
४. व० जी० ४.८ (श्लोक-संख्या १४-२१)

स्पर्श करने लगी लज्जा-ललित कर्ण-कपोल,
खिला पुलक कदंब-सा था भरा गद्गद बोल ।।

—कामायनी : वासना-सर्ग

(५) **प्रासंगिक प्रकरण-वक्रता अर्थात् किसी विशिष्ट प्रकरण का मनोहारी वर्णन**—कथा के किसी एक प्रकरण का नवीन एवं मनोहारी वर्णन प्रवन्धकाव्य को वक्रतापूर्ण बना देता है। उदाहरणार्थ, 'रघुवंश' में दशरथ का मृगया-वर्णन, 'बुद्ध-चरित्र' में 'बुद्ध-माया-वर्णन', 'कादम्बरी' में विदिशा-नगरी-वर्णन, और इधर 'कामायनी' में लज्जा-वर्णन, 'साकेत' में उर्मिला-विरह-वर्णन, आदि ।

(६) **प्रकरण-रस-वक्रता, अथवा रोचक प्रसंगों का विशेष विस्तार से वर्णन**—अर्थात् जहाँ कोई प्रकरण अपने से पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती प्रकरणों से निरपेक्ष रहते हुए भी किसी एक अंगी रस का प्रवहण करे। जैसे षड्ऋतु, चन्दोदय, सूर्योदय, जल-क्रीड़ा, मधुपान, आदि का वर्णन। उदाहरणार्थ, 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के उन्मत्तांक नामक चतुर्थ अंक में उन्मत्त पुरुरवा का उर्वशी-विषयक विप्रलम्भ शृंगार रस का वर्णन, रघुवंश में कुश की जलक्रीड़ा का वर्णन, किरातार्जुनीय में बाहुयुद्ध-प्रसंग । इधर हिन्दी में प्रियप्रवास में रास-क्रीड़ा आदि, जयद्रथ-वध में स्वर्ग-वर्णन आदि, साकेत में चित्रकूट-वर्णन आदि ।

(७) **अवान्तर-वस्तु वक्रता अथवा अप्रधान किन्तु सुन्दर प्रसंग की उद्भावना द्वारा प्रधान कथावस्तु की सिद्धि**—मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य द्वारा नियुक्त पुरुष द्वारा आत्महत्या का प्रपंच करना, जिससे चाणक्य राक्षस को जीवित वन्दी बना सकने में सफल हुआ। इसी प्रकार हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त के 'शकुन्तला' काव्य में वणिक् द्वारा डूब कर मर जाने के प्रसंग से दुष्यन्त को अपनी वंशरक्षा की सुधि आ जाना, आदि ।

(८) **नाटकान्तर्गत नाटक-वक्रता अथवा गर्भांक**—नाटक के एक अंक में एक लघु अंक की रचना, जिसमें एक कुशल नट सामाजिक का रूप ग्रहण कर ले। जैसे—'बाल रामायण' (राजशेखर) नाटक के तीसरे अंक में 'सीता-स्वयवर' नामक गर्भांक, 'उत्तररामचरित' के सातवें अंक में गर्भांक, जिसमें श्री रामचन्द्र जी को वाल्मीकि-रचित नाटक का अभिनय अप्सराओं द्वारा दिखाने का आयोजन किया गया। इसमें सीता को गंगा में कूदता देखकर रामचन्द्र 'हा कुमार ! हा लक्ष्मण !' पुकार उठे थे ।

(९) **मुखसंध्यादि-विनिवेश-वक्रता, अथवा विभिन्न प्रकरणों की परस्पर अन्विति**—मुख, प्रतिमुख, आदि नाट्य-सधियों के माध्यम से विभिन्न प्रकरणों की परस्पर-सम्बद्धता।[1] संस्कृत और हिन्दी के प्रायः सभी प्रवन्ध-काव्य, जैसे—रघुवंश,

---

१. व० जी० ४.१४

कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय आदि, तथा कामायनी, साकेत, यशोधरा, नूरजहाँ, आदि—इस अन्विति के कारण ही उपादेय बन सके हैं ।

६. प्रबन्ध-वक्रता

प्रबन्ध-वक्रता से तात्पर्य है महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक आदि । इससे सम्बद्ध कवि-कौशल प्रबन्ध-वक्रता कहाता है । इसके छह भेद हैं—

(१) **मूलरस-परिवर्तन**—आधार-कथा को हृदयहारी बनाने के उद्देश्य से उसके मूल रस के स्थान पर किसी अन्य रस का निर्वहण ।[1]

उदाहरणार्थ, शान्तरस-प्रधान रामायण पर आधारित 'उत्तररामचरित' को करुणरस-प्रधान नाटक के रूप में[2], और शान्तरस-प्रधान महाभारत पर आधारित 'वेणीसंहार' को वीररस-प्रधान नाटक के रूप में प्रस्तुत करना ।[3]

इसी प्रकार हिन्दी में भी रामायण पर आधारित 'रामचन्द्रिका' को वीररस-प्रधान और 'साकेत' को शृंगार-रस-प्रधान काव्य के रूप में प्रस्तुत करना ।

हमारे विचार में 'मूलरस-परिवर्तन' का उत्कृष्ट उदाहरण है माइकेल मधुसूदन-दत्त-रचित 'मेघनादवध', जिसमें मूल कथा में आमूल परिवर्तन के माध्यम से रस-परिवर्तन हो गया है । इसके अतिरिक्त हमारे विचार में कथा-वातावरण-परिवर्तन को भी इस वक्रता का एक रूप मानना चाहिए । जैसे रामायण पर आधारित 'रामचरितमानस' है तो शान्तरस-प्रधान, पर इसके वातारण में अपने आधार-ग्रन्थ से भिन्नता आ गयी है ।

(२) **विशेष प्रकरण पर कथा-समाप्ति**—कभी-कभी कवि नायक का उत्कर्ष दिखाने के उद्देश्य से इतिहास-प्रसिद्ध कथा के किसी विशेष प्रकरण पर आकर कथा की समाप्ति कर देता है, विशेषतः उस स्थिति में, जब कि कथा का परवर्ती भाग

---

१. व० जी० ४. १६,१७

२. उत्तररामचरित नाटक को हमारे विचार में 'विप्रलम्भ-शृंगाररस-प्रधान' मानना चाहिए । (देखिए भारतीय काव्यशास्त्र, पृष्ठ २५४)

३. हमारे विचार में कुन्तक-प्रस्तुत 'मूलरस-परिवर्तन' भेद तो ग्राह्य है, किन्तु उदाहरण-स्वरूप उत्तररामचरित और वेणीसंहार नाटकों का उल्लेख यथावत् नहीं है, क्योंकि ये दोनों नाटक केवल रामायण और महाभारत के क्रमशः उन प्रसग पर आधारित है, जो कि करुण रस (अथवा विप्रलम्भ शृंगार) और वीर रस से सम्बन्धित हैं । यह अलग प्रश्न है कि ये दोनों रस अपने-अपने मूल काव्य-ग्रन्थों के अंगी रस—शान्त रस—के प्रति अंग हैं ।

कोरा इतिवृत्तात्मक अतएव नीरस होता है।[1]

उदाहरणार्थ—यद्यपि 'किरातार्जुनीय' के प्रारम्भिक श्लोकों से प्रतीत होता है कि भारवि आरम्भ से लेकर दुर्योधन के नाश और युधिष्ठिर के राज्यारोहण-पर्यन्त समग्र कथा का अनुबन्ध कर रहा है, किन्तु वह कथा की समाप्ति वहीं कर देता है, जहां अर्जुन किरात-वेशधारी शिव के साथ युद्ध करके अपना शौर्य-पराक्रम दिखाकर पाशुपत अस्त्र प्राप्त कर लेता है।

इधर हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त ने 'जयद्रथवध' में जयद्रथ के वध के उपरान्त अर्जुन की प्रतिज्ञापूर्ति के साथ कथा की समाप्ति कर दी है, यद्यपि अभी दुर्योधन का नाश तथा युधिष्ठिर का राज्यारोहण आदि घटनाएं दिखायी जा सकती थीं। किरातार्जुनीय और जयद्रथवध दोनों में कथा को मध्य में छोड़ देने का उद्देश्य है—अर्जुन के चरम उत्कर्ष को दिखाना। इसी प्रकार प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में भी कथा वहीं समाप्त कर दी जाती है जब चन्द्रगुप्त यवनों को निष्कासित कर देता है।

(३) **कथा-विच्छेद अर्थात् कथा के मध्य में ही किसी अन्य कार्य द्वारा प्रधान कार्य की सिद्धि**[2]—अर्थात् जहाँ मूल कथा को किसी ऐसे विशिष्ट स्थल पर बीच में ही समाप्त कर दिया जाए जो किसी अबाध रस से उज्ज्वल हो। उदाहरणार्थ, 'शिशुपालवध' में माघ ने शिशुपाल के वध के उपरान्त कथा की समाप्ति कर दी है, यद्यपि कथा-स्रोत युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ तक अभी और आगे बढ़ना था।

इधर हिन्दी में 'नहुष' में नहुष के पतन पर तथा 'विकट भट' में बालक के वीरतापूर्ण कथन पर कथा समाप्त कर दी गयी है। कथा-सूत्र का अनायास एवं आकस्मिक विच्छेद कभी-कभी अत्यन्त चमत्कारपूर्ण हो उठता है।

वस्तुतः, दूसरे और तीसरे भेद में कोई विशेष अन्तर नहीं है। अतः इन्हें एक ही मानना चाहिए।

(४) **नायक द्वारा अनेक आनुषंगिक फलों की प्राप्ति**—एक विशेष फल की सिद्धि के लिए तत्पर होने पर अन्य फलों की भी प्राप्ति हो जाना।[3] उदाहरणार्थ, नागानन्द नाटक में उसका नायक जीमूतवाहन, मूलतः अपने पिता की सेवा लिए वन में गया था, किन्तु वहां उसका गन्धर्व-कन्या मलयवती से प्रेम और विवाह हुआ, तथा शंखचूड नामक नाग की रक्षा के लिए अपने प्राण-त्याग द्वारा उसने नागवंश को नष्ट होने से बचा लिया। इस प्रकार वह पितृभक्त होने के साथ-साथ एक सफल प्रेमी और लोकोपकारक भी बन गया।

१,२. व० जी० ४. १८,१९,२०,२१

३. व० जी० ४.२२

इधर 'हिडिम्बा' (मैथिलीशरण गुप्त) में पांचों पाण्डव लाक्षागृह से प्राण बचाकर अज्ञातवास के लिए गये तो भीम का 'विवाह' हिडिम्बा से हो गया। इस प्रकार 'चित्रांगदा' (अनूदित) में वनवास-दण्ड भोगने के लिए अर्जुन जब यात्रा पर निकलता है, तो वहां उसे चित्रांगदा की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार के प्रसंगों से कवि प्रबन्ध-काव्य में मानव की बहुविध कुतूहलताओं और अभिलाषाओं की पूर्ति अप्रत्याशित रूप से करके काव्य-वैचित्र्य उत्पन्न कर देता है।

(६) **प्रधान कथा का द्योतक नाम**—प्रबन्ध-काव्य के नामकरण द्वारा कथा के मूल रहस्य को प्रकारान्तर से संकेतित करने के माध्यम से प्राप्त वक्रता।[1] जैसे—अभिज्ञानशाकुन्तल, मेघदूत, मुद्राराक्षस, मृच्छकटिक, और इधर—साकेत, रंगभूमि, कायाकल्प, लोकायतन आदि, नाम। किन्तु इनके विपरीत शिशुपालवध, यशोधरा, जयद्रथवध, प्रियप्रवास, निर्मला, आदि नाम अभिधात्मक हैं। अतः इनमें उक्त वक्रता का अभाव है।

(६) **कथा-साम्य अथवा एक कथा से सम्बद्ध विलक्षण प्रबन्धत्व**—एक मूल कथा पर आधारित परस्पर-भिन्न प्रबन्धों की रचना।[2] जैसे—रामायण पर आधारित वीरचरित, बाल-रामायण, प्रतिमा नाटक, रघुवंश काव्य; इधर हिन्दी में—रामचरितमानस, रामचन्द्रिका, साकेत, आदि। वस्तुतः, प्रबन्धवक्रता के इस भेद का तात्पर्य यह है कि पाठक को तुलनात्मकता से भी एक प्रकार का सुख मिलता है।

इस प्रकार प्रबन्ध-वक्रता का प्रसंग समाप्त करने के उपरान्त कुन्तक ने निम्न श्लोक में उपसंहार करते हुए कहा है कि 'जिस प्रकार एक-सा शरीर धारण करने वाले, अर्थात् समान इन्द्रियां रखते हुए भी, प्राणी अपने-अपने गुणों से पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार एक ही मूल कथा के होने पर भी [महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक आदि] प्रबन्ध-काव्य अपने-अपने गुणों (कवि के कौशल एवं कल्पना से जन्य बाह्य रचना-विधानों तथा चमत्कारोत्पादक स्थलों) के कारण पृथक्-पृथक् भासित होते हैं—

कथोन्मेषसमानेऽपि वपुषीव निजैर्गुणैः।
प्रबन्धाः प्राणिन इव प्रभासन्ते पृथक्-पृथक्॥ व०जी० ४.२५(४२)

× × ×

इस प्रकार कुन्तक-सम्मत वक्रोक्ति के छह प्रमुख भेदों के (६+११+८+१+६+६) कुल ४१ उपभेद हैं।[3] ये सभी सौन्दर्य-प्रकार, यों कहिए वक्रोक्तियां, अकेले-अकेले रूप में भी काव्य-सौन्दर्य उत्पन्न करती हैं, तथा एक से अधिक रूप में

१,२. व० जी० २४,२५ ३. देखिए पृष्ठ १०५-१०७

मिलकर भी। दूसरी स्थिति में काव्य की शोभा कहीं अधिक बढ़ जाती है।[1] यद्यपि कुन्तक ने यह कथन पदपरार्ध-वक्रता के भेद निर्दिष्ट करने के उपरान्त कहा है, किन्तु वस्तुतः यह सभी भेदों के सम्बन्ध में घटित हो सकता है।

कुन्तक के अनुसार इन्हीं भेदोपभेदों के अन्तर्गत काव्य का सभी प्रकार का सौन्दर्य, चाहे वह बाह्य हो अथवा आन्तरिक, समाविष्ट हो जाता है। कतिपय उदाहरण लीजिए—

१. अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार, तथा उपनागरिका आदि वृत्तियां और उनके अनुरूप वैदर्भी आदि रीतियां='**वर्णविन्यास-वक्रता**'।

२. उपमा, रूपक आदि अर्थालंकार तथा अलंकार-ध्वनि='**वाक्यवक्रता**'।

३. परिकर और उसके सदृश अर्थालंकार='**पर्यायवक्रता**'(**पदपूर्वार्ध-वक्रता का एक भेद**।)

४. लक्षणा शब्दशक्ति तथा रूपक, रूपकातिशयोक्ति के समकक्ष अलंकार= '**उपचार-वक्रता**' (पद-पूर्वार्ध-वक्रता का एक भेद)

५. अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि और अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि= '**रूढि-वैचित्र्यवक्रता**' (**पदपूर्वार्धवक्रता' का एक उपभेद**)।

६. ध्वनि के काल, कारक, वचन, उपसर्ग, निपात, आदि विषयक उपभेद='**पदपरार्धवक्रता**' अथवा '**पदवक्रता**'।

७, ८. प्रकरणगत ध्वनि '**प्रकरणवक्रता**' के समीप है, तो प्रबन्धगत ध्वनि '**प्रबन्धवक्रता**' के समीप।

९. स्वभावोक्ति अलंकार तथा कवि-शिक्षा के अन्तर्गत वर्ण्य विषय '**वस्तुवक्रता**' में अन्तर्भूत होते हैं।

वक्रोक्ति तथा अन्य काव्य-तत्त्व

१. अलंकार के प्रति कुन्तक का दृष्टिकोण बहुविध है। भामह ने अलंकार के सम्बन्ध में यह धारणा प्रकट की थी कि 'अलंकार कहते हैं वक्र शब्द और अर्थ से युक्त उक्ति को।[2] कुन्तक ने वस्तुतः यहीं से तथा ऐसी अन्य मान्यताओं से प्रेरणा प्राप्त कर वक्रोक्ति-तत्त्व को पल्लवित एवं विकसित किया है। किन्तु फिर भी, अलंकार के प्रति इनका दृष्टिकोण मूलतः वही है जो कि 'आनन्दवर्धन का है कि 'अलंकार

---

१. देखिए पृष्ठ १०६ पा० टि० १

२. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। का० अ० (भा०) १.३६

कान्ता के शरीर के समान काव्य-शरीर की शोभा के वर्द्धक हैं, और इनसे अलंकार्य अर्थात् वर्ण्य विषय चमत्कृत हो उठता है।[1] यहां यह ज्ञातव्य है कि कुन्तक ने वाच्य और व्यंग्य दोनों प्रकार के अलंकारों को 'वाक्य-वक्रता' नाम देते हुए एक ही स्तर पर अवस्थित कर दिया है। परिणामतः, कुन्तक के मत में आनन्दवर्धन-सम्मत चित्र-काव्य के अन्तर्गत उपमा, रूपक आदि के उदाहरण तथा ध्वनि-काव्य के अन्तर्गत अलंकार-ध्वनि के उदाहरण 'वाक्य-वक्रता' में अन्तर्भूत हो गये हैं। किन्तु स्पष्ट है कि कुन्तक की यह मान्यता किसी भी रूप में संगत नहीं है। इसी प्रकरण में उन्होंने रसवद् आदि चार अलंकारों का स्वरूप नवीन रूप में निर्दिष्ट किया है,[2] जो कि न तो भामह आदि अलंकारवादी आचार्यों के समान है, और न ही आनन्दवर्धन के समान।[4] इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वभावोक्ति को अलंकार न मानते हुए इसे 'अलंकार्य' अर्थात् वर्णनीय विषय का पर्यायवाची माना है।[3]

२. कुन्तक ने वामन-सम्मत रीति को, तथा संभवतः भामह तथा दण्डी द्वारा सम्मत मार्ग को भी एक निःसार काव्यतत्त्व समझकर इस पर विशिष्ट प्रकाश डालना उचित नहीं समझा : **तदलमनेन निःसारवस्तुपरिमलव्यसनेन**। (व० जी० १.२२, वृत्ति), अर्थात् रीति [तथा काव्यमार्ग भी] तो एक निःसार वस्तु है, इसके 'सुगन्ध' (दुर्गन्ध ?) के व्यसन से बचना चाहिए। किन्तु कुन्तक की यह तिरस्कारोक्ति तभी ग्राह्य हो सकती थी जब वे रीति-सिद्धान्त का सम्यक् खण्डन प्रस्तुत करते। वस्तुतः, इन पर रीति-सिद्धान्त का भी प्रभाव प्रकारान्तर से कम नहीं पड़ा। इन्होंने 'बन्ध' शब्द की व्याख्या करते हुए इसी प्रसंग में सुकुमार, विचित्र और मध्यम इन तीन मार्गों, और इनके सन्दर्भ में औचित्य और सौभाग्य तथा माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य—इन छह गुणों का जो विवेचन किया है, उसका मूल स्रोत भामह, दण्डी और वामन द्वारा निर्दिष्ट एतद्-विषयक धारणाएँ ही हैं,[4] यद्यपि यह अलग प्रश्न है कि इन्होंने इस प्रकरण में अनेक नूतन उद्भावनाएँ भी प्रस्तुत की हैं।

३. आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त के समकक्ष, अपितु इसकी प्रतिद्वन्द्विता-स्वरूप कुन्तक ने 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ के ही आलोक में 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' की निर्मिति की है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रायः 'ध्वनिकार' शब्द का स्पष्टतः प्रयोग किया है,[5] तथा ध्वन्यालोक में उदाहृत अनेक पद्यों को अपने ग्रन्थ में प्रायः उन्हीं प्रसंगों में ही उद्धृत किया है, तथा अनेक कारिकाएँ एवं सिद्धान्त-कथन उद्धृत किये हैं। वक्रोक्ति और ध्वनि के अनेक उपभेदों में भी समानता परिलक्षित होती है, और कई स्थलों पर ध्वनि-सिद्धान्त

---

१. व० जी० १.३६,३७
२. व० जी० ३.११,१५
३. व० जी० १.११,१३
४. जी० १.२४, ५३, ५४
५. व० जी० २.९ (वृत्ति)

के अनेक प्रचलित शब्दों—प्रतीयमान, व्यंग्य आदि—का भी प्रयोग किया है।[1] यहां तक कि 'ध्वनि' और 'वक्रोक्ति' के लक्षणों में भी प्रायः साम्य है—ध्वनि यदि 'प्रसिद्ध अवयव से अतिरिक्त अर्थ की द्योतक है, तो इधर वक्रोक्ति प्रसिद्ध अभिधान से 'व्यतिरेकिणी' (अतिरिक्ता) एक 'विचित्रा अभिधा' है। वस्तुतः, दोनों कथनों का एक ही अभिप्राय है कि प्रसिद्धार्थ (वाच्यार्थ) से भिन्न अर्थ को 'ध्वनि' अथवा 'वक्रोक्ति' कहते हैं—

ध्वनि—**प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।**
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥ ध्वन्या० १.४

वक्रोक्ति—**वक्रोक्तिः वैदग्ध्यभंगीभणितिः।**
वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा, वैदग्ध्यं कविकर्मकौशलम्। —व० जी० १.१ वृत्ति

किन्तु इतना साम्य होते हुए भी 'वक्रोक्ति' ध्वनि के समान नितान्त आन्तरिक काव्य-तत्त्व नहीं है। इसके प्रमुख भेदों के नाम—वर्ण, पदपूर्वार्ध, पदपरार्ध, वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध—ये सभी पूर्णतः बाह्य-परक हैं, और इनके भेदोपभेद कहीं बाह्यपरक हैं, कहीं आन्तरिक हैं, और कहीं इनमें इस दृष्टि से अव्यवस्था है। फिर भी, ये कुल मिलाकर अधिकांशतः बाह्यपरक ही हैं। इस पर भी कुन्तक वक्रोक्ति को यदि 'काव्य का जीवित' कहते हैं तो उनके सम्मुख आनन्दवर्धन का यह सिद्धान्त-वाक्य था—'ध्वनिरात्मा काव्यस्य।' पर वस्तुतः, कोई आन्तरिक काव्य-तत्त्व ही आत्मा कहलाने का अधिकारी बन सकता है, न कि बाह्यपरक काव्य-तत्त्व।

४. कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य के जीवित रूप में गौरवास्पद स्थान प्रदान करते हुए भी रस के महत्त्व का निर्देश स्थान-स्थान पर किया है। उन्होंने रस को काव्य का अमृत तथा अन्तश्चमत्कार का वितानक कहा गया है।[2] काव्य-वाणी के सम्बन्ध में उनका कथन है कि यह एक सुन्दरी नायिका के समान रस-भरी होने के कारण आर्द्र-हृदया होती है।[3] इसके अतिरिक्त कुन्तक ने अनेक स्थलों पर सहृदय के लिए 'सरसात्मा', 'रसादि-परमार्थज्ञ' आदि अनेक शब्दों का प्रयोग करते हुए रस का महत्त्व प्रकारान्तर से निर्दिष्ट किया है।[4] साथ ही, उनके काव्य-लक्षण में प्रयुक्त

---

१. यस्माद् ध्वनिकारेण व्यंग्यव्यंजकभावोऽत्र···। व० जी० २.६ वृत्ति

२. काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते। व० ज० १.५६

३. अत्ययं रसवत्तयार्द्रहृदया [भावैरुदाराभिधा।
वाग् वश्यं कुरुते जनस्य हृदयं] यथा नायिका ॥
—व० जी ३.४६ [आचार्य विश्वेश्वर द्वारा परिवर्धित]

४. (क) सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम्। व० जी० १.५६
(ख) रसादिपरमार्थज्ञ। व० जी० १.२६

'तद्विदाह्लादकारिणि' पद भी सहृदय द्वारा प्राप्त आह्लाद अर्थात् काव्यानन्द अथवा रस की ओर स्पष्ट संकेत करता हैं।[1] इस प्रकार उन्होंने रस के महत्त्व को अनेक स्थलों पर घोषित किया है।[2]

इस प्रकार कुन्तक ने उक्त स्थलों के माध्यम से रस को महनीय स्थान दिया है। फिर भी, यदि वह आनन्दवर्धन के समान 'रस' को केवल किसी एक विशिष्ट भेद अथवा उपभेद के रूप में निर्दिष्ट करते, तो व्यवस्था की दृष्टि से यह स्थिति कहीं अधिक श्रेयस्कर रहती। वस्तुतः, कुन्तक के सम्मुख ध्वनि-काव्य का 'रस-ध्वनि' नामक भेद था, जिसे वह वक्रोक्ति-सिद्धान्त में समाविष्ट करना चाहते थे, किन्तु वह इसे वक्रोक्ति के किसी एक विशिष्ट भेद अथवा उपभेद में अनुस्यूत नहीं कर पाये। अतः उन्होंने वस्तु-वक्रता के प्रसंग के अन्तर्गत विशेप रूप से, तथा अन्य प्रसंगों के अन्तर्गत सामान्य रूप से इसे समाविष्ट कर दिया, जो कि इनकी प्रतिपादन-व्यवस्था में शिथिलता का द्योतक है। अस्तु !

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुन्तक ने 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' में पूर्ववर्ती चारों प्रधान काव्य-तत्त्वों—अलंकार, रीति, ध्वनि और रस—को किसी-न-किसी रूप में समाविष्ट करने का प्रयास किया है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त का खण्डन

वक्रोक्ति-सिद्धान्त का आगे चलकर अनुकरण नहीं हुआ, इसका प्रमुख कारण है कुन्तक का समन्वयवादी दृष्टिकोण, जिसका निर्वहण वे व्यवस्थित रूप से नहीं कर सके। दूसरा कारण यह कि 'ध्वनि' जैसे आन्तरिक सिद्धान्त की तुलना में अव फिर से 'अलंकार', 'रीति' और 'वक्रोक्ति' जैसा कोई भी बाह्यपरक सिद्धान्त पनप नहीं सकता था। एक अन्य कारण यह भी है कि कुन्तक की शैली, विशेपतः गद्यभाग, दुरूह है, किन्तु यह गौण कारण है—शैली तो मम्मट की भी दुरूह है, पर उसका ग्रन्थ अद्यावधि एक पाठ्य-ग्रन्थ रहा है। सत्य तो यह है कि कुन्तक के ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन ही नहीं हुआ। इसका हल्का-सा प्रमाण तो यह है कि यह ग्रन्थ अनेक स्थलों पर खण्डित रूप में उपलब्ध है, यद्यपि यह अपूर्ण नही है। और, एक प्रवल प्रमाण यह है कि इस सिद्धान्त का खण्डन केवल दो आचार्यों—महिमभट्ट और विश्वनाथ ने प्रस्तुत किया है। महिमभट्ट का खण्डन निःसन्देह सारगर्भित है, किन्तु विश्वनाथ का

१. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥ व० जी० १.६

२. व० जी० १. २६, ३१; २. १४, ३३; ३. ७, १४; ४. ४, ८, १०

खण्डन नितान्त अशास्त्रीय, अतः अमान्य है—

महिमभट्ट के कथनानुसार काव्य में 'प्रसिद्ध अभिधान से अतिरिक्त अर्थ का पर्यवसान या तो शब्दार्थ के औचित्यमात्र मे होता है, या वह अतिरिक्त अर्थ प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति करने में समर्थ होता है। इन दोनों प्रकारों से भिन्न कोई अन्य प्रकार ऐसा नहीं होता, जो शब्दार्थ के उपनिबन्धन में विचित्रता उत्पन्न कर सके।[1]

उक्त दो विकल्पों में से प्रथम विकल्प, हमारे विचार में, 'औचित्य-तत्त्व' से सम्बन्धित है, जिसका महिमभट्ट ने इसी प्रकरण में आगे चलकर खण्डन किया है। प्रस्तुत विवेचन में विषयान्तर होने से इस पर प्रकाश नहीं डाला जा रहा है।

महिमभट्ट के कथनानुसार—'जहाँ तक दूसरे विकल्प, अर्थात् प्रतीयमान अर्थ अथवा ध्वनि' का सम्बन्ध है, वक्रोक्ति- सिद्धान्त इसी का ही प्रकारान्तर से प्रतिपादन करता है। दोनों [सिद्धान्तों] की विषय-वस्तु वस्तुतः एक ही है, यही कारण है कि जो भेद ओर उदाहरण 'ध्वनि' के हैं, वही 'वक्रोक्ति' के भी हैं। [किन्तु हमारे विचार में 'ध्वनि' एक अयुक्त तत्त्व है, जिसका अन्तर्भाव 'अनुमान' में किया जाना चाहिए,] वह पहले कह आये हैं।[2]

महिमभट्ट का अभिप्राय यह है कि कुन्तक ने वक्रोक्ति को अनेक स्थलों पर 'प्रसिद्ध अभिधान (वाच्यार्थ) से व्यतिरेकिणी, अर्थात् भिन्न अर्थ बताने वाली, कहा है,[3]

---

१. प्रसिद्धोपनिबन्धनव्यतिरेकित्वमिदं शब्दार्थयोरौचित्यमात्रपर्यवसायि स्यात्, प्रसिद्धाऽभिधेयार्थव्यतिरेकिप्रतीयमानाभिव्यक्तिकरं वा स्यात्। प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणः शब्दार्थोपनिबन्धनवैचित्र्यस्य प्रकारान्तरासम्भवात्।

—व्य० वि०, पृष्ठ १२४-१२५

२. द्वितीयपक्षपरिग्रहे पुनर्ध्वनेरेवेदं लक्षणमनया भंग्याभिहित भवति अभिन्नत्वाद् वस्तुनः। अतएव चास्य त एव भेदास्तान्येवोदाहरणानि तैरुपदर्शितानि। तच्चायुक्तमित्युक्तम्। —व्य० वि०, पृष्ठ १२६

३. (क) वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। व०जी० १.१० (वृत्ति)
(ख) वक्रो योऽसौ शास्त्रा'दप्रसिद्धशब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरकी'''।

—व० जी० १.७ (वृत्ति)

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेख्य है कि कुन्तक को उक्त प्रकार के कथनों के आधार पर अभिव्यक्तिवादी नहीं मानना चाहिए, जैसा कि कतिपय आचार्यों ने संकेत किया है। (भा०सा०शा०, पृष्ठ ३१८)। कुन्तक के कथनानुसासर द्योतक अथवा व्यंजक शब्दों को भी यदि वाचक कहा जाता है, और द्योत्य अथवा व्यंग्य अर्थो को भी यदि वाच्य कहा जाता है तो केवल उपचार से ही। वस्तुतः, वे वाचक शब्द अथवा वाच्य अर्थ नहीं है। हाँ, वाचक शब्द भी अपने अनेक पर्यायों में से वही प्रयुक्त होना

काव्यानन्द अथवा काव्यचमत्कार को 'रस' नहीं कह सकते। यों उपचार से भले ही सर्वत्र 'रस' शब्द का प्रयोग कर दिया जाए। वस्तुतः, कुन्तक ने कतिपय वक्रोक्ति-भेदों में रस का उल्लेख करके इसके महत्त्व को क्षति पहुंचायी है। यदि वे केवल काव्य-प्रयोजन-प्रसंग में ही 'रस' को यथावत् उल्लिखित करते तो वक्रोक्ति-सिद्धान्त में रस की महत्ता स्थिर रहती कि सभी वक्रोक्ति-भेद रस-प्राप्ति के उपकरण हैं। और यदि कुन्तक को 'वक्रोक्ति' में 'रस को समाविष्ट करना अभीष्ट था भी, तो वह आनन्दवर्धन के समान केवल किसी एक विशिष्ट भेद अथवा उपभेद में रस का उल्लेख करते, न कि सात उपभेदों अथवा प्रसंगों में। इस स्थिति में भी माना कि रस जैसा महनीय तत्त्व अपना महत्त्व खो बैठता, पर इससे शास्त्रीय व्यवस्था कहीं अधिक समुचित एवं उपादेय रहती। उधर आनन्दवर्धन ने भी रस को ध्वनि-काव्य का एक भेद मानते हुए ध्वनि (व्यंग्यार्थ) की तुलना में इसका महत्त्व कम कर दिया था, पर वहां एक विशिष्ट पद्धति के अनुसार ऐसा किया गया था, किन्तु इस सिद्धान्त में तो किसी विशिष्ट पद्धति के बिना ही कुन्तक ने इसका उल्लेख कुछ स्थलों पर कर दिया है। अस्तु !

प्रश्न है—तो क्या कुन्तक को यह कहना अभीष्ट है कि वक्रोक्ति के सभी उपभेदों को साधन मानते हुए उनसे प्राप्त काव्यानन्द—सिद्धि—को 'रस' की संज्ञा देनी चाहिए ? रस को 'काव्य का अमृत' कहने से निःसंदेह उन्हें यही अभीष्ट प्रतीत होता है कि सभी वक्रोक्ति-भेदों से प्राप्त काव्यानन्द को रस कहना चाहिए, किन्तु उन्होंने इसे कतिपय स्थलों के साथ सम्बद्ध करके अपनी उक्त धारणा को मानो सीमित कर दिया है, और इसी तथ्य के ही कारण उनका रस-विषयक दृष्टिकोण अस्पष्ट एवं अव्यवस्थित बनकर रह गया है।

× × ×

अब अलंकार-सिद्धान्त, रीति-सिद्धान्त और ध्वनि-सिद्धान्त को लें।

—इन सिद्धान्तों में से कुन्तक ने रीति-सिद्धान्त के प्रति अपनी अवहेलना प्रकट की है, पर इसी के प्रभाव-स्वरूप इन्होंने 'बन्ध' शब्द की व्याख्या के अन्तर्गत नूतन मार्गों एवं उनसे सम्बद्ध गुणों की परिकल्पना भी की है।

—जहां तक अलंकार-सिद्धान्त का सम्बन्ध है वे इससे पर्याप्त प्रभावित हैं, **'तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता'** जैसे कथन इस ओर स्पष्ट संकेत करते हैं।

—इसके अतिरिक्त भामह के निम्नोक्त कथन को यदि उनकी दृष्टि में अलंकार का स्वरूप-निर्देशक कथन मान लिया जाए कि 'अलंकार कहते हैं 'वक्र' शब्द और अर्थ से युक्त उक्ति को' : **वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः**, तो कुन्तक का 'वक्रोक्ति-तत्त्व' अलंकार के इस स्वरूप से ही पर्याप्त सीमा तक प्रभावित प्रतीत होता है। और फिर, वक्रोक्ति को कुन्तक भी तो प्रकारान्तर से 'अपूर्व अलंकार' कहते हैं।

—फिर भी, कुन्तक अलंकार-सिद्धान्त की अपेक्षा ध्वनि-सिद्धान्त से ही कहीं अधिक प्रभावित हैं। उनकी वक्रोक्ति 'प्रसिद्धाभिधान-व्यतिरेकिणी' तथा 'विचित्रा अभिधा' है। इन दोनों कथनों द्वारा इन्होंने वक्रोक्ति को ध्वनि के समकक्ष ला खड़ा करने का प्रयास किया है, क्योंकि व्यंग्यार्थ (ध्वनि) भी तो प्रसिद्ध अर्थ से व्यतिरिक्त होता है, और व्यंजना शब्दशक्ति (ध्वनि) भी तो अभिधान से विचित्र होती है।

—कुन्तक अलंकार, रीति और ध्वनि नामक काव्य-सिद्धान्तों के व्यापक फलक से भी प्रभावित थे। अतः उन्होंने वक्रोक्ति को भी व्यापक धरातल पर अवस्थित कर दिया। यदि—

(क) अलंकारवादियों के अनुसार 'अलंकार' में अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों के अतिरिक्त गुण, रस, ध्वनि, नाट्यसन्धि, महाकाव्यत्व आदि का समावेश किया गया था,

(ख) यदि वामन के अनुसार 'रीति' में दस शब्दगुणों और दस अर्थगुणों के माध्यम से अधिकतर वाह्य एवं आन्तरिक काव्य-तत्त्वों का समावेश प्रकारान्तर से हो सकता था, और

(ग) यदि आनन्दवर्धन के अनुसार 'ध्वनि' के तारतम्य के आधार पर समस्त काव्य पहले तीन भेदों और फिर अनेक भेदोपभेदों में वर्गीकृत किया गया था,

—तो कुन्तक ने भी वक्रोक्ति का फलक अत्यधिक व्यापक बना दिया—पहले इसके छह भेद हैं, और फिर इनके ४१ उपभेद, जिनमें सभी वाह्य एवं आन्तरिक काव्यतत्त्वों एवं काव्योपकरणों का समावेश बड़ी सुगमता से हो सकता है।

स्पष्ट है कि एक ओर अलंकार-सिद्धान्त एवं रीति-सिद्धान्त की, तथा दूसरी ओर ध्वनि-सिद्धान्त की, व्यापकता में पर्याप्त अन्तर है। आनन्दवर्धन काव्य को अर्थ की मार्मिकता के आधार पर व्यापक रूप देते हैं। यही कारण है कि काव्य के प्रमुख तीनों प्रकारों में व्यंग्यार्थ का सद्भाव अनिवार्य है—प्रमुख रूप से, अथवा गौण रूप से, अथवा यदि ये दोनों न हों तो फिर अस्फुट रूप से। किन्तु अलंकारवाद और रीतिवाद के युग में यह दृष्टि अभी विकसित नहीं हो पायी थी—यदि अनुप्रास और उपमा जैसे वाह्य उपकरण भी अलंकार हैं तो रस और ध्वनि जैसे आन्तरिक तत्त्व भी अलंकार हैं, और यदि 'मार्ग का अभेद' (समता गुण) रीति है, तो 'रस की दीप्ति' (कान्ति गुण) भी रीति है; आदि। पर कुन्तक तो ध्वनिवादी की अर्थ-मार्मिकता के रहस्य से भली-भाँति परिचित थे, फिर भी, उन्होने वाह्य विधान का आधार ग्रहण करते हुए 'वक्रोक्ति' को वर्ण, पदपूर्वार्द्ध (प्रातिपदिक), पद-परार्द्ध (प्रत्यय), वाक्य जैसे भाषावयवों, और प्रकरण तथा प्रबन्ध जैसे कथ्य-रूपों के आधार पर विभाजित किया है, तो क्या इस वर्गीकरण का कारण यह हो सकता है कि उन्होंने आनन्द-वर्धन की प्रतियोगिता में काव्य के भावपक्ष के स्थान पर उसके कलापक्ष को ही लक्ष्य

में रखकर, अथवा प्रमुखतः उसे ही उद्घाटित करने के उद्देश्य से जान-बूझकर उपर्युक्त बाह्य आधार ग्रहण किया ?[1] हमारा विचार है कि नहीं। वे अलंकारवाद और रीतिवाद की बाह्यपरक प्रतिपादन-पद्धति की सीमा और शिथिलता से भली-भाँति अवगत थे। अतः कुन्तक जैसे प्रौढ़ आचार्य के लिए इसी पद्धति को जानबूझकर अपनाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

किन्तु फिर भी, यदि कुन्तक ने इसी पद्धति को ही अपनाया है तो इसका कारण एक तो कुन्तक की समाहार-प्रवृत्ति है, और दूसरे, पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय विषयों को किसी एक तत्त्व में संजो तथा समेट कर रख देने की उत्कट अभिलाषा है। वे वस्तुतः, अलंकारवाद, रीतिवाद और ध्वनिवाद—इन तीनों सिद्धान्तों की प्रमुख धारणाओं को निजी मान्यताओं के आलोक में एक-साथ किसी एक नूतन प्रतिपादन-पद्धति में ढालना चाहते थे, और साथ ही साथ, वे वक्रोक्ति को ध्वनि की तुलना में, अपितु उसी के समकक्ष, एक सर्वांगपूर्ण एवं केन्द्रीभूत सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करना चाहते थे। किन्तु यदि वे 'वक्रोक्ति' को अर्थ-व्यंजकता अथवा ऐसे किसी आन्तरिक तत्त्व के आधार पर वर्गीकृत करते तो यह आनन्दवर्धन का अनुकरणमात्र होता। अतः पूर्ववर्ती सभी धारणाओं को काव्य के बाह्य कलेवर अर्थात् भाषा के आधार पर वर्गीकृत करने के अतिरिक्त उन्हें सम्भवतः अन्य कोई श्रेष्ठ उपाय नहीं सूझा। परिणामतः, शब्दालंकार वर्ण की वक्रता पर आधारित किये गये, और अर्थालंकार वाक्य की। ध्वनि के अनेक भेदोपभेद या तो प्रातिपदिक की वक्रता पर आधारित किये गये, या प्रत्यय की। किन्तु फिर भी, ध्वनि की प्रकरण एवं प्रबन्ध-रूपता अब भी अवशिष्ट थी, जिसे वे उक्त भाषावयवों में नहीं ढाल सकते थे, अतः उन्होंने प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता नामक दो अन्य भेद बना दिये।

इस प्रकार निःसन्देह यह एक ऐसी नूतन पद्धति थी, जिसे किसी भी आचार्य ने नहीं अपनाया था। पर इसी प्रतिपादन-पद्धति की दृष्टि से उनका यह सिद्धान्त बाह्यपरक बन गया। परिणामतः, कुन्तक अपने उद्देश्य में सफल न हो सके। वे आनन्दवर्धन द्वारा सम्मत ध्वनि जैसे आन्तरिक तत्त्व पर आधारित अनेक धारणाओं को अपने सिद्धान्त में प्रस्तुत करना चाहते थे, पर उपर्युक्त बाह्य कलेवर को अपनाने के कारण वे उन्हें यथावत् एवं सम्यक् रूप में प्रस्तुत न कर सके, क्योंकि अनेक बाह्य एवं आन्तरिक काव्य-तत्त्व एक-साथ एक ही वर्ग में सम्मिलित हो गये हैं। उदाहरणार्थ, कोई अर्थालंकार, वाच्य रूप में हो अथवा व्यंग्य रूप में—कुन्तक की दृष्टि में, यह वाक्य-वक्रता कहाता है। इसी प्रकार काव्य के अनेक भेदों को उन्होंने कभी प्रातिपदिक और कभी प्रत्यय जैसे बाह्य उपकरणों की वक्रता पर आधारित माना है। उदाहरणार्थ,

---

१. "वक्रोक्ति-सिद्धान्त ने इसी कला-तत्त्व की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत कर भारतीय काव्यशास्त्र में अपूर्व योगदान किया है।"

—भा० का० शा० की भूमिका, डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ३४९

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि ये दोनों भेद 'प्रातिपादिक' की वक्रता पर आधारित हैं, तो असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि 'प्रत्यय' की वक्रता पर। इसी प्रकार गौणी-लक्षणा-जन्य अर्थचमत्कार को उपचारवक्रता कहते हुए कुन्तक ने प्रातिपदिक-वक्रता नाम दिया है, शब्दार्थ-शक्त्युद्भव-ध्वनि भी पर्याय-वक्रता (प्रातिपदिक-वक्रता) है, और परिकर, पर्याय आदि अर्थालंकार भी पर्याय-वक्रता हैं। वक्रोक्ति के विभाजन की यही अव्यवस्था इस सिद्धान्त की सर्वाधिक शिथिलता एवं दुर्बलता है। अस्तु !

जो हो, कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त प्रमुखतः भाषा के अवयवों पर विभक्त होता हुआ भी बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार के काव्य-तत्त्वों को अपने में संजोये हुए है, फिर भी, यह अधिकांशतः बाह्यपरक ही है। ठीक यही स्थिति इससे पूर्व अलंकार-सिद्धान्त और रीति-सिद्धान्त की भी थी। उनमें भी बाह्य काव्य-तत्त्वों के अतिरिक्त आन्तरिक काव्य-तत्त्वों का समावेश, स्पष्टतः अथवा प्रकारान्तर से, किया गया है। फिर भी ये दोनों सिद्धान्त वक्रोक्ति-सिद्धान्त के समान बाह्यपरक ही हैं। ये तीनों सिद्धान्त कितने-कितने बाह्यपरक हैं, इसका माप-तौल कर सकना निःसंदेह दुरूह है। फिर भी, बाह्यपरकता की न्यूनता की दृष्टि से, हमारे विचार में पहला स्थान वक्रोक्ति-सिद्धान्त का मान सकते हैं, जो कि शेष सिद्धान्तों की अपेक्षा कम बाह्यपरक है। इस दृष्टि से दूसरा स्थान अलंकार-सिद्धान्त का है, और तीसरा स्थान रीति-सिद्धान्त का, जो कि सर्वाधिक बाह्यपरक है।

आइए, अब वक्रोक्ति-सिद्धान्त की बाह्यपरकता पर एक अन्य दृष्टि से विचार करें। किसी रचना में किसी विशिष्ट भाषावयव के सौन्दर्य के आधार पर, कुन्तक के मतानुसार, उसे तन्नामधेय-वक्रोक्ति भेद का उदाहरण समझा जाएगा। उदाहरणार्थ—निम्नोक्त पांच पद्यांशों में क्रमशः (क) कारक-वक्रता, (ख) सख्या-(वचन-)वक्रता, (ग) प्रत्यय-वक्रता, (घ) निपात-वक्रता, और (ङ) काल-वक्रता का चमत्कार है—

(क) झींगुर के स्वर का प्रखर 'तीर' केवल विश्रान्ति को रहा चीर।

(ख) 'वयं' तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।

(ग) पिय सों कहहु सँदेसड़ा हे भौंरा हे काग !

(घ) मुखं · · · कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु।

(ङ) अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लंघ्याः।

किन्तु प्रश्न है कि क्या इन स्थलों में केवल विशिष्ट भाषावयव के कारण ही काव्य-सौन्दर्य है—इसका स्पष्ट उत्तर है—'नहीं।' वस्तुतः 'तीर', 'वयम्', 'संदेसड़ा' 'तु' और भविष्यन्ति पद में 'स्य'—ये भाषावयव वाक्य के अन्य पदों के साथ इस रूप में अनुस्यूत हैं कि इनका भावार्थ काव्य-सौन्दर्य का विधायक बन गया है; और

वक्रोक्ति-भेद का नामकरण 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' के आधार पर उसके नाम पर मान लिया गया है। इस वस्तु-स्थिति की पुष्टि के लिए, आइए, दो-एक उदाहरण लें। पौदे पर उगे हुए एक अथवा अनेक पुष्पों की छटा सौन्दर्योत्पादक होती है, किन्तु यह सौन्दर्य वस्तुतः एक पुष्प अथवा अनेक पुष्पों के कारण नहीं होता—पौदा, शाखाएं, लताएं, कांटे, पत्ते और पुष्प अथवा पुष्प-समुदाय—इन सब का सामूहिक रूप ही सौन्दर्य कहाता है, परन्तु इसका कारण एक पुष्प अथवा पुष्प-समुदाय को ही माना जाता है। वर्षा ऋतु में आकाश में कौंधती विद्युत् को भले ही हम एक-मात्र सौन्दर्य-विधायक मान लें, किन्तु उमड़ते-घुमड़ते घनघोर बादल, नीचे की ओर झुका-सा विशाल आकाश, और यहां से वहाँ उधर दूर तक फैली श्लामलता—ये सभी विद्युत् की छटा के साथ मिलकर सौन्दर्य का विधान करते हैं। ठीक यही स्थिति वक्रोक्ति के प्रकारों की भी है। रचना का नामकरण तो उस वक्रोक्ति-प्रकार के नाम पर होता है, जिसकी सापेक्ष प्रधानता होती है, किन्तु वह वक्रोक्ति-प्रकार रचना के अन्य रूपों के साथ मिलकर ही काव्य-सौन्दर्य का उत्पादक होता है—वस्तुतः इन सब का सामूहिक प्रभाव ही सौन्दर्य कहाता है।

[३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुन्तक ने 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' में पूर्ववर्ती चारों प्रधान काव्य-तत्त्वों—अलंकार, रीति, ध्वनि और रस—को किसी-न-किसी रूप में समाविष्ट करने का प्रयास किया है, और समस्त काव्य-सौन्दर्य को अधिकांशतः भाषावयवों के आधार पर वर्गीकृत कर दिया है, जिससे इनका काव्य-सौन्दर्य-विवेचक दृष्टिकोण वाह्यपरक वन गया है, और वक्रोक्ति को काव्य का जीवित न मानने का भी यही एकमात्र कारण है कि वक्रोक्ति नामक काव्यतत्त्व यद्यपि कुन्तक की दृष्टि से काव्य का अनिवार्य एवं व्यापक साधन है, फिर भी यह नितान्त आन्तरिक नहीं है, अधिकांशतः वाह्यपरक है। जैसा कि पहले संकेत कर आये हैं, इस सिद्धान्त का आगे चलकर अनुकरण नहीं हुआ। कारण स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त की आन्तरिकता एवं प्रतिपादन-पद्धति की तुलना में यह सिद्धान्त अपने अनेक शैथिल्यों के कारण पनप न सका। फलतः, न इसका अध्ययन-अध्यापन हुआ, न इस पर विचार-विमर्श हुआ, और न इसका ढंग से खण्डन ही किया गया। महिमभट्ट और विश्वनाथ जैसे मर्मज्ञ आचार्यों से, जिन्होंने इसका खण्डन किया है, कुछ और ही स्वस्थ रूप अपेक्षित था। कितना दुर्भाग्य है कुन्तक का ! किन्तु कुन्तक का ही यह सौभाग्य है कि इसके आठ-नौ सौ वर्ष के बाद इस शताब्दी में 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ और इसमें विवेचित वक्रोक्ति-सिद्धान्त का पुनरुद्धार हुआ। ग्रन्थ अनेक रूपों में प्रकाशित हुआ। इस पर व्याख्याएं लिखी गयीं। इस सिद्धान्त पर आलोचनाएं हुईं, और इसे संस्कृत काव्यशास्त्र के एक प्रमुख काव्य-सिद्धान्त के रूप में गिना जाने लगा, और यहाँ तक कि इस सिद्धान्त की क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' के साथ तुलना प्रस्तुत की जाती है,

यद्यपि यह अलग बात है कि इन दोनों में कोई विशेष समानता नहीं है। अब तो हिन्दी-साहित्य के—और शायद अन्य भारतीय आधुनिक भाषाओं के भी—काव्य का, अन्य काव्य-तत्त्वों के अतिरिक्त, वक्रोक्ति के भेदोभेदों के निकष पर भी परीक्षण एवं मूल्यांकन किया जा रहा है।

इतना सब होने पर भी ध्वनि-सिद्धान्त और रस-सिद्धान्त की तुलना में यह सिद्धान्त सदा न्यून कोटि का ही माना जाएगा। इसका कारण यह है कि 'वक्रोक्ति' एक बाह्य काव्य-तत्त्व है, और ध्वनि तथा रस आन्तरिक काव्य-तत्त्व हैं। निःसन्देह वक्रोक्ति के उपभेदों में ध्वनि और रस को भी समाविष्ट किया गया है, किन्तु वक्रोक्ति के उपभेद तो स्वयं बाह्य-नाम-परक हैं। उधर ध्वनि-सिद्धान्त में काव्य के आन्तरिक रूप अर्थात् ध्वनि को (जिसका एक रूप रस भी है) लक्ष्य में रखकर इस सिद्धान्त का वर्गीकरण, प्रतिपादन एवं विवेचन किया गया था। किन्तु इधर, वक्रोक्ति-सिद्धान्त में काव्य के बाह्य रूप, अर्थात् भाषा को लक्ष्य में रखकर इसका ढाँचा तैयार किया गया है, तथा इसी के आधार पर इस सिद्धान्त का वर्गीकरण, प्रतिपादन तथा विवेचन किया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कुन्तक जहाँ-जहाँ आनन्दवर्धन के समान किसी रचना के आन्तरिक सौन्दर्य को निर्दिष्ट करना चाहते हैं—वक्रोक्ति-भेद के नाम के आधार पर वहां वह सौन्दर्य बाह्यपरक आभासित होने लगता है—इससे बढ़कर इस सिद्धान्त की दुर्बलता एवं शिथिलता भला और क्या हो सकती है ?

[४]

अस्तु ! यदि उपर्युक्त त्रुटियों एवं शिथिलताओं को ध्यान में न रखकर 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ का अवलोकन करें तो इसमें अनेक मौलिक धारणाएं उपलब्ध होती हैं, जो कि कुन्तक के स्वतन्त्र चिन्तन के स्पष्ट प्रमाण हैं, यह अलग बात है कि हम उनसे सहमत हों अथवा न हों—

(१) वह स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते।

(२) बन्ध के अन्तर्गत विवेचित तीन काव्य-मार्ग और उनसे सम्बन्धित छह गुण इन्होंने सर्वप्रथम प्रस्तुत किये हैं।

(३) तीन मार्गों के लिए नये नाम रखने का एक कारण यह भी है कि रीतियों का नामकरण इन्हें देशों के नाम के आधार पर अभीष्ट नहीं है।

(४) काव्य में यदि तीन मार्ग हैं सुकुमार, विचित्र और मध्यम, तो कवि भी इन्हीं तीन प्रकार की प्रतिभाओं से सम्पन्न होने के कारण तीन प्रकार के हो सकते हैं।

(५) वाक्य-वक्रोक्ति (अर्थालंकार) प्रकरण में इन्होंने वाच्य अथवा अर्थ के आधार पर वस्तु-वक्रता (वाच्य-वक्रता) का निरूपण किया है, जिसमें काव्य के वर्णनीय विषय पर सर्वप्रथम यथेष्ट एवं पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की गयी है।

(६,७) वाक्य-वक्रता-प्रकरण में इन्होंने रसवत् आदि चार अलंकारों को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है, तथा कुल मिलाकर २८ अलंकारों के स्वरूप-प्रतिपादन में पूर्ववर्ती आचार्य भामह द्वारा प्रस्तुत अनेक अलंकारों के लक्षणों का खण्डन भी किया है।

(८,९) कुन्तक के दो अन्य महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक प्रसंग हैं—प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता, जिन पर पूर्ववर्ती ग्रन्थों में—यहां तक कि ध्वन्यालोक में भी—इतना व्यवस्थित, सटीक एवं विशद विवेचन नहीं मिलता।

[५]

इन अनेक मौलिक धारणाओं को प्रस्तुत करने के बावजूद भी यह सिद्धान्त अपने समग्र रूप में उपादेय नहीं बन पड़ा। अपने समय तक उपलब्ध काव्यशास्त्रीय सामग्री को नूतन अभिधानों से प्रस्तुत करने के प्रयास में कुन्तक ने उसके मूल रूप के प्रति न्याय नहीं किया, उसका अवमूल्यन ही हुआ है। इस स्थिति में हमें कुछ ऐसा प्रतीत होने लगता है, कि मानो कुन्तक समग्र काव्य-तत्त्वों से उत्पन्न सौन्दर्य को अलग-अलग रंगों वाले छह परिधानों में लपेट कर प्रस्तुत कर देना चाहते हैं। परिणामतः, प्रेक्षक का ध्यान पहले तो इन परिधानों पर पड़ता है, और बाद में इनके आस्वादन, परीक्षण एवं मूल्यांकन से उसे ज्ञात होने लगता है कि किन्हीं काव्यतत्त्वों एवं उनके सौन्दर्य को तो उनके अनुरूप यथेष्ट परिधान में लपेट दिया गया है, और किन्हीं को नहीं। जैसे—शब्दालंकार-जन्य काव्य-सौन्दर्य का परिधान वर्ण-वक्रता निःसन्देह यथोचित है—यही स्थिति प्रकरण और प्रबन्ध-गत ध्वनियों से उत्पन्न काव्य-सौन्दर्य की भी है। किन्तु जिन-जिन काव्य-तत्त्वों तथा उससे जन्य सौन्दर्य को कुन्तक ने पद-पूर्वार्द्ध और पद-परार्द्ध तथा वाक्य-वक्रता का परिधान पहनाया है, वे अनेक स्थलों पर यथावत् नहीं है। और यों भी, आन्तरिक सौन्दर्य को बाह्य परिधान में लपेट कर प्रस्तुत करने से कुन्तक ने काव्यशास्त्र को स्वस्थ दिशा प्रदान नहीं की। समस्त काव्यसौन्दर्य को नूतन परिपाटी में ढाल कर उनकी यह अभिलाषा तो पूर्ण हो गयी कि उन्होंने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों, विशेषतः ध्वनि-सिद्धान्त, की तुलना में एक नवीन काव्य-सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन कर दिया, किन्तु यदि यह सिद्धान्त अपने अनेक शैथिल्यों के कारण आगे चलकर, अनुमोदन, विस्तार, आख्यान एवं पुनराख्यान नहीं पा सका तो ऐसी अभिलाषा-पूर्ति केवल आत्म-प्रसादन के अतिरिक्त भला और क्या दे पाती है ?

यों, 'वक्रोक्ति' नामक काव्य-तत्त्व अपने पारिभाषिक अर्थ में काव्य की अनेक विशिष्टताओं को अपने में संजाये हुए है। वक्रोक्ति से अभिप्राय है लौकिक उक्ति से ऊपर उठी हुई 'वक्र उक्ति' अथवा अभिव्यंजनामय उक्ति। 'वक्रोक्ति' कवि के कौशल से जन्य भंगिमामय भणिति है। फिर चाहे, यह कौशल अनुप्रास जैसे शब्दालंकार का

विधायक हो, अथवा वस्तु-ध्वनि एवं रस-ध्वनि जैसे ध्वनिकाव्य-भेदों का। इस प्रकार कुन्तक-सम्मत वक्रोक्ति (वक्र उक्ति) के ४१ भेदोपभेदों में अलंकार, वस्तु और रस को, [आधुनिक शब्दावली में कहना चाहें तो सौन्दर्यशास्त्र के निम्नोक्त तीन काव्य-तत्त्वों—काव्यशिल्प, कवि-कल्पना और काव्यानुभूति को] समाविष्ट करके इसे विशद, व्यापक बनाने का प्रयास किया गया है। किन्तु यह प्रयास यदि केवल एक ही दिशा में—केवल बाह्य, अथवा केवल आन्तरिक रूप में—किया जाता तो यह सिद्धान्त निःसन्देह उपादेय एवं अनुकरणीय बन जाता। अपने वर्तमान रूप में यह सिद्धान्त न तो काव्य के कलापक्ष के सिद्धान्तों का पूर्णतः निरूपक बन पाया है, और न ही भावपक्ष के सिद्धान्तों का यथेष्ट प्रतिपादक।



८.

रस-सिद्धान्त

इतिवृत्त

संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में 'रस' आदि से अन्त तक किसी-न-किसी रूप में निरूपित होता रहा है। रस के निरूपण-कर्त्ता के रूप में यद्यपि जनश्रुति नन्दिकेश्वर का नाम निर्दिष्ट करती है,[1] किन्तु उपलब्ध स्रोतों के आधार पर भरत के नाट्य-शास्त्र में रस-विषयक प्रायः सभी प्रमुख सामग्री साक्षात् रूप से अथवा प्रकारान्तर से प्रस्तुत की गयी है। उनके उपरान्त भामह के समय तक काव्यशास्त्र का इतिहास नहीं मिलता। भामह, दण्डी और उद्भट यद्यपि अलंकारवादी थे, फिर भी, इन्होंने रस को समुचित स्थान दिया, यही स्थिति रीतिवादी वामन, ध्वनिवादी आनन्दवर्धन और वक्रोक्तिवादी कुन्तक की भी रही।

इसी बीच भरत के रसनिष्पत्ति—सूचक सूत्र की बहुविध व्याख्याएं हुईं। लगभग ग्यारह व्याख्याताओं में से चार के नाम उल्लेख्य हैं—भट्टलोल्लट की व्याख्या उत्पत्तिवाद अथवा आरोपवाद पर आधारित है, श्रीशंकुक की अनुमतिवाद पर, भट्टनायक की भोगवाद पर तथा अभिनवगुप्त की अभिव्यक्तिवाद पर। भट्टनायक का साधारणीकरण-सिद्धान्त काव्यशास्त्रीय जगत् में एक अमूल्य निधि है।

रस के स्वरूप की भी अनेक व्याख्याएं हुईं, और इसे 'आत्मा के' समकक्ष घोषित करते हुए चिन्मय, आनन्दमय, लोकोत्तर आदि विशेषणों से विभूषित किया गया। रस को आनन्दमय माना गया तो करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स रसों की समस्या भी सामने आयी, और इन्हें भी सुखात्मक माना गया। कारण, रस के क्षेत्र में आकर सहृदय निज और पर के भावों से विमुक्त हो जाता है।

इसी प्रकार रस-विषयक अन्य भी अनेक समस्याएं आयीं। रौद्र और वीर रस में क्या अन्तर है? रौद्र रस का आश्रय विवेक खो बैठता है, किन्तु वीर रस का आश्रय सदा विवेकशील बना रहता है। शृंगार रस को रसराज क्यों माना जाए—इस रस की सर्वाधिक विशदता ही इसका प्रमुख कारण है। शान्त रस की सत्ता काव्य में तो स्वीकृत हुई, पर नाटक में नहीं, पर अन्ततः नाटक में भी इसकी सत्ता

१. रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः। काव्यमीमांसा, १ म अ०, पृष्ठ ४

स्वीकार की गयी। भक्ति को रस मानें अथवा भाव ? यह प्रश्न भी उपस्थित हुआ और इसे 'भाव' माना गया, 'रस' नहीं। साथ ही साथ, रस-संख्या का प्रश्न भी उपस्थित हुआ। रस आठ, नौ, और भोजराज के मत में तो ८ स्थायिभावों, ८ सात्त्विक-भावों और ३३ संचारिभावों की संख्या के आधार पर उनचास माने गये। साथ ही, प्रेयान्, वात्सल्य, भक्ति, लौल्य, माया आदि अन्य भी अनेक रस परिगणित हुए। वस्तुतः, रस का प्रश्न स्थायिभाव के साथ जुड़ा है। जो भाव स्थायी और सहज है, अर्थात् किसी भाव से उत्पन्न नहीं है, वही स्थायी भाव कहाता है। जितने भाव स्थायी और सहज हैं, उतने ही रस हैं। रसों का परस्पर 'मित्र' और 'शत्रु' होने, और 'शत्रुता' के निवारण पर भी विचार-विमर्श हुआ, तथा अनेक रस-दोषों की भी परिकल्पना की गयी।

इसी प्रकार भरत से जगन्नाथ तक मर्मज्ञ आचार्यों तथा टीकाकारों के तात्त्विक विश्लेषण से रस-सिद्धान्त अधिकाधिक पुष्ट, गम्भीर एवं महनीय होता चला गया।

रस का महत्त्व

काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में जितना समादर रस को मिला, उतना किसी अन्य काव्य-तत्त्व को नहीं। भरत को रस-तत्त्व का प्रवर्त्तक समझा जाता है। उन्होंने इसे नाटक के अनिवार्य धर्म के रूप में स्वीकार किया,[1] तथा अलंकार, गुण, दोष के रस-संश्रयत्व पर भी उन्होंने प्रकाश डाला।[2]

अलंकारवादी आचार्यों—**भामह, दण्डी और उद्भट** ने यद्यपि रस, भाव आदि को रसवद् आदि अलंकार नाम से अभिहित किया, तथापि उन्होंने अपने दृष्टिकोण से इसे समुचित समादर भी प्रदान किया। भामह और दण्डी ने इसे महाकाव्य के लिए 'एक आवश्यक तत्त्व' के रूप में स्वीकृत किया।[3] भामह के अनुसार कटु ओषधि के समान कोई शास्त्र-चर्चा भी रस के संयोग से मधुवत् बन जाती है।[4] दण्डी का माधुर्य गुण 'रसवत्' ही है, तथा यह रसवत्ता मधुपों के समान सहृदयों को प्रमत्त बना देती।[5] दण्डी के माधुर्य गुण का एक भेद वस्तुगत

१,२. ना० शा० १.११०; १७.१२३, १०८

३. (क) युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। का० अ० १.२१
(ख) अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्॥ का आ० १.१८

४. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते॥
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्॥ का० अ० ५.३

५. मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ का० आ० १.५१

माधुर्य कहाता है, जिसका अपर नाम 'अग्राम्यता' है। दण्डी के शब्दों में यही अग्राम्यता काव्य में रस-सेचन के लिए सर्वाधिक शक्तिशाली अलंकार है।[१] इनके अतिरिक्त रुद्रट ने भी, जो एक ओर अलंकार-सिद्धान्त और दूसरी ओर ध्वनि-सिद्धान्त से प्रभावित थे, रस को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया। भामह और दण्डी के समान इन्होंने भी रस को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्व माना।[२] प्रथम वार इन्होंने ही वैदर्भी, पांचाली नामक रीतियों, और मधुरा, ललिता वृत्तियों के रसानुकूल प्रयोग का निर्देश किया[३], शृंगार रस का प्राधान्य स्वीकार किया,[४] तथा कवि को रस के लिए प्रयत्नशील रहने का आदेश दिया।[५]

अलंकारवादी आचार्यों के उपरान्त ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा तथा रस को ध्वनि के एक भेद—असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्यध्वनि नाम से स्वीकृत करते हुए भी रस को ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप घोषित किया। कतिपय प्रमाण लीजिए—

—वाच्यार्थों की बहुविध रचना रस के आश्रय से सुशोभित होती है।[६]

—यों तो व्यंग्यार्थ (ध्वनि) के कई भेद हैं, किन्तु रस, भाव आदि [नामक भेद] उनकी अपेक्षा कहीं [अधिक] प्रधान हैं।[७]

—रस के सम्पर्क से प्रचलित अर्थ उस प्रकार नूतन रूप में आभासित होने लगते हैं जिस प्रकार वसन्त के सम्पर्क से द्रुम।[८]

—रस, भाव आदि के विषय से सम्बद्ध रहकर ही वाच्य और वाचक की औचित्यपूर्वक योजना करना महाकवि का मुख्य कर्म है।[९]

---

१. कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥ का० आ० १.६२

२. काव्यालंकार १६.१,५ ३,४,५. काव्यालंकार १४.३७; १४.३८; १२.२

६. अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्।
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात्॥ ध्वन्या० ४.८

७. प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्।
—ध्वन्या० १.५, वृत्ति

८. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥ ध्वन्या० ४.४

९. वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः॥ ध्वन्या० ३-३२

—इस व्यंग्य-व्यंजक भाव (अर्थात् ध्वनि-तत्त्व) के अनेक भेदों के होने पर भी कवि को केवल रसादिमय ध्वनि-काव्य में ही अवधानवान् रहना चाहिए।[1]

इसी प्रकार आनन्दवर्धन के प्रख्यात अनुकर्ता मम्मट ने भी रस को काव्य का सर्वोपरि प्रयोजन निर्दिष्ट किया।[2]

आनन्दवर्धन के उपरान्त वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' स्वीकार करते हुए भी रस को काव्य का अमृत एवं अन्तश्चमत्कार का वितानक मानते हुए प्रकारान्तर से इसे सर्वप्रमुख काव्य-प्रयोजन के रूप में घोषित किया।[3] उन्होंने उपसर्गगत और निपातगत पदवक्रता के प्रसंग में रस की चर्चा की,[4] प्रकरण-वक्रता और प्रबन्धवक्रता के लिए रस की अनिवार्यता का अनेक रूपों में निर्देश किया,[5] और रसवत् अलंकार को 'सब अलंकारों का जीवित' कहते हुए प्रकारान्तर से रस की उत्कृष्टता मुक्त कण्ठ से स्वीकृत की।[6]

कुन्तक के उपरान्त इस दिशा में **अग्निपुराणकार** ने काव्य में रस की अनिवार्यता का संकेत करते हुए कहा कि जिस प्रकार लक्ष्मी त्याग (दान) के विना शोभित नहीं होती, उसी प्रकार वाणी भी रस के विना शोभित नहीं होती।[7]

रस के प्रति उक्त समादर-भाव अग्निपुराणकार के समय के आस-पास और अधिक उच्च रूप ग्रहण कर गया। अब रस को 'आत्मा' पद पर आसीन कर दिया गया—**वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवाऽत्र जीवितम्**। अर्थात्, काव्य में यद्यपि वाणी की विदग्धता की प्रधानता (अनिवार्यता) रहती है, किन्तु उसका जीवित (आत्मा) तो रस ही है। इसी प्रकार **महिमभट्ट** ने भी रस को सर्वसम्मति से काव्य

---

१. **व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।**
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥ ध्वन्या० ४.५

२. **सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरम् आनन्दम्।** —काव्यप्रकाश १ म उ०

३. **चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।**
काव्यामृतरसेनाऽन्तश्चमत्कारो वितन्यते॥ व० जी० १.५

४. **रसादिद्योतनं यस्यामुपसर्गनिपातयोः।**
वाक्यैकजीवितत्वेन साऽपरा पदवक्रता॥ व० जी० २.३३

५. व० जी० ४, ४. ८, १०, १६, २१

६. **यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम्।**
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते॥ व० जी० ३.१४

७. **लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा।** अ० पु० ३३९.९

की आत्मा स्वीकृत करने का निर्देश किया—**काव्यास्यात्मनि संगिनि···रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः ।**[1]

इधर इसी बीच 'काव्यपुरुष-रूपक' भी पूर्णतः स्थिर हो चुका था, जिसके बीज दण्डी और वामन के समय से मिलना प्रारम्भ हो गये थे।[2] **राजशेखर** और उनके उपरान्त **विश्वनाथ** ने इसी रूपक के अन्तर्गत रस को काव्य की आत्मा रूप में घोषित किया, और विश्वनाथ ने तो सर्वप्रथम अपना काव्यलक्षण ही इसी मान्यता के आधार पर प्रस्तुत किया—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।**[3]

किसी काव्य-तत्त्व को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने के दो आधार सम्भव हैं। पहला आधार है उसी काव्य-तत्त्व में काव्य के अन्य तत्त्वों का समावेश एवं अन्तर्भाव समझना, और दूसरा आधार है अन्य काव्य-तत्त्वों द्वारा इसी तत्त्व की पुष्टि समझना। निस्सन्देह दूसरा आधार अधिक मान्य है, क्योंकि यह अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट, स्वस्थ, आग्रह-रहित एवं तर्कपूर्ण है। रस को काव्य की आत्मा स्वीकृत करने का एक कारण यह भी है कि आनन्दवर्धन और उनके अनुकर्ताओं—मम्मट और विश्वनाथ ने, तथा इनके परवर्ती संग्रह-कर्त्ता आचार्यों ने, अन्य काव्य-तत्त्वों—अलंकार गुण और रीति को रस के साथ सम्बद्ध करते हुए इन्हें उसके पोषक रूप में प्रस्तुत किया। इन्होंने इन तीनों का लक्षण तो रस के आधार पर स्थिर किया ही, दोष का लक्षण भी 'रस' के अपकर्ष पर स्थिर किया—जहाँ दोष रस का अपकर्षक है वहीं वह दोष है, अन्यथा नहीं है।

---

१. साहित्यदर्पण (प्रथम परिच्छेद) से उद्धृत।

२. दण्डी ने काव्य के 'शरीर' और 'प्राण' का निर्देश किया था तो वामन ने काव्य की 'आत्मा' का।

३. विश्वनाथ से पूर्व मम्मट ने भी गुण के लक्षण के प्रसंग के रस को काव्य की आत्मा मानने का संकेत—रूपक का आश्रय लेते हुए, प्रकारान्तर से सही—किया अवश्य था। देखिए पृष्ठ १५७ पा० टि० १, गुण (ख)

४. इन चारों काव्य-तत्त्वों के लक्षण लीजिए :

अलकार—

(क) **अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ।।** ध्वन्या० २.६

(ख) **उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।।** का० प्र० ८.६७

(ग) **शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ।।** सा० द० १०.१

इस प्रकार हमने देखा कि—

(१) पहले रस के प्रति समादर-भाव प्रकट किया गया,

(२) पुनः रस के साथ अन्य काव्य-तत्त्वों का स्वरूप सम्बद्ध किया गया,

(३) अन्ततः, रस को 'आत्मा' रूप में उद्घोषित कर दिया गया, और इस सबका एकमात्र कारण यह है कि रस अन्य काव्य-तत्त्वों की अपेक्षा कहीं अधिक आन्तरिक तत्त्व है—यहाँ तक कि वह 'ध्वनि' के प्रमुख पाँच भेदों में से शेष चार भेदों की अपेक्षा भी कहीं अधिक आन्तरिक है।

उपसंहार : काव्य की आत्मा

इस प्रकार उक्त पाँच सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने के पश्चात् काव्य की आत्मा किसे माना जाए—इस प्रसंग पर प्रकाश डालना अपेक्षित है। **'चैतन्य-मात्मा'** तथा **'ज्ञानाधिकरणमात्मा'** आत्मा के इन दोनों लक्षणों के आधार पर काव्य के प्रसंग में आत्मा शब्द से अभिप्रेत है—काव्य का अनिवार्य सार अथवा तत्त्व, तथा वह वाह्य न होकर आन्तरिक होना चाहिए। 'आत्मा' शब्द से यहाँ यह भी अभिप्रेत है कि वह सारभूत तत्त्व काव्य का साधन होना चाहिए, न कि साध्य, अर्थात् जिसके आधार पर किसी एक कथन को तो हम काव्य कह सकें, किन्तु उसके अभाव में किसी दूसरे कथन को काव्य न कहकर या तो लोक (लोक-कथन, लोक-वार्ता) कहें, या शास्त्र (शास्त्र-कथन), और यह साधन भी आन्तरिक होना चाहिए, न कि साध्य।

उक्त पांचों सिद्धान्तों में से—

—अलंकारवादियों—**भामह, दण्डी और उद्भट**—ने 'अलंकार' को 'काव्य का शोभाकर धर्म कहते हुए'[1] न केवल अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों को, अपितु

गुण—(क) **तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।** ध्वन्या० २.७

(ख) **ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।**
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ का० प्र० ८.६६

(ग) **रसस्यांगित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।**
गुणाः ... ...॥ सा० द० ८.१

रीति—**पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्।**
उपकर्त्री रसादीनाम्.......... ॥ सा० द० ९.१

दोष—(क) **मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यः।** का० प्र० ७.१

(ख) **रसापकर्षकास्दोषाः।** सा० द० १.७

१. **काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।** काव्यादर्श २.१

गुण, रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, ध्वनि, नाट्यसन्धि, सन्ध्यंग, नाट्यवृत्ति, नाट्यवृत्त्यंग तथा प्रवन्धकाव्यत्व को भी, स्पष्टत: अथवा प्रकारान्तर से, 'अलंकार' नाम से अभिहित किया। अलंकारवादियों के समय तक 'काव्य की आत्मा' किसे माना जाए--अभी यह समस्या उत्पन्न नहीं हुई थी, यदि उत्पन्न हुई होती तो वे निश्चयपूर्वक 'अलंकार' को ही काव्य की आत्मा कहते, जिसे कि उन्होंने व्यापक अर्थ में ग्रहण किया।

—रीतिवादी **वामन** ने रीति की काव्य को आत्मा माना। वे रीति को प्रकारान्तर से गुण का पर्याय मानते है, और उनके द्वारा प्रस्तुत दस शब्द-गुणों और दस अर्थ-गुणों में काव्य के सभी सौन्दर्यविधायक तत्त्व एवं उपकरण समाविष्ट हो जाते हैं— और इसी आधार पर उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया।

—ध्वनिवादी **आनन्दवर्धन** ने अपने से पूर्ववर्ती अलंकार-सिद्धान्त का खण्डन करते हुए ध्वनि (व्यंग्यार्थ) को काव्य की आत्मा माना। कारण, उनके अनुसार 'ध्वनि' काव्य का ऐसा आन्तरिक साधन है, जो कि इसमें कभी प्रधान रूप से, कभी गौण रूप से, तो कभी अस्फुट रूप से, अनिवार्यत: विद्यमान रहता है। अर्थात् इनके अनुसार काव्य में 'ध्वनि' उक्त तीनों रूपों में से किसी न किसी रूप में विद्यमान अवश्य रहती है। इसके बिना कोई भी सार्थक कथन काव्य न होकर या तो लोक (लोकवार्ता) होता है, अथवा शास्त्र (शास्त्र-कथन)।

—इनके उपरान्त **कुन्तक** ने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' घोषित किया, क्योंकि उनके अनुसार वक्रोक्ति के भेदों और उसके इकतालीस उपभेदों में काव्य-सौन्दर्य-जनक सभी उपकरणों का समावेश हो जाता है।

—अन्ततः, 'रस को काव्य की आत्मा घोषित किया गया और **विश्वनाथ** ने तो अपना काव्य-लक्षण ही इसके आधार पर प्रस्तुत किया—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**। रस को आत्मा माने जाने का प्रमुख कारण यह है कि उपर्युक्त रसेतर चारों काव्य-तत्त्व यदि काव्य के साधनभूत तत्त्व हैं, तो रस काव्य का साध्य अथवा सिद्धि है। जो हो, रस को ही केन्द्रीभूत मानकर गुण, अलंकार, रीति और दोष के लक्षण परिवर्तित कर दिये गये। गुण रस का नित्य का उत्कर्ष करता है। रीति भी वर्णव्यंजकता के माध्यम से रस की उपकर्त्री है, तथा दोष वहां स्वीकृत हुआ, जहां वह रस का व्याघात करता है, अन्यथा नहीं। केवल इतना ही नहीं, रस को अखण्ड, चिन्मय, आनन्दमय, स्वप्रकाश, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, आदि विशेषणों द्वारा विभूषित करके इसे 'आत्मा' के ही समकक्ष निर्दिष्ट किया गया।

अस्तु ! इस प्रकार काव्य के अनिवार्य तत्त्व (आत्मा) के सम्बन्ध में भारतीय काव्याचार्य शताब्दियों-पर्यन्त विभिन्न तर्क एवं प्रतितर्क प्रस्तुत करते रहे।

× × ×

हमारे विचार में **ध्वनि को काव्य की आत्मा मानना चाहिए**। अलंकार, रीति और वक्रोक्ति—ये तीनों काव्य-तत्त्व अपने-अपने प्रवर्तक आचार्यों की दृष्टि में काव्य के अनिवार्य एवं व्यापक साधन हैं, किन्तु ये तीनों काव्य के अधिकांशत: बाह्यपरक साधन हैं, न कि आन्तरिक। शेष रहे दो काव्य-तत्त्व—ध्वनि (व्यंग्यार्थ) और रस। इन दोनों में से ध्वनि को काव्य की आत्मा मानना चाहिए। इस स्वीकृति के दो प्रधान कारण हैं—

—प्रथम कारण यह है कि यह तत्त्व काव्य में किसी न किसी रूप में—प्रधान, गौण अथवा अस्फुट रूप में—अनिवार्यत: विद्यमान रहता है। यहाँ तक कि रस के उदाहरणों में भी इसी तत्त्व का अस्तित्व अनिवार्यत: अपेक्षित है। ध्वनि-तत्त्व के अभाव में किसी भी कथन को 'काव्य' नहीं कह सकते, वह या तो 'लोक-वार्ता' कहा जाएगा या 'शास्त्र-कथन'।

—दूसरा कारण यह है कि ध्वनि-तत्त्व रस की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। ध्वनि-तत्त्व के तारतम्य के आधार पर काव्य को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—ध्वनि-काव्य, गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्र-काव्य,। इन तीनों श्रेणियों में ध्वनि-तत्त्व क्रमश: मुख्य, गौण और अस्फुट रूप में विद्यमान रहता है। ध्वनि-काव्य के प्रमुख पाँच भेदों में से 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि' नामक ध्वदि-भेद का अपर नाम ही रसादि-ध्वनि (अंगीभूत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भाव-सन्धि, भाव-शबलता और भावशान्ति) है। इस प्रकार अंगीभूत रस आदि का अन्तर्भाव ध्वनि में ही जाता है। गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के

---

१. काव्यात्मा के प्रसंग में 'औचित्य-सिद्धान्त' की चर्चा भी की जाती है, किन्तु औचित्य-तत्त्व वस्तुत: कोई अलग सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय न होकर गुण, अलंकार, रस आदि विभिन्न काव्यांगों को परिष्कृत एवं उपादेय बनाने का हेतु मात्र ही है। औचित्य के प्रतिपादक क्षेमेन्द्र ने यद्यपि औचित्य को काव्य का 'जीवित' कहा है, किन्तु यहाँ 'जीवित' शब्द आत्मा का पर्याय नहीं है, अपितु इसका तात्पर्य है—किसी काव्यांग को उपादेय बनाने का हेतु। अत: 'काव्य की आत्मा' के प्रसंग में यह तत्त्व विचारणीय नहीं है। (विशेष विवरण के लिए देखिए 'औचित्य तत्त्व' नामक अध्याय)

२. ये कितनी सीमा तक बाह्य हैं, यह विषय प्रस्तुत प्रसंग से सम्बद्ध नहीं है।

आठ भेदों में से 'अपरांग' नामक दूसरे भेद के अन्तर्गत रसवद्, प्रेयस्वद् आदि अलंकारों का अन्तर्भाव हो जाता है, जो वस्तुतः उस स्थिति में स्वीकृत किये जाते हैं, जब रस, भाव आदि अंग भूत रूप में वर्णित हों। इस प्रकार रस चाहे अंगीभूत रूप में वर्णित हो अथवा अंग रूप में, काव्य-श्रेणी की दृष्टि से, 'ध्वनि' पर ही आधारित है। शेष रहे ध्वनि के [रसेतर] शेष चार भेद, और गुणीभूत-व्यंग्य के शेप सात भेद—ये सभी तो ध्वनि से सम्बन्धित हैं ही।

अब काव्य के तीसरे प्रमुख-भेद 'चित्रकाव्य' को लीजिए। चित्रकाव्य से तात्पर्य है—अलंकार-प्रयोग, किन्तु इसमें भी ध्वनि-तत्त्व की सत्ता, चाहे वह 'अस्फुट' रूप में ही क्यों न हो, नितान्त अनिवार्य है, और चित्रकाव्य के ही अन्तर्गत सभी शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का काव्य-चमत्कार निहित हो जाता है। शेष रहे गुण और रीति नामक काव्य-तत्त्व, तो ये दोनों क्रमशः साक्षात् तथा प्रकारान्तर से रस-ध्वनि से सम्बद्ध रहने के कारण ध्वनि से ही सम्बद्ध हैं। इसके अतिरिक्त इन दोनों का बाह्य चमत्कार 'चित्रकाव्य' कहाता है। यह चमत्कार भी वस्तुतः रस-ध्वनि का ही उपकारक होता है। इस प्रकार ध्वनि-तत्त्व में सभी प्रकार का काव्य-चमत्कार अन्तर्भूत हो जाता है। अतः यह एक व्यापक काव्य-तत्त्व है।

इस प्रकार उक्त दोनों कारणों से **ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानना चाहिए।**

× × ×

किन्तु समस्या का अन्त यहीं नहीं हो जाता। रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करने वालों की ओर से यह कहा जा सकता है कि रस (रसादि) के उदाहरण और 'अपरस्यांग' नामक गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के शेप सात भेदों के उदाहरण भी वस्तुतः 'रस' के ही उदाहरण हैं, और यही स्थिति चित्रकाव्य की भी है, क्योंकि इनका चमत्कार भी तो किसी न किसी रूप में रस से सम्बद्ध रहता है। उदाहरणार्थ, वस्तु-ध्वनि का प्रसिद्ध उदाहरण 'गतोऽस्तमर्कः' अर्थात् 'सूर्य डूब गया' तभी काव्य के अन्तर्गत माना जाएगा जब वक्ता का अभिप्राय केवल इतना मात्र न हो कि अब 'अनध्ययन का समय हो गया,' अथवा 'कार्य समाप्त करने का समय हो गया', आदि, अपितु वह वक्ता की आन्तरिक मनोभावनाओं का भी परिचायक हो। उदाहरणार्थ, 'कार्य समाप्त हो गया' इस व्यंग्यार्थ को तभी काव्य का विषय माना जाएगा, जब वक्ता को अपने प्रियजनों से मिलने की उत्सुकता हो, अथवा उसकी किसी ऐसी अन्य मनोभावना एवं मनोलालसा का पता चले। इस प्रकार ऐसे उदाहरणों में भी वस्तुतः रस की सत्ता विद्यमान रहती है। अतः रस को ही काव्य की आत्मा मानना चाहिए, ध्वनि को नहीं। उपर्युक्त तर्क के उत्तर

में इतना कहना पर्याप्त है कि यह ठीक है कि काव्य-तत्त्व की स्वीकृति वहाँ होगी जहां किसी अनुभूति का द्योतन हो, किन्तु इसी आधार पर ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य अथवा चित्र-काव्य के सभी भेदों के उदाहरणों को शृंगार आदि रसों के साथ सम्बद्ध करना समुचित नहीं है, और इसी प्रकार काव्य में वर्णित हर प्रकार की अनुभूति को भी भावपरक स्वीकृत करके उसे रसादि (रस, भाव, रसाभास आदि आठों, अथवा रसवद्, प्रेयस्वद् आदि सातों) के साथ सम्बद्ध नहीं करना चाहिए। इसके दो कारण हैं—

—पहला यह कि ध्वनि जैसा आन्तरिक तत्त्व भी तो किसी अनुभूति एवं मनोवृत्ति का द्योतक है। इसे इस दृष्टि से सक्षम न मानकर केवल रस को ही, जो कि वस्तुतः ध्वनि पर ही आधारित है, ऐसा मानना शास्त्र-संगत नहीं है।

—दूसरा कारण यह है कि शास्त्रीय दृष्टि से रस अपने पारिभाषिक अर्थ में सब प्रकार के काव्य-तत्त्वों से प्राप्त 'काव्यचमत्कार' अथवा 'काव्यानन्द' का वाचक नहीं है, अपितु वह विशिष्ट प्रकार के आनन्द का—स्थायिभाव के साथ विभावादि के संयोग से जन्य आनन्द का—वाचक है। जिस काव्य में विभाव आदि तीनों परिपक्व रूप में वर्णित रहते हैं, अथवा विभाव आदि में से किसी एक अथवा दो के परिपक्व रूप में वर्णित रहने के कारण शेष 'दो' अथवा एक के स्वतःगृहीत हो जाने पर तीनों परिपक्व रूप में वर्णित समझ लिये जाते हैं, वहीं रस अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि की स्थिति समझी जाती है, और रस नाम से अभिहित 'काव्यास्वाद' ('काव्याह्लाद') भी इन्हीं स्थलों में स्वीकार किया जाता है। यों चाहें तो रस का व्यापक अर्थ—सब प्रकार का काव्य-चमत्कार, स्पष्ट शब्दों में कहें तो सभी प्रकार के काव्य-तत्त्वों से उत्पन्न काव्य-चमत्कार, भी ले सकते हैं, किन्तु यह उसका लक्ष्यार्थ है, वाच्यार्थ नहीं है, और शास्त्रीय चर्चाओं में वाच्यार्थ के ही बल पर सिद्धान्त प्रतिपादत किये जाने चाहिएं, लक्ष्यार्थ अथवा उपचार के बल पर नहीं। इस दृष्टि से रस अपनी सीमा में परिबद्ध है, वह काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है।

यहाँ एक शंका प्रस्तुत की जा सकती है कि काव्य में वर्णित ऐसा कौन सा स्थल है जो विभावादि से—विशेषतः आवलम्बन-विभाव से—शून्य हो, और न सही, तो विषय एवं आश्रय का सद्भाव तो सर्वत्र रहेगा ही। इस तथ्य को निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत किया गया है—'काव्य में वर्णित ऐसी कोई विषय-वस्तु नहीं है, जो किसी चित्तवृत्ति को उत्पन्न न करती हो, और यही चित्तवृत्तियाँ ही तो

रसादि हैं'—**न हि तदस्ति वस्तु किंचिद् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति, चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः।** (ध्वन्यालोक ३. ४३ वृत्ति)

किन्तु चित्तवृत्तियों को रसादि (रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि कहना लाक्षणिक प्रयोग है। किसी भी मनोभाव का केवल उल्लेख अथवा वर्णन-मात्र तब तक 'रस' नहीं कहाता जब तक कि वह विभावादि के साँचे में ढला हुआ न हो। किसी भी रस के उदाहरण में शास्त्रीय दृष्टि से, जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है, विभावादि की, अथवा उनमें से किसी एक अथवा दो की, अभिव्यक्ति परिपक्व रूप में ही विद्यमान रहनी चाहिए। अपरिपक्व स्थिति में इस प्रकार से काव्य-स्थल—'**प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति**' इस प्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार—रसादि (असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि) के उदाहरण न माने जाकर ध्वनि के उक्त शेष चार भेदों में से किसी न किसी के उदाहरण माने जाएंगे। एक उदाहरण लीजिए :

एक तारा डूब कर क्या कह गया ?

इस कथन में व्यंग्यार्थ यह है कि कोटि-कोटि नक्षत्रों से भरे आकाश के समान कोटि-कोटि मानवों से भरे इस जगत् में टूटते हुए एक तारे के समान एक व्यक्ति की मृत्यु से कुछ क्षणों का ही विषाद होता है, इससे अन्ततः कुछ अन्तर नहीं पड़ता—संसार चलता रहताहै। इस कथन में विभावादि में से केवल आलम्बन-विभाव (तारा और कवि) के विद्यमान होने पर भी शेष दो तत्त्वों की स्वतः प्रतीति नहीं होती, क्योंकि यहा आलम्बन-विभाव परिपक्व रूप में अभि-व्यक्त नहीं हुआ। अतः इसे किसी रस अथवा भावोदय का उदाहरण न मान-कर 'वस्तु-ध्वनि' का उदाहरण मानेंगे। दो ताजे उदाहरण 'नई कविता' के और लीजिए—

फ़ुटपाथ पर खड़ा-खड़ा सुलगता रहता है,
एक सिगरेट,
धुँआ छोड़ता हुआ।

—कुण्ठा, तमन्नाओं को पूरा करने की अभिलाषा, घुटन और बेबसी को व्यञ्जित करती हैं ये पंक्तियाँ। यह अभिव्यक्ति शास्त्रीय शब्दावली में 'वस्तु-ध्वनि' है। इसी प्रकार—

एक अदृश्य टाइप-राइटर पर
साफ-सुथरे कागज़ सा चढ़ता हुआ दिन।

—घटना-हीन दिन का प्रारम्भ हुआ, पर यह सारा दिन यों रीता थोड़े बीत

जाएगा, कुछ तो घटनाएं घटेंगी ही—यह 'वस्तुध्वनि' है। इसे उक्त शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार रस का उदाहरण नहीं मान सकते, क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि से, रस (रसध्वनि) अपनी मर्यादा में परिबद्ध है, वह काव्य का अनिवार्य तत्व नहीं है, अनिवार्य तत्त्व 'ध्वनि' है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि रस के उदाहरणों में ध्वनि की सत्ता अनिवार्यतः स्वीकार्य होती है, किन्तु जहाँ ध्वनि होगी वहां रस (रसध्वनि) अनिवार्यतः स्वीकार्य हो, यह सदा आवश्यक नहीं है। किसी काव्य में मात्र किसी भाव के वर्णित होने पर उसे रस का उदाहरण स्वीकार करना शास्त्रीय नहीं है। यह ठीक है कि 'रस' (रसादि), अंगी और अंग रूप में वर्णित होने के कारण, एक अति व्यापक काव्य-तत्त्व है, तथा इस दृष्टि से इसका भाव-फलक अति विशद है, और यही कारण है कि अधिकांश काव्य इसी के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है,[1] पर स्पष्ट है कि इस दृष्टि से इसे काव्य का अनिवार्य तत्त्व (साधन) स्वीकार नहीं कर सकते। यह तत्त्व वही स्वीकार्य होगा जो सर्वत्र विद्यमान हो। आनन्दवर्धन रस की इस न्यूनता से परिचित थे, और इसी कारण उन्होंने ध्वनि-तत्त्व की स्थापना की। इसी कारण वह 'गतोऽस्तमर्कः' (सूर्य डूब गया) जैसे स्थलों में काव्य की स्वीकृति तभी करते हैं, जब इनसे उत्सुकता आदि भाव व्यंजित होते है, पर यह 'उत्सुकता', जैसा कि ऊपर संकेत कर आये हैं, यहाँ 'वस्तु-ध्वनि' का विषय है, न कि रस, भाव आदि का, क्योंकि विभावादि में से कोई भी यहाँ परिपक्व रूप में प्रस्तुत नहीं हुआ।

वस्तुतः, ध्वनि को आत्मा अथवा साधन स्वीकार करने, और 'रस' को उससे जन्य 'सिद्धि' स्वीकार करने से रस का महत्त्व कम न होकर कहीं अधिक बढ़ जाता है—'ध्वनि' (व्यंग्यार्थ) तो साधन अथवा आधार है, किन्तु 'रस' सिद्धि अथवा आधेय है, जो कि सहृदय का अभीष्ट एवं अन्ततः प्राप्तव्य तत्त्व है, और

---

१. यहाँ यह संकेत करना अपेक्षित है कि 'रसध्वनि' ध्वनि-काव्य के अन्य भेदों की अपेक्षा उत्कृष्ट मानी जाती है, किन्तु यह सदा आवश्यक नहीं है कि रस-ध्वनि के उदाहरण ध्वनि-काव्य के अन्य चार भेदों के उदाहरणों की तुलना में, अथवा गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्र-काव्य के भेदोपभेदों के उदाहरणों की तुलना में, काव्य-चमत्कार की दृष्टि से सदा उत्कृष्ट कोटि के ही हों—वे निम्न कोटि के भी हो सकते हैं। वस्तुतः, यह तो एक शास्त्रीय मर्यादा (Academic decorum) है, जिसके कारण कभी-कभी काव्य-चमत्कार की दृष्टि से अपेक्षाकृत हीन पद्य भी रस के उदाहरण मान लिये जाते हैं।

रस की उपलब्धि शब्दार्थ-बोध के उपरान्त ध्वनि के माध्यम से होती है। अतः ध्वनि-रूप माध्यम की अपेक्षा रस-रूप सिद्धि का महत्त्व अपेक्षाकृत स्वतः सिद्ध है।

अन्ततः, हम कह सकते हैं कि—

—जिस प्रकार शरीर के सभी धर्मों—सुख-दुख आदि का आधार 'शरीरी' (आत्मा) है, उसी प्रकार शब्दार्थ-रूप काव्य-शरीर से उत्पन्न सभी प्रकार के आह्लादों का आधार ध्वनि-रूप आत्मा है।

—निष्कर्षतः, ध्वनि को ही, जो कि काव्य का अनिवार्य, व्यापक एवं आन्तरिक सार अथवा तत्त्व है, काव्य की आत्मा (साधन) स्वीकृत करना चाहिए, क्योंकि ध्वनि ही सब प्रकार के काव्यानन्द (साध्य अथवा सिद्धि) का साधन बनने की क्षमता रखती है।

—जहाँ तक रस का प्रश्न है, इस शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में दो अर्थों में होता है—

(क) काव्यानन्द, काव्याह्लाद आदि के अर्थ में, अर्थात् साध्य अथवा सिद्धि रूप में। इस स्थिति में रस को काव्य की आत्मा नहीं मान सकते क्योंकि 'आत्मा' से अभिप्रेत है साधन, न कि सिद्धि अथवा साध्य।

(ख) 'रसध्वनि' के अर्थ में, अर्थात् ध्वनि-रूप साधन के एक प्रमुख भेद के अर्थ में। किन्तु इस अर्थ में भी रस को काव्य की आत्मा नहीं मान सकते, क्योंकि 'रसध्वनि' अपनी शास्त्रीय परिभाषा में परिबद्ध एवं सीमित है, और इसी कारण 'वस्तुध्वनि' आदि अन्य साधनों का चमत्कार 'रस-ध्वनि, में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार 'रस' अपने उपर्युक्त दोनों प्रयोगों में काव्य की आत्मा बनने का अधिकारी नहीं है।

OOO

६. क्षेमेन्द्र का 'औचित्य-तत्त्व' और उसका पृष्ठाधार

'औचित्य-तत्त्व' के प्रवर्तन का श्रेय क्षेमेन्द्र[1] को दिया जाता है, किन्तु वस्तुतः, यह इसके प्रवर्तक न होकर इसके व्यवस्थापक हैं। इनसे पूर्व भी **भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक और महिमभट्ट** के ग्रन्थों में इस तत्त्व के सम्बन्ध में साक्षात् एवं असाक्षात् रूप से पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। इनमें से सर्वाधिक प्रकाश आनन्दवर्धन ने डाला है।

[१]

१. **भरत** के नाट्यशास्त्र में 'औचित्य' शब्द का प्रयोग न होते हुए भी इसके सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर पर्याप्त संकेत मिल जाते हैं—

—'जिस पात्र के लिए जैसी भूमिका एवं चेष्टा उचित हो वह वैसी होनी चाहिए'—

(क) **यादृश्यो यस्य कर्तव्या विन्यासे भूमिकास्ततः ॥**

(ख) **या यस्य सदृशी चेष्टा ह्युत्तमाधममध्यमा** । ना० शा० ३५.१

जैसा कि हम आगे देखेंगे, क्षेमेन्द्र ने भी 'उचित' के स्वरूप-निर्देश में संभवतः भरत का ही अनुकरण करते हुए कहा है कि जो जिसके सदृश हो उसे उचित कहते हैं—**उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत्** । औ० वि० च०

—अभिनेता का 'वेष' आयु के अनुरूप, 'गतिप्रचार' (शारीरिक चेष्टाएं) वेष के अनुरूप, 'पाठ्य' (संवाद) गति-प्रचार के अनुरूप और 'अभिनय', पाठ्य के अनुसार होना चाहिए—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो, वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः ।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यम्, पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ॥ ना०शा० १४.६८

---

१. क्षेमेन्द्र का परिचय : इस लेख के अन्त में देखिए।

—अटपटा वेष अभिनेता के फूहड़पन को द्योतित करता है—मेखला को कटि पर धारण न कर कण्ठ में धारण कर लेने से वह उपहास का पात्र बन जाता है—

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति ।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते ॥ ना० शा०

—नाट्य वही सिद्ध होता है, जो 'लोकसिद्ध' एवं 'लोकस्वभावज' हो। वस्तुतः, नाट्य-प्रयोगों में 'लोक' ही प्रमाण होता है—

लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम् ।
तस्मान्नाट्यप्रयोगेषु प्रमाणं लोक इष्यते ॥ ना० शा०

२. **भामह** के ग्रन्थ काव्यालंकार में भी 'औचित्य' शब्द का प्रयोग न होते हुए भी इस तत्त्व के द्योतक अनेक कथन मिल जाते हैं—

—भरत ने 'नाट्य' को 'लोकस्वभावज' कहा था तो भामह के शब्दों में महाकाव्य 'लोक-स्वभाव-युक्त' होना चाहिए—

युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् । का० अ० १.२१

—दोष माना कि दोष है, किन्तु वह प्रयोग-विवेक के बल पर कहीं दोष नहीं रहता, और कहीं तो गुण बन जाता है। इस सम्बन्ध में भामह के अनेक कथन औचित्य-तत्त्व के द्योतक हैं। दो स्थल लीजिए—

(क) सन्निवेश-विशेष के कारण सदोष कथन भी शोभित होने लगता है। जैसे पुष्पमाला के बीच-बीच गुथा हुआ नील-पलाश भी शोभित होने लगता है—

सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते ।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ॥ का० अ० १.५४

(ख) कोई असाधु वस्तु भी आश्रय के सौन्दर्य से अत्यन्त सुन्दर बन जाती है, जैसे—कज्जल तो स्वभावतः काला होता है, किन्तु सुन्दर स्त्री के नेत्रों में अंजित होने पर उसकी शोभा बढ़ जाती है—

किंचिद् आश्रयसौन्दर्यात् धत्ते शोभामसाध्वपि ।
कान्ता-विन्यस्त-न्यस्तं मलीमसमिवांजनम् ॥ का० अ० १.५५

३. इसी प्रकार **दण्डी** ने भी दोष के निवारण तथा गुणत्व के सम्बन्ध में बहुविध सामग्री प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ—

—कवि-कौशल के बल पर देशगत, कालगत आदि विरोध दोषत्व को छोड़ गुण बन जाते हैं—

विरोधो सकलोऽप्येष कदाचित् कवि-कौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथिं विगाहते ।। का० आ० ३.१७६

—दूसरे शब्दों में, यदि कोई कवि अपने काव्य में इन दोषों का औचित्य देखते हुए इनका प्रयोग जानबूझ कर करता है तो वहाँ ये दोष गुण बन जाते हैं।[1]

—दोष और गुण के विधि-दर्शित मार्ग का विवेक-पूर्वक आचरण करने वाला व्युत्पन्न-मति कवि दूसरों को वश करने वाली अपनी वाणी के द्वारा ठीक उसी प्रकार [कविता-रूपी रमणी का] रमण करता है, और कीर्ति को भी प्राप्त करता हैं, जैसे दोष और गुण के विधि-दर्शित मार्ग का अनुकरण करने वाला व्युत्पन्न-मति धन्य युवा दूसरों को वश में करने वाली अपनी वाणी के द्वारा मदिरेक्षणाओं (रमणियों) का रमण करता है, तथा कीर्ति का भागी बनता है।[2]

४. उद्भट ने भी यद्यपि 'औचित्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया, किन्तु ऊर्जस्वि अलंकार के लक्षण में प्रयुक्त 'अनौचित्य' शब्द[3] प्रकारान्तर से इस तथ्य का सूचक हैं कि उनके युग में 'औचित्य-तत्त्व' किसी रूप में पनप रहा था।

---

१. इनसे पूर्व भामह (काव्यालंकार ४.१४) और बाद में रुद्रट (काव्यालंकार ६.२३,२) मम्मट और विश्वनाथ (का० प्र० ७ म उ० तथा सा० द० ७ म परि०) ने भी इसी प्रकार की धारणाएं प्रस्तुत की हैं। उदाहरणार्थ—

अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः ।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता ।। सा० द० ७.३२

यहां यह उल्लेख्य है कि आनन्दवर्धन ने नित्य और अनित्य दोष की व्यवस्था की है कि 'श्रुतिकटु' आदि दोष काव्य में अनित्य हैं,तो 'च्युतसंस्कृति' आदि दोष नित्य हैं—

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।
ध्वन्यात्मन्येव शृंगारे ते हेया इत्युदाहृताः ।। ध्वन्या० २.११

२. व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन,
मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्तनीभिः ।
वाग्भिः कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभिः
धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम् ।। का०आ० ३.१८७

३, अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।
भावनां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ।। का० सा स० ४ र्थ वर्ग

अर्थात् ऊर्जवि अलंकार वहां माना जाता है जब काम, क्रोध आदि के [अनुचित प्रयोग] के कारण रसों और भावों की अनौचित्यपूर्ण रचना की जाए।

५ इनके उपरान्त काव्याचार्यों में रुद्रट ने संभवतः सर्वप्रथम[1] 'औचित्य' और 'अनौचित्य' शब्द का प्रयोग करते हुए औचित्य की महत्ता का स्पष्ट संकेत किया है। उनके कथनानुसार—

—वैदर्भी और पांचाली वृत्तियों का प्रेयान्, करुण, भयानक और अद्भुत रसों में तथा लाटीया और गौडीया का रौद्र रस में प्रयोग औचित्य-पूर्वक करना चाहिए—

वैदर्भीपांचाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम्॥ का० अ० १५.२०

—इसी प्रकार अनुप्रास अलंकार की पांचों जातियों के संवन्ध में भी उनका कथन है कि इनका प्रयोग और त्याग औचित्य का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए करना चाहिए—

एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः॥[2]

—का० अ० २२३.

अब 'अनौचित्य' शब्द का प्रयोग लीजिए। रुद्रट के अनुसार ग्राम्य वहां दोष माना जाता है जहां कुल, जाति, विद्या, वित्त, आयु, स्थान और पात्र इन [आठों विषयों] में व्यवहार, आकार, वेश और वचन का अनौचित्य हो—

---

१. भोजराज ने शृंगारप्रकाश में निर्दिष्ट किया है कि राजा यशोवर्मा ने अपने 'रामाभ्युदय' नाटक में सर्वप्रथम' 'औचित्य' शब्द का प्रयोग किया है—

औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगते, सर्वत्र पात्रोचिता,
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च, कथामार्गे न चातिक्रमः।
शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ, प्रौढिश्च शब्दार्थयोः
विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहितैः एतावदेवास्तु नः॥

—शृंगारप्रकाश (२), पृष्ठ ४११

२. अर्थात्, महान् कवियों द्वारा इन पाँचों वृत्तियों—मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता और भद्रा—को प्रयत्नपूर्वक समझकर, इनके (पात्र-गत) औचित्य की तथा अभिधेयार्थ की अनुकूलता को देखकर इनका प्रयोग कहीं मिश्रित अर्थात् परस्पर संयुक्त रूप से, कहीं अल्प तथा कहीं दीर्घ रूप से करना चाहिए, तथा कहीं इनका प्रयोग करके फिर छोड़ देना चाहिए, [जिससे निरूपण-शैली में एकरूपता रहे।]

ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम् ।
देशकुलजातिविद्यावित्तवयःस्थानपात्रेषु ॥ का०अ० ११.९

केवल इतना ही नहीं, रुद्रट ने भी भामह और दण्डी के अनुरूप दोषों के गुणत्व-प्रसग का सम्यक् निरूपण करते हुए[1] प्रकारान्तर से 'औचित्य'-विपयक पूर्व-मान्यताओं की पुष्टि की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने श्लेष अलंकार के प्रयोग के संबंध में भी जिन नियमों का निर्देश किया है, वे भी प्रकारान्तर से औचित्य-तत्त्व की ओर संकेत करते हैं।[2]

× × ×

९. इन सबके पश्चात् **आनन्दवर्धन** ने अलकार, गुण, संघटना, प्रबन्ध, वृत्ति (रसवृत्ति) तथा भाषा के प्रयोग के औचित्य पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए क्षेमेन्द्र के लिए इस तत्त्व को प्रतिपादित करने का द्वार खोल दिया। विशिष्ट स्थल लीजिए—

अलंकार का औचित्य इसी में है कि वह रस, भाव आदि के तात्पर्य (चमत्कार-वृत्ति) का साधन बन कर रहे।[3] अलंकार का बन्ध रस को ध्यान में रखते हुए ऐसे सहज भाव से होना चाहिए कि रचना करते समय न तो कवि को इसके समावेश के लिए कोई पृथक् अभ्यास करना पड़े, और न ही पाठक को कोई अलंकार-विशेष पृथक् रूप से आभासित हो सके।[4] इसके अतिरिक्त अलकार के प्रयोगौचित्य के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने अनेक नियम भी निर्धारित किये हैं। (देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ ४२-४८)

गुण का औचित्य इसी में है कि गुण रस का धर्म बनकर रहे। शृंगार आदि कोमल रसों के आस्वाद से क्षण भर पूर्व घटित सहृदय के चित्त की 'द्रुति' माधुर्य गुण कहाती है। इसी प्रकार रौद्र आदि कठोर रसों के आस्वाद से क्षण भर पूर्व घटित—सहृदय के चित्त की—'दीप्ति' ओज गुण कहाती है। इसके अतिरिक्त माधुर्य गुण की अभिव्यंजना, कोमल वर्ण-योजना के माध्यम से भी, प्रकारान्तर से होती है, जिसका प्रयोग शृंगार आदि कोमल रसों में करना चाहिए। इसी

१.२. काव्यालंकार ६, ४७, ४. ३५

३. रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥ ध्वन्या० ३.६

४. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्प्रयत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥ ध्वन्या० २.१७

प्रकार ओज गुण की अभिव्यंजना, कठोर वर्णयोजना के माध्यम से भी, प्रकारान्तर से होती है, जिसका प्रयोग रौद्र आदि कठोर रसों में करना चाहिए। शब्दार्थ की स्वच्छता को—चाहे वह किसी रस में हो—प्रसाद गुण कहते हैं।[1]

संघटना से आनन्दवर्धन का अभिप्राय है असमासा, मध्यमसमासा, और दीर्घसमासा रचना। संघटना का औचित्यपूर्ण प्रयोग इसी में है कि वह माधुर्य आदि गुणों के आश्रित रहकर रसाभिव्यक्ति में सहायक बने। इसका प्रयोग वक्ता, वाच्य, विषय और रस—इन चारों के औचित्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए।[2]

वृत्ति का औचित्य भी इसी में है कि वह रस आदि के अनुकूल प्रयुक्त हो। वृत्ति से आनन्दवर्धन का तात्पर्य है—भारती, आरभटी, सात्वती और कैशिकी नामक नाट्यवृत्तियां, तथा उपनागरिका, परुषा और कोमला नामक अनुप्रास-जातियां।[3]

[उपनागरिका आदि को मम्मट ने क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पांचाली नाम भी दिया है।]

प्रबन्ध (प्रबन्ध-ध्वनि) के औचित्य के संबन्ध में आनन्दवर्धन का कथन है कि इसका कथानक—चाहे इतिहास, पुराण आदि पर आश्रित हो, अथवा कवि-कल्पित हो—औचित्यपूर्ण होना चाहिए, और इसका एकमात्र उपाय है कि कथानक रस के अनुकूल हो। इसकी सिद्धि के लिए आनन्दवर्धन ने निम्नोक्त पांच अभिव्यजक हेतु बताये हैं [4] —

(१) विभाव, अनुभाव, संचारिभाव और स्थायिभाव के औचित्य से ऐतिहासिक अथवा कल्पित कथा-शरीर का सुन्दर निर्माण।

(२) ऐतिहासिक कथाओं में रस के प्रतिकूल कथांशों का त्याग कर उनके स्थान पर—यदि आवश्यकता पड़े तो—अन्य प्रसंगों का समावेश।

---

१. ध्वन्यालोक २. ७-१० (विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ ७१-७३)

२. वक्ता अर्थात् काव्य-नाटक के पात्र। वाच्य अर्थात् काव्य-नाटक का प्रतिपाद्य विषय। विषय अर्थात् महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, गद्यकाव्य, चम्पू आदि काव्य-प्रकार।

३. रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः ॥ ध्वन्या० ३.३३

४. ध्वन्यालोक ३.१०-१४

(३) शास्त्र-विधान के परिपालनमात्र के लिए नहीं, अपितु रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से सन्धि-सन्ध्यंगों की रचना।

(४) यथावसर अंगभूत रसों के उद्दीपन अथवा प्रशमन द्वारा अंगीभूत रस का अनुसन्धान (पोपरग)।

(५) रसानुरूप अलंकार-योजना।

प्रबन्ध का कथानक रस के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए। यह प्रतिकूलता (अनौचित्य) निम्नोक्त रूपों में घटित हो सकती है—

(१) जब अगी के स्थान पर अंग का वर्णन अति विस्तृत हो जाए। उदाहरणार्थ, शिशुपालवध का प्रकृत रस है तो वीर रस, किन्तु उसमें शृंगार रस के विभिन्न रूपों—ऋतु, उपवन, मज्जन, प्रभात-वर्णन आदि—का वर्णन विस्तार से हो गया है। वस्तुतः, शृंगार रस तो इस महाकाव्य में अंगभूत है और वीर रस अंगीभूत है। इस प्रकार यहां प्रमुख रस गौण हो गया है।

(२) अंगी अर्थात् प्रधान व्यक्ति के अननुसन्धान से—उसे विस्मृत कर कर देने से—भी प्रवन्ध-काव्य में अनौचित्य आता है। जैसे रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में कंचुकी वाभ्रव्य के आ जाने पर नायक उदयन विजयवर्मा के वृत्तान्त को सुनने में लग जाता है, और नाटक की नायिका रत्नावली (सागरिका) को भूल जाता है।

(३) अनंग का, अर्थात् रस की अनुपकारक वस्तु का, वर्णन भी प्रवन्ध में अनौचित्य का कारण बनता है। जैसे—कर्पूरमंजरी नाटक में राजा स्वयं अपने द्वारा तथा नायिका द्वारा किये गये वसन्त-वर्णन का अनादर करके—अर्थात् उसे कवित्वपूर्ण स्वीकार न करके—वन्दियों द्वारा किये गये वसन्त-वर्णन की प्रशंसा करता है।

(४) प्रकृति में व्यत्यय से, अर्थात् काव्य-नाटक के मुख्यपात्र के स्वभाव में परिवर्तन करने से, भी औचित्य की हानि होती है। जैसे— धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरप्रशान्त और धीरललित नायकों के, अथवा दिव्य, अदिव्य नायकों के स्वभाव को परिवर्तित करके दिखा देना, आदि।[1]

---

१. ज्ञातव्य है कि प्रवन्धौचित्य के भंग करने वाले इन चारों कारणों को मम्मट ने रस-दोष-प्रकरण में स्थान दिया है। (का० प्र० ७.६२, वृत्ति)

इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने भाषा के विभिन्न अवयवों—सुबन्त (विभक्ति), तिङन्त (क्रिया-रूप), वचन, कारक, कृदन्त, तद्धित, समास, निपात, उपसर्ग, काल आदि के सम्बन्ध में भी कहा है कि काव्य में इनके विशेष अर्थात् औचित्यपूर्ण प्रयोग द्वारा रस की अभिव्यक्ति की जा सकती है।[1] कुछ उदाहरण लीजिए —

(१) मेरे ये नेत्र तुम्हारे दर्शनमात्र से ही अनुरक्त होकर तुम्हारे इस प्रकार के (अर्थात् निष्ठुर) हृदय को न पहचान सके। ये भाग्यहीन नयन तो बस केवल रोने के लिए ही बने हैं। अब इन्हें अपने दर्शन से फिर से विकसित करने का प्रयास मत करो, यहां से हट जाओ —

अपसर रोदितुमेव निर्मिते, मा पुंसय हते अक्षिणी मे।
दर्शनमात्रोन्मत्ताभ्यां याभ्यां, तव हृदयमेवं रूपं न ज्ञातम्॥[2]

—ध्वन्या० ३.१६ वृत्ति

यहां 'अपसर' और 'मा पुंसय'—इन दोनों तिङन्त-रूपों के औचित्यपूर्ण प्रयोग के कारण काव्य-सौन्दर्य है।

मुहुरंगुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥

—ध्वन्या० ३.१६ (वृत्ति), अभिज्ञान० ३.७८

[अपनी उंगली से जो ढपती बार-बार अपने अधरों को,
'ऊँह-ऊँह', 'न-न-न'—कुछ ऐसी ध्वनि थी करती जो,
उस रमणी के, प्यारे पलकों वाली रमणी के मुख को,
लाज के मारे कांधे से चिपके सुन्दर मुख को,
मैंने उठाया ऊपर को, पर हाय ! उसे न चूम सका] — हिन्दी-रूपान्तर

यहां 'तु' ['पर हाय'!] निपात के औचित्यपूर्ण प्रयोग के कारण काव्य-सौन्दर्य है।

अस्तु ! इस प्रकार आनन्दवर्धन ने 'औचित्य' के सम्बन्ध में सर्वप्रथम सर्वाधिक सामग्री प्रस्तुत करते हुए यह धारणा स्थिर की कि विभिन्न काव्य-तत्त्वों का औचित्य इसी में है कि इनका रसानुकूल प्रयोग किया जाए, और इस प्रकार उन्होंने

---

१. ध्वन्यालोक ३.१६ तथा वृत्ति
२. प्राकृत से रूपान्तर

काव्य-सौन्दर्य के विधान में औचित्य को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया, और 'अनौचित्य' को रसभंग का सर्वप्रमुख कारण बताया—

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥ ध्वन्या० ३.१४ (वृत्ति)

× × ×

७. आनन्दवर्धन के उपरान्त **महिमभट्ट** ने अपने ग्रन्थ व्यक्तिविवेक में काव्य-दोष को 'अनौचित्य' नाम दिया है। अनौचित्य कहते हैं जो रसादि की प्रतीति में विघ्न उपस्थित करता है —**[एतस्य अनौचित्यस्य] विवक्षित-रसादि-प्रतीतिविघ्न-विधायित्वं नाम सामान्य-लक्षणम् ।** (व्य० वि० उन्मेष २)। काव्य में अनौचित्य—अन्तरंग और बहिरंग—इन दो प्रकारों से होता है। अन्तरंग अर्थात् रस-विषयक और बहिरंग अर्थात् शब्द-विषयक। अन्तरंग प्रधान होता है और बहिरंग गौण। बहिरंग अनौचित्य अथवा शब्दगत दोष पांच प्रकार के होते हैं—विधेयामर्श, प्रक्रम-भेद, क्रम-भेद, पुनरुक्तता और वाच्यावचन।[1]

८. इनके उपरान्त इस दृष्टि से **रामचन्द्र-गुणचन्द्र** का नाम उल्लेख्य है, जिन्होंने पाँच रसदोषों में से एक रसदोष 'अनौचित्य' को भी माना, जिसका लक्षण है—**सहृदयानां विचिकित्सा-हेतु कर्म अनौचित्यम् ।** (नाट्यदर्पण, ३.१२५)। इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्यत्र 'अनौचित्य' को 'रसदोष' का भी पर्याय माना—**अंगौग्र्यादयश्च दोषाः परमार्थतो ऽनौचित्यान्तःपातिनोऽपि सहृदयानामनौचित्य-व्युत्पादनार्थमुदाहरणत्वेनोपात्ताः ।** (नाट्यदर्पण ३.१२५, वृत्ति)

[२]

इन सब के उपरान्त **क्षेमेन्द्र** ने अपने ग्रन्थ 'औचित्यविचारचर्चा' में 'औचित्य' का विस्तृत विवेचन किया। 'उचित के भाव को औचित्य कहते हैं। जो जिसके सदृश (अनुकूल) हो, उसको, अर्थात् उसके अनुरूप प्रस्तुति को, 'उचित' कहते हैं'—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥

उनके कथनानुसार काव्य यद्यपि रस-सिद्ध होता है, किन्तु उसका स्थिर—अनश्वर —'जीवित' तो औचित्य ही है—

---

१. मम्मट ने इन सब को अपने दोष-प्रकरण (का० प्र० ७ म उ०) में स्थान दिया है।

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥ ५

किंतु साथ ही, उन्होंने एक अन्य स्थल पर औचित्य को काव्य का चमत्कारी कहते हुए रस का भी 'जीवित' कहा है—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुते ऽधुना ॥ ३

क्षेमेन्द्र ने काव्य के निम्नोक्त २७ काव्यांगों की परिगणना करते हुए कहा कि इन सभी अंगों में एकमात्र व्यापक जीवन औचित्य ही है, अर्थात् काव्य में इन सभी काव्य-तत्त्वों का प्रयोग औचित्य-पूर्ण होना चाहिए—

काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ॥ १०

वे २७ काव्यांग इस प्रकार हैं, जिन्हें हम निम्नोक्त तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) **भाषा-विषयक**—पद, वाक्य, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात और काल। (१०)

(२) **काव्यशास्त्र-विषयक**—प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार और रस। इनके अतिरिक्त 'नाम' को परिकर अलंकार और 'अभिप्राय' को 'व्यंग्यार्थ' का पर्याय मानते हुए इन दोनों को भी इसी वर्ग में रख सकते हैं। (६)

(३) **वर्ण्य-विषयक**—देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था (आयु), विचार और आशीर्वचन।[1] (११)

यह उल्लेख्य है कि क्षेमेन्द्र को केवल यही २७ काव्यांग अभीष्ट नहीं हैं, ये इनसे अधिक भी हो सकते हैं—**अन्येषु वा काव्यांगेषु अनयैव दिशा स्वयमौचित्यमुत्प्रेक्षणीयम्।** (औ० वि० च० : अन्तिम स्थल)

क्षेमेन्द्र ने इन सभी काव्यांगों के उदाहरण और प्रत्युदाहरण प्रस्तुत करते हुए क्रमशः यह प्रतिपादित किया है कि काव्य इन अंगों के औचित्यपूर्ण प्रयोग से उपादेय बनता है, और अनौचित्यपूर्ण प्रयोग से अनुपादेय। उनके कथनानुसार,

---

१. हमारे विचार में अन्तिम वर्गान्तर्गत देश, कुल, आदि ११ भेदों को काव्यांग नहीं कहना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि क्षेमेन्द्र अपने ग्रन्थ की कलेवर-वृद्धि करने के उद्देश्य से इन काव्यांगों को गिनाते चले गये हैं। जो उदाहरण और प्रत्युदाहरण मिलते गये, उनके वर्ण्य विषय के आधार पर उन्होंने इन का नामकरण कर दिया है, पर इन्हें 'काव्यांग' नहीं कह सकते, क्योंकि इनका प्रयोग किसी भी काव्य के स्वरूप का निर्णायक नहीं होता।

औचित्यपूर्ण प्रयोग के बल पर ही अलंकार और गुण अपने-अपने नाम के वास्तविक अधिकारी हैं, अन्यथा नहीं। सच्चे अर्थों में अलंकार उसे कहना चाहिए जिसका उचित स्थान पर विन्यास किया गया हो, और गुण भी वही मानना चाहिए जो औचित्य से सम्पन्न हो—

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा: गुणाः ॥ ५

ऐसा अलंकार व्यर्थ है, और ऐसा गुण भी मिथ्या है, जिसका जीवित औचित्य न हो, अर्थात् जिसका प्रयोग औचित्यपूर्ण नहीं किया गया—

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः ।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥ ४

अर्थ (वर्ण्य विषय) के औचित्य के अनुरूप अलकार-प्रयोग के द्वारा कवि का सुन्दर कथन इस प्रकार शोभित हो उठता है, जिस प्रकार पीन-स्तन पर धारण किये हुए हार से कोई मृगनयनी सुन्दरी शोभित होती है—

अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते ।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ॥ १५

ठीक इसी प्रकार के कथन क्षेमेन्द्र ने लगभग सभी काव्यांगों के सम्बन्ध में कहे हैं। **रस** के औचित्य के सम्बन्ध में इसी प्रकार के निम्नोक्त दो कथन प्रस्तुत हैं—

(१) कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः ।
मधुमास इवाशोकं करोत्यंकुरितं मनः ॥ १६

अर्थात्, **औचित्यपूर्ण प्रयोग** के कारण **रस** रुचिर रूप में प्रस्तुत होकर सहृदय के मन को उस प्रकार उल्लसित करता है, जिस प्रकार वसन्त ऋतु अशोक वृक्ष को उल्लसित करती है। इसी प्रकार—

शृंगार आदि रस कौशलपूर्वक परस्पर संयोजित किये जाने पर उस प्रकार विचित्र आस्वाद को प्राप्त कराते हैं, जिस प्रकार मधुर, तिक्त आदि रस। अतः इनके परस्पर-मिश्रण में **औचित्य** की रक्षा अवश्य करनी चाहिए। पर **अनौचित्य** के स्पर्श मात्र से भी [दूषित] रसों का मिश्रण भला किसे अभीष्ट हो सकता है ?

(२) यथा मधुरतिक्ताद्या रसाः कुशलयोजिताः ।
विचित्रास्वादतां यान्ति शृंगाराद्यास्तथा मिथः ॥
तेषां परस्पराश्लेषात् कुर्यादौचित्यरक्षणम् ।
अनौचित्येन संस्पृष्टः कस्येष्टो रससंकरः ॥ १७, १८

× × ×

अब औचित्य के स्वरूप को समझने के लिए कतिपय **उदाहरण** लीजिए—

> **चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीम्,**
> **रहस्याख्यीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।**
> **करं व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं,**
> **वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥[1] १**

यहां भ्रमर का स्वाभाविक वर्णन किये जाने के कारण **स्वभावोक्ति अलंकार** है, और यह अलंकार 'अभिलाष' नामक विप्रलम्भ शृंगार रस का पोषण कर रहा है। अतः यहाँ इसका प्रयोग औचित्य-पूर्ण रूप में हुआ है।

एक अन्य उदाहरण लीजिए—र और ल जैसे कोमल वर्णों की आवृत्ति से जन्य **अनुप्रास अलकार** का प्रयोग विप्रलम्भ शृंगार में तो औचित्यपूर्ण है, जैसे—

> **अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।**
> **अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥[2]**
>
> —का० प्र० ८.३४३

किन्तु इसके विपरीत यदि शृंगार रस में टवर्ग जैसे कठोर वर्णों का अनुप्रास कर दिया जाए तो यह औचित्यपूर्ण नहीं होगा। उदाहरणार्थ, शृंगार रस के निम्नोक्त उदाहरण में अनेक शब्दों में टकार की आवृत्ति कर दी गयी है, जो कि अनौचित्य का द्योतक है—

---

(१) कोये जिनके चंचल हैं, और काँप रहे जो भय से ।
वार-वार उन नयनों का, तुम भंवरे स्पर्शन करते हो ॥
गुंजार मधुर हो करते तुम, पास कान के जा-जाकर ।
है लगता ऐसा मुझको कि, कुछ राज की बातें करते हो ॥
हो चूमते इसके होठों को, जो सार बने रति-लीला के ।
है हाथों को यह छिटक रही, परवाह न कुछ भी करते हो ॥
'न करना क्या', और 'क्या करना'—हम मारे गये इन सोचों में ।
पर सचमुच तुम हो धन्य भ्रमर, निश्शक हुए सब करते हो ॥

—(हिन्दी-रूपान्तर)

२. हे सखि ! कर्पूर को हटा दो, हार को दूर रखो, कमलों से क्या लाभ ? मृणालों को भी रहने दो—वह [विरहिणी] रात-दिन यही कहती रहती है।

चित्ते विहट्टदि ण दुट्टदि स गुणेसु
सज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिन्मुहेसु ।
बोलम्मि वट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे
झाणे ण दुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी ॥[1]

इसी प्रसंग में भूषण कवि का निम्नोक्त पद्य लीजिए, जिसमें वीर रस के प्रसंग में अनुप्रास अलंकार का प्रयोग अत्यन्त औचित्यपूर्ण हुआ है, किंतु शृंगार अथवा करुण रस में ऐसा प्रयोग औचित्यपूर्ण नहीं होगा --

(क) दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा सिवाजी गाजी,
दुग्ग नाचे दुग्ग पर रुंड मुंड फरके ।
(ख) पील खन डोल जहां गिरि से गिरन लागे,
मुंड मतवारे गिरें झुंड मतवारे से ॥

उक्त तीनों पद्यों में से 'अपसारय घनसारम्···' में माधुर्य गुण के अभिव्यंजक वर्णों के प्रयोग के कारण और 'दुग्ग पर दुग्ग जीते···' में ओज गुण के अभिव्यंजक वर्णों के कारण गुणौचित्य भी माना जा सकता है। किन्तु इसके विपरीत 'चित्ते विहट्टदि···' में ओज गुण के अभिव्यंजक वर्णों का प्रयोग गुण के अनौचित्य का द्योतक है।

काव्य में अलंकार और गुण दोनों का प्रयोग औचित्यपूर्ण होना चाहिए— क्षेमेन्द्र ने इस मान्यता पर बल देते हुए अत्यन्त रोचक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं— किसी नारी द्वारा गले में मेखला, नितम्बों पर हार, हाथों में नूपुर और पैरों में केयूर धारण कर लेना भला किस के लिए हास्य का विषय नहीं बनेगा ? इसी प्रकार यदि कोई वीर पुरुष शरणागत पर शौर्य और शत्रु पर करुणा दिखाए तो

---

१. चित्ते विघटते त्रुट्यति सा गुणेषु
शय्यासु लुंठति विसर्पति दिङ्मुखेषु ।
वचने वर्तते प्रवर्तते काव्यबन्धे
ध्याने न त्रुट्यति चिरं तरुणी प्रगल्भा ॥ (संस्कृत-रूपान्तर)
—का० प्र० ८, ३४५, कर्पूरमंजरी (राजशेखर)

अर्थात्, वह प्रतिभावती तरुणी (कर्पूरमंजरी) चित्त में बैठी हुई है, वह गुणों में कम नहीं है, [कभी वह मुझे अपनी] शय्या पर लोटती दिखायी देती है, और कभी वह सभी दिशाओं में घूमती फिरती है। कभी वह मेरे साथ बात करती है, और कभी काव्य-रचना में प्रवृत्त होती है। वह कभी भी चिरकाल तक मेरे ध्यान से बाहर नहीं रहती।

उसकी यह चेष्टा भी हास्यास्पद ही है। सत्य तो यह है कि न तो अलंकार और नहीं गुण औचित्य के बिना रुचिकर है—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुर-बन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणतौ रिपौ करुणया, नायान्ति के हास्यताम्,
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते, नालंकृतिर्नो गुणाः॥

क्षेमेन्द्र के अनुसार रस काव्य का प्राण अवश्य है, किन्तु जब तक वह भी औचित्य से रुचिर नहीं होता, तब तक वह सहृदयों के चित्त को आकर्षित नहीं कर सकता। इसके उदाहरण-स्वरूप, कुमारसम्भव का वसन्त-वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसमें एक स्थल पर कवि कालिदास ने भगवान् शंकर के हृदय में पार्वती के प्रति अभिलाषा उत्पन्न करने के लिए वसन्त का वर्णन उद्दीपन-रूप में किया है—'इस ऋतु में वनस्थली पर लाल रंग की पलाश-कलिका उस प्रकार प्रतीत हो रही है. जिस प्रकार ललनाओं के अंग पर किये गये नखक्षत की शोभा।' निस्सन्देह ऐसे स्थल औचित्यपूर्ण समझे जाते हैं—

बालेन्दुवक्त्राण्यविकासभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥ का० सं० ३.२९

अब रसौचित्य का एक अन्य उदाहरण लीजिए—'यह निकट-नितम्बा ऐसे वज्र मूर्ख से व्याही गयी है, जो काल-द्योतक 'मास' शब्द के स्थान पर तो 'माष' (उड़द) शब्द का उच्चारण करता है, और सस्य (माष) के लिए 'मास' शब्द का, तथा 'सकाश' (समीप) को 'शकाश कहता है, 'उष्ट्र' बोलते समय कभी तो 'र' का लोप कर 'उष्ट' बोलता है, तो कभी 'ष' का लोप कर 'उट्र'—

काले माषं सस्ये मासं वदति शकाशं यश्च सकाशम्।
उष्ट्रे लुम्पति रं वा षं वा तस्मै दत्ता विकटनितम्बा॥
—का० अ० (रु०) ६.४७ (नमिसाधु की टीका)

उक्त पद्य में हास्य-रस-विषयक औचित्य स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार जयशंकर प्रसाद का एक पद्य लीजिए; जिसमें उन्होंने वीभत्स रस का औचित्यपूर्ण प्रतिपादन किया है—

दुर्बलता इस अस्थिमांस की
ठोंक कर लोहे से, परख कर वज्र से,
प्रलयोल्का, खड्ग के निकस पर कस कर
चूर्ण अस्थिपुंज सा हँसेगा अट्टहास कौन ?

साधना पिशाचों की विखर चूर-चूर होके,
धूलि सी उड़ेगी किस दृप्त फुत्कार से।

अब एक उदाहरण रस-संकर का लीजिए—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्तांगनापांगभंगलोलं हि जीवितम्॥[1] १८ (वृत्ति)

यहां शान्त रस को अंग रूप में वर्णित करते हुए शृंगार रस की प्रस्तुति की गयी है—अतः यहां इन दोनों रसों का संकर औचित्यपूर्ण है।

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥ कु० सं० ५.१

कालिदास के इस पद्य में महादेव के अनेक नामों में से 'पिनाकी' नाम का प्रयोग औचित्यपूर्ण है, क्योंकि पिनाक (धनुष) द्वारा ही किसी वस्तु का भंग किया जा सकता है। अत. यहाँ 'नामौचित्य' है। किन्तु इसके विपरीत कालिदास का ही निम्नोक्त पद्य लीजिए—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति
यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा
भस्मावशेषं मदनं चकार॥[3] कु० सं० ३.७२

---

१. है यह सत्य कि होती मनोरम नारी
यह भी सत्य कि सम्पद् होती मनोहर है,
क्षणभंगुर यह जीवन किन्तु ऐसा—
होते चपल कटाक्ष हैं जैसे, मदमाती रमणी के।

२. कामदेव को भस्म करने वाले पिनाकी (पिनाक अर्थात् धनुष को धारण करने वाले महादेव) द्वारा जब पार्वती की मनोकामना (महादेव की प्राप्ति-रूप अभिलाषा) भग्न हो गयी तो वह हृदय से अपने रूप की निन्दा करने लगी। सत्य है कि सुन्दरता वह जो अपने प्रियजन (पति) में सौभाग्य का फल देने वाली हो।

३. अभी आकाश में देवगणों की यह वाणी हो रही थी कि 'हे प्रभो! क्रोध को छोड़िए' कि इतने में भव (महादेव) के नेत्र से उत्पन्न अग्नि ने कामदेव को जलाकर राख कर डाला।

इस पद्य में 'भव' (महादेव) का यह नाम अनुचित रूप में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि संहार के अवसर पर 'रुद्र' नाम का प्रयोग उचित था, न कि संसार के उत्पत्ति के सूचक 'भव' शब्द का।

इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य के विविध प्रकारों का विधान करते हुए यह प्रमाणित किया है कि इसका अनुधावन किए विना काव्य और नाटक दोनों में रमणीयता नहीं आती।

× × ×

इस संबन्ध में यह समस्या विचारणीय है कि (१) **क्या औचित्य को काव्य की आत्मा मानना संगत है, और इसी आधार पर (२) क्या इसे विशिष्ट सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय कहना चाहिए—**

हमारा विचार है कि औचित्य कोई अलग सिद्धान्त न होकर विभिन्न काव्यांगों को परिष्कृत एवं उपादेय बनाने का हेतु मात्र है, गुण, अलंकार, रस, आदि सभी २७ काव्य-तत्त्वों के सम्बन्ध में उनकी एक ही धारणा है कि इनका प्रयोग-औचित्यपूर्वक ही होना चाहिए। इसी के बल पर यह काव्यांग अपने यथावत् रूप में प्रस्तुत हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। निस्सन्देह क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का 'जीवित' कहा है, किन्तु यहाँ 'जीवित' शब्द आत्मा का पर्याय नहीं है, अपितु इसका तात्पर्य है किसी काव्यांग को उपादेय बनाने का हेतु। **अतः 'औचित्य' को काव्य की आत्मा मानना संगत नहीं है।**

इसी सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और रस—इन पाँच काव्य-सिद्धान्तों के प्रवर्तक एवं अनुमोदक या तो अपने मान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत अन्य काव्य-तत्त्वों को समाविष्ट करते हैं, जैसे अलंकारवादी, रीतिवादी एवं वक्रोक्तिवादी, अथवा अन्य काव्यांगों को अपने मान्य सिद्धान्त के परिपोषक रूप में स्वीकृत करते हैं, जैसे ध्वनिवादी एव रसवादी। किन्तु क्षेमेन्द्र इनमें से किसी आधार को नहीं अपनाते। वह सभी काव्यांगों को स्वीकार करते हुए केवल उनके औचित्यपूर्ण प्रयोग पर ही बल देने के पक्ष में है। **अतः औचित्य को काव्य की आत्मा अथवा कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त न मानकर सभी काव्य-तत्त्वों का उत्कर्षक तत्त्व ही स्वीकार करना चाहिए।**

क्षेमेन्द्र का परिचय

क्षेमेन्द्र कश्मीर-निवासी थे। वे ११वीं शती के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे। इन के तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—औचित्यविचारचर्चा, सुवृत्ततिलक और कविकण्ठाभरण। प्रथम ग्रन्थ में औचित्य को लक्ष्य में रखकर इन्होंने वाणी के विभिन्न

अंगों—वाक्य, गुण, रस, क्रिया, करण, लिंग, उपसर्ग, देश, स्वभाव आदि का स्वरूप निर्धारित किया है। द्वितीय ग्रन्थ में छन्द के औचित्य का निर्देश है। तीसरा ग्रन्थ कवि-शिक्षा से सम्बद्ध है। इस ग्रन्थ की ५ सन्धियों में क्रमशः कवित्व-प्राप्ति के उपाय, कवियों के भेद, काव्य के गुण तथा दोष का विवेचन है। क्षेमेन्द्र के ये ग्रन्थ लघुकाय हैं, पर इनमें काव्य के बहुविध अंगों पर प्रकाश डाला गया है।

यद्यपि 'औचित्य' कोई नया काव्य-तत्त्व नहीं है, आनन्दवर्धन 'औचित्य' शब्द को, और महिमभट्ट 'अनौचित्य' शब्द को अपने ग्रन्थों में स्थान दे आये थे, पर इसी के आधार पर समस्त वागंगों को निर्धारित कर देना क्षेमेन्द्र की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। कुछ विद्वान् औचित्य को भी काव्यशास्त्र का एक सिद्धान्त मानने लगे हैं, पर हमारे विचार में यह काव्यशास्त्रीय विधानों में से एक आवश्यक विधान है, यह कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है।

इस ग्रन्थ की हिन्दी-टीका डा० मनोहरलाल गौड़ ने प्रस्तुत की है। डा० सूर्यकान्त शास्त्री ने अंग्रेजी में 'क्षेमेन्द्र स्टडीज़' नाम से, और श्री रामपाल विद्यालकार ने हिन्दी में 'क्षेमेन्द्र की औचित्य-दृष्टि' नाम से क्षेमेन्द्र की मान्यताओं पर प्रकाश डाला है। 'औचित्य' को पृष्ठाधार बनाकर हिन्दी तथा संस्कृत में अनेक शोध-प्रबन्ध भी लिखे गये हैं।

OOO

१०.

चमत्कार-तत्त्व

'चमत्कार-चन्द्रिका' ग्रन्थ के प्रणेता विश्वेश्वर कविचन्द्र ने 'चमत्कार' नामक काव्य-तत्त्व का उक्त ग्रन्थ में निरूपण किया है। उनके कथनानुसार—

—काव्य का प्रयोजन है विधि और निषेध (करणीय और अकरणीय) की शिक्षा देना, किन्तु यह शिक्षा चमत्कार-युक्त होनी चाहिए। विद्वानों अर्थात् सहृदयों को आनन्द प्रदान करने वाला [काव्य-तत्त्व] चमत्कार कहाता है—

(क) नृणां विधौ निषेधे च शिक्षा काव्य-प्रयोजनम्।
शिक्षा च सचमत्कारं चोदिता स्थिरतां भजेत्॥

(ख) चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्। च० च०, १ म वि०, पृष्ठ २

—काव्य में चमत्कारोत्पादक निम्नोक्त सात कारण हैं—गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या और अलंकार।[1] [वस्तुतः] चमत्कार-युक्त शब्दार्थ को ही काव्य कहा जाता है—वागर्थौ सचमत्कारौ काव्यं काव्यविदो विदुः।

—चमत्कार के तारतम्य के आधार पर काव्य तीन प्रकार का है—चमत्कारी, चमत्कारितर और चमत्कारितम।

—जहां [कवि की] विवक्षा शब्द का चारुत्व दिखाना होती है वहां 'चमत्कार' काव्य होता है।

—जहां [कवि की] विवक्षा वाच्य (अर्थ) का चारुत्व दिखाना होती है, तथा जहां 'व्यंग्य' गौण रूप से निर्दिष्ट रहता है, वहां 'चमत्कारितर' काव्य होता है।

—जहां प्रत्येयार्थ अर्थात् व्यंग्यार्थ का चारुत्व होता है, वहां 'चमत्कारितम' काव्य होता है।[2]

बस, 'चमत्कार' के सम्बन्ध में केवल इतना प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया गया है। 'चमत्कार-युक्त शिक्षा' को काव्य का प्रयोजन मानते हुए ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ

---

१. च० च०, १ म वि० पृष्ठ २.

२. (क) शब्दचारुत्वतात्पर्ये चमत्कारीति कथ्यते।
(ख) वाच्यचारुत्वतात्पर्ये चमत्कारितरं मतम्।
व्यंग्यस्य च गुणीभावे तदेवाहुर्मनीषिणः॥
(ग) प्रत्येयार्थस्य चारुत्वे चमत्कारितमं मतम्।
—च० च०, ३ य वि० पृष्ठ ७३, ७४, ७७

की भूमिका बाँधी है। 'चमत्कार सहृयाह्लाद-कारी होता है'—यह चमत्कार का लक्षण दिया है, और काव्य का लक्षण चमत्कार पर आधारित करते हुए 'चमत्कार-युक्त शब्दार्थ' को काव्य कहा है, और फिर गुण, रीति आदि उक्त सात काव्य-तत्त्वों का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से इन्हें चमत्कार के उत्पादक कारण माना है, और अन्ततः, समस्त काव्य के तीन भेद इसी के तारतम्य के आधार पर प्रस्तुत कर दिये हैं कि शब्दचारुत्व (शब्दालंकारजन्य सौन्दर्य) को चमत्कारी काव्य कहते हैं, तो अर्थालंकार-जन्य सौन्दर्य को चमत्कारितर काव्य कहते हैं, साथ ही, गुणीभूतव्यंग्य काव्य का चमत्कार भी इसी दूसरे भेद के अन्तर्गत है। प्रत्येय (व्यंग्यार्थ) की प्रधानता चमत्कारितम काव्य कहाती है।

स्पष्ट है कि काव्य के इन तीनों भेदों के लिए विश्वेश्वर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों—मूलतः आनन्दवर्धन तथा उनसे प्रभावित मम्मट—के ऋणी हैं, किन्तु कुछ अन्तर के साथ। उन्होंने काव्य के तीन भेद माने हैं—ध्वनि-काव्य, गुणीभूतव्यग्य काव्य और चित्रकाव्य। चित्रकाव्य के अन्तर्गत शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का सौन्दर्य ग्रहण किया जाता है। पर इन्होंने उनके अनुरूप 'ध्वनि-काव्य' को तो चमत्कारितम कहा है, किन्तु गुणीभूतव्यग्य-काव्य को, तथा साथ ही, अर्थचित्र-काव्य (अर्थालंकारों) को भी, इन्होंने 'चमत्कारितर' कहा है, और केवल शब्द-चित्र को 'चमत्कारी' कहा है। गुणी-भूतव्यंग्यकाव्य के आठ भेद वही गिनाये गये हैं जोकि आनन्दवर्धन और मम्मट ने माने हैं। ग्रंथकार ने आनन्दवर्धन के प्रभाव को तो स्पष्टतः स्वीकार भी किया है। काव्य के तीनों भेदों के प्रतिपादन के उपरान्त चमत्कारितम काव्य (ध्वनि-काव्य) के विभिन्न भेदों का स्वयं उल्लेख न करके यह लिखा है कि इसका भेद-प्रपंच ध्वन्यालोक आदि ग्रंथों में देखना चाहिए—**अत्र भेदप्रपञ्चश्च ध्वन्यालोकादिग्रन्थेषु द्रष्टव्यः।**

अब 'चमत्कार' के संबंध में कुछ तथ्य लीजिए।[1] डा० वी. राघवन के कथनानुसार[2] 'रस' के समान 'चमत्कार' शब्द भी पाकशास्त्र से आया प्रतीत होता है।

---

१. द्रष्टव्य : Some Concepts of Alamkāra shāstra (V. Raghavan) : Camatkāra

2. It is a striking coincidence, that like the concept of Rasa, the concept of Camatkāra also came into Alainkārashāstra from the Pākashāstra. × × × ×. It appears to me that originally the word Camatkāra was an onomatopoic word referring to the clicking sound we make with our tongue when we taste something snappy, and in the course of its semantic enlargements, Camatkāra came to mean a sudden Fillip relating to any feeling of a pleasurable type.

—S.C.A. Sh., Page 269.

चमत्कार शब्द ध्वन्यात्मक है। स्वादिष्ट भोजन खाने के बाद हम जो चटखारे लेते हैं, उसी से इस शब्द की उत्पत्ति हुई है, फिर अर्थविस्तार के बल पर यह शब्द धीरे-धीरे किसी भी प्रकार के आनन्द का वाची बन गया। विश्वेश्वर से पूर्व काव्यानन्द के अर्थ में संभवतः सर्वप्रथम 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में किया है, और इनके उपरान्त कुन्तक ने। इनके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने भी ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में अनेक स्थलों पर किया है। इनके उपरान्त क्षेमेन्द्र ने तो अपने छोटे से ग्रन्थ कविकण्ठाभरण की तृतीय संधि में चमत्कार के निम्नोक्त दस भेदों का सोदाहरण प्रतिपादन किया है—अविचारितरमणीय, विचार्यमाण-रमणीय, समस्तसूक्तव्यापी, सूक्तैकदेशदृश्य, शब्दगत, अर्थगत, शब्दार्थगत, अलंकारगत, रसगत और प्रख्यातवृत्तिगत।

इधर विश्वेश्वर के उपरान्त साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के कथनानुसार धर्मदत्त नामक आचार्य ने 'चमत्कार' को रस का सार बताते हुए सभी रसों में चमत्कार के पर्यायवाची 'अद्भुत रस' की स्थिति स्वीकार की है, तथा विश्वनाथके प्रपितामह नारायण नामक आचार्य ने इसी कारण अद्भुत को एकमात्र रस माना है—

(क) रसे सारः चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः॥

(ख) तस्माद् अद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्। सा० द० ३.६ वृत्ति

किन्तु अद्भुत रस को चमत्कार का पर्याय मानते हुए उसे सर्वव्यापी अथवा एकमात्र रस स्वीकार करना समुचित नहीं है। 'चमत्कार' अथवा अद्भुत तत्त्व की सत्ता निस्संदेह सभी रसों में रहती है, किन्तु इसे किसी विशिष्ट रस का नाम देकर सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान करना एक ओर अद्भुत तत्त्व (चमत्कार), और दूसरी ओर अद्भुत रस—इन दोनों के स्वरूप में अव्यवस्था उत्पन्न करना है। संभवतः यही कारण है कि उक्त दोनों उद्धरणों को प्रस्तुत करते हुए भी स्वयं विश्वनाथ ने मानों उक्त मान्यता से असहमति प्रकट करते हुए 'चमत्कार' को 'चित्त-विस्तार' और 'विस्मय' का पर्याय माना है—**चमत्कारः चित्त-विस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः।** (सा०द०३.६, वृत्ति)। इनके उपरान्त पंडितराज जगन्नाथ ने अपने काव्य-लक्षण-प्रसंग में 'चमत्कार' को 'लोकोत्तर आह्लाद' का पर्याय माना है जो कि हमें काव्यों की रमणीयता से प्राप्त होता है—

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रमणीयता = लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतः चमत्कारापरपर्यायः अनुभवसाक्षिको जातिविशेषः। —रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृष्ठ ६

अब मूल विषय पर आएं। विश्वेश्वर ने संभवतः अपने पूर्ववर्ती आनन्दवर्धन और क्षेमेन्द्र दोनों के ग्रन्थों में 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग 'काव्य-सौन्दर्य' के अर्थ में देखकर इस तत्त्व को उभारने का प्रयास किया है। साथ ही यह भी प्रतीत होता है, बल्कि स्पष्टतः ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार आनन्दवर्धन-सम्मत 'ध्वनि' की तुलना में किसी अन्य काव्यांग—चमत्कार—को काव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते हुए इस तत्त्व की, और शायद 'चमत्कार सिद्धान्त' की भी, स्थापना करना चाहते थे, परन्तु प्रतिभा के अभाव में वह यह सब नहीं कर सके। इस प्रकार की क्षमता निस्सन्देह 'वक्रोक्ति-जीवित, के प्रणेता कुन्तक में थी, जिन्होंने वक्रोक्ति के ६ प्रमुख भेदों तथा उनके ४१ उपभेदों के आधार पर समस्त काव्य-वक्रता (काव्य-सौन्दर्य) का ताना-बाना बुना और वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना की। वह समग्रतः सफल नहीं हो सके, यह एक अलग प्रश्न है। किन्तु इधर विश्वेश्वर ने चमत्कार के सम्बन्ध में कोई नूतन धारणा प्रस्तुत नहीं की। इस ग्रन्थ के नाम से तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि इसमें विश्वेश्वर ने भामह, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक के समान किसी नूतन सिद्धान्त—चमत्कार-सिद्धान्त—का प्रवर्तन करते हुए नूतन उद्भावनाओं की सृष्टि की होगी, किन्तु इस ग्रन्थ का आद्योपान्त अध्ययन करने के पश्चात् 'चमत्कार' के सम्बन्ध में कोई विशिष्ट सामग्री हाथ नहीं लगती।

अन्य उद्भावक आचार्यों के समान यदि ग्रन्थकार चाहते तो संस्कृत के प्रख्यात काव्यों एवं नाटकों के आधार पर चमत्कार के नूतन भेदोपभेद और उनके उदाहरण प्रस्तुत कर सकते थे, और न सही तो, क्षेमेन्द्र द्वारा स्वीकृत उक्त दस चमत्कार-भेदों के नूतन उदाहरण प्रस्तुत कर सकते थे, किन्तु इन्होंने इन भेदों का उल्लेख तक न करते हुए गुण, रीति, रस आदि सात तत्त्वों को—जो कि शताब्दियों से प्रतिपादित होते चले आते थे—'चमत्कार का कारण' निर्दिष्ट किया है। स्पष्टतः, इसका कारण यह है कि विश्वेश्वर इन सातों को लक्ष्य में रखकर, मात्र इन्हीं के आधार पर, अपने ग्रन्थ की रचना करना चाहते थे, अथवा यों कहिए कि वह इन्हीं काव्यांगों का प्रतिपादन इस ग्रन्थ के माध्यम से करना चाहते थे। इस प्रतिपादन में भी वह प्रायः गूढ़ एवं विवादास्पद स्थलों से बचे हैं। इनका सामान्य-सा लक्षण देने के बाद; इन्होंने इनके भेद और उनके उदाहरण प्रस्तुत कर दिये हैं। वृत्ति में इन लक्षणोदाहरणों का समन्वय अवश्य प्रस्तुत किया गया है।

यहां यह भी उल्लेख्य है कि यद्यपि ग्रन्थकार ने काव्य का लक्षण 'चमत्कार' पर आधारित किया है, किन्तु उन्होंने न तो ग्रन्थारम्भ में चमत्कार के स्वरूप-निर्देश में, न उक्त सातों काव्यांगों के निरूपण के बाद, और न ही कहीं अन्यत्र आनन्दवर्धन अथवा वामन के समान स्व-सम्मत 'चमत्कार' को काव्य की आत्मा रूप में घोषित किया है। उनके लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष बाद सन् १९२७ में यह संकेत हरिप्रसाद ने अपने

'काव्यालोक' ग्रन्थ में किया—विशिष्टशब्दरूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः ।[1]

इस प्रकार विश्वेश्वर-कविचन्द्र द्वारा प्रणीत 'चमत्कार-चन्द्रिका' ग्रन्थ कुल मिलाकर किसी नूतन सिद्धान्त का प्रवर्तन करने के स्थान पर एक सामान्य कोटि का संग्रह-ग्रन्थ बन गया है, जो कि अधिकांशतः भोजराज-कृत 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पर आधारित है। सत्य तो यह है कि इस ग्रन्थ में प्रणेता का प्रमुख उद्देश्य किसी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का निर्माण करना था भी नहीं। वस्तुतः, उनका प्रमुख उद्देश्य था अपने आश्रयदाता सिंग-भूपाल का स्तुति-गान करना, और इसमें विचित्रता एवं विभिन्नता लाने के उद्देश्य से उन्होंने काव्यशास्त्र का आधार ग्रहण किया है—अपने इस उद्देश्य में वे निस्सन्देह सफल हुए हैं।

00

विश्वेश्वर कविचन्द्र और उनका 'चमत्कार-चन्द्रिका' ग्रन्थ

विश्वेश्वर-कविचन्द्र-कृत 'चमत्कारचन्द्रिका' ग्रन्थ एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें आठ विलास हैं। इसके प्रायः सभी उदाहरणों में उन्होंने सिंगभूपाल नामक राजा की स्तुति प्रस्तुत करते हुए यह ग्रन्थ उन्हें समर्पित किया है। सिंगभूपाल रेचर्ल-वंश से सम्बद्ध थे। इस वंश में तीन सिंगभूपाल हुए—जैसा कि 'वेलुगोटिवारिवंशचरित्र' नामक ग्रन्थ में दी हुई वंशावली से प्रतीत होता है। विश्वेश्वर 'सिंगभूपाल द्वितीय' के आश्रित कवि थे, जोकि आन्ध्र में संभवतः गोमती नदी के निकटवर्ती किसी भूभाग के शासक थे। सिंगभूपाल द्वितीय ने 'रसार्णवसुधाकर' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। 'चमत्कार-चन्द्रिका' और 'रसार्णवसुधाकर'—इन दोनों ग्रन्थों में एक दूसरे से अनेक स्थल उद्धृत किये गये हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल १३८०-१४०० ईस्वी के बीच माना जा सकता है। यहां यह उल्लेख्य है कि 'अलंकार-कौस्तुभ' ग्रन्थ का प्रणेता विश्वेश्वर 'चमत्कारचन्द्रिका' ग्रन्थ के प्रणेता विश्वेश्वर से भिन्न है। प्रस्तुत ग्रन्थकार १४ वीं शती ई० का है किन्तु अलंकार-कौस्तुभकार विश्वेश्वर १८ वीं शती का।[2]

000

---

१. यह ग्रन्थ (श्रीमती) पन्दिरि सरस्वतीमोहन द्वारा सम्पादित तथा 'मेहरचन्द लछमनदास' दिल्ली-६ द्वारा सन् १९७२ में प्रकाशित हुआ है।

२. विशेष विवरण के लिए देखिए—उक्त ग्रन्थ का भूमिका-भाग, तथा 'काव्यशास्त्र के परिदृश्य' नामक ग्रन्थ में हमारा लेख।

११. लक्ष्य और लक्षण-ग्रन्थ तथा समीक्षा-शैलियाँ

लक्ष्य-ग्रन्थों और लक्षण-ग्रन्थों में पारस्परिक सम्बन्ध

[१]

संस्कृत में काव्य-समीक्षा-पद्धति की विभिन्न शैलियों पर प्रकाश डालने से पूर्व इस विषय की चर्चा करना अपेक्षित है कि लक्ष्य-ग्रन्थों (काव्य, नाटक आदि ग्रन्थों) और लक्षण-ग्रन्थों (काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों) में परस्पर क्या सम्बन्ध है। संस्कृत-काव्य-समीक्षा का प्रमुख आधार है—काव्यशास्त्र। इस शास्त्र की ठीक वही स्थिति है जो कि व्याकरण-शास्त्र की है। यदि भाषा के पश्चात् व्याकरण की रचना होती है तो काव्य, अथवा लक्ष्य-ग्रन्थों (गद्य, पद्य, चम्पू, नाटक) की रचना के पश्चात् ही काव्यशास्त्र की रचना संभव होती है। यह अनुमान लगा लेना सहज-संभव है कि अनेक विद्वद्गोष्ठियों में वैदिक साहित्य के अतिरिक्त रामायण, महाभारत और संभवतः अनेक पुराणों और उपपुराणों के काव्य-सौन्दर्य को लक्ष्य में रखकर ही काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों का निर्धारण तथा उनका नामकरण एवं प्रतिपादन किया जाता रहा होगा। समीक्षण करते समय काव्य में दोषों का मिलना भी एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, अतः समीक्षकों द्वारा काव्य-दोष का भी प्रतिपादन किया जाना नितान्त स्वाभाविक है।

काव्यशास्त्र का प्रारम्भ कैसे हुआ इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। वेदों में, विशेषतः ऋग्वेद में, ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनमें विविध अलंकारों, विशेषतः उपमा अलंकार का, चमत्कार निहित है,[1] और उपमा शब्द का प्रयोग अलंकार के सन्दर्भ में यास्क-प्रणीत 'निरुक्त' में मिलता है,[2] तथा पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में

---

१. देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ ९ 'जायेव पत्य···।'

२. अथात उपमाः। 'यदतत् तत्सदृशम्' इति गार्ग्यः। तदासां कर्म—(क) ज्यायसा वा गुणेन, प्रख्याततमेन वा कनीयासं वाऽप्रख्यातं वोपमिमीते। अथापि कनीयसा ज्यायांसम्।······(निरुक्त ३.१३)
अर्थात् गार्ग्य के अनुसार 'जो वह (उपमान) नहीं है, उस (उपमेय) जैसा है'

भी अनेक सूत्रों में 'उपमा' के विविध तत्त्वों का स्पष्टत: उल्लेख है।[1]

काव्य-समीक्षा का आरम्भ भरतमुनि-प्रणीत नाट्यशास्त्र से माना जाता है। यद्यपि नाट्यशास्त्र मूलत: काव्य के एक अंग 'नाट्य' की समीक्षा से संबंधित ग्रन्थ है, किन्तु इसमें नाट्येतर विभिन्न काव्य-रूपों की समीक्षा से सम्बद्ध काव्य-तत्त्वों का भी उल्लेख है। जैसे—उपमा, रूपक, दीपक और यमक, इन चार अलंकारों के अतिरिक्त दस गुणों और दस दोषों का इसमें प्रतिपादन है, रस-विषयक सामग्री तो प्रचुर और स्वच्छ रूप में विवेचित हुई है तथा नायक-नायिका-भेद का भी इसमें निरूपण किया गया है।[2] अस्तु ! नाट्यशास्त्र से पूर्व अनेक नाटकों एवं काव्यों के अतिरिक्त नाट्य से संबंधित विविध तत्त्वों एवं ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। वाल्मीकि-रामायण और महाभारत में नट, नर्तक, नाटक, शैलूष (अभिनेता) और उनकी स्त्रियों (अभिनेत्रियों) तथा सूत्रधार का उल्लेख है,[3] और महाभारत में 'कौबेर-रम्भाभिसार' नामक नाटक के खेले जाने का।[4] पाणिनि (चौथी शती ई० पू०) ने अष्टाध्यायी में दो नट-सूत्रों (नाट्यशास्त्रों) का उल्लेख किया है, जिनके प्रणेता शिलालिन् और कृशाश्व थे।[5] एक श्लोक से विदित होता है कि पाणिनि ने 'जाम्बवती-विजय' अथवा 'पाताल-विजय'

वहाँ उपमा होती है। [इसके विविध रूप हैं—] किसी श्रेष्ठ गुण से, अथवा अत्यन्त प्रसिद्ध [किसी कर्म या व्यक्ति] से किसी हीन गुण अथवा अप्रसिद्ध [कर्म या व्यक्ति] की समानता बतायी जाती है।......

१. (क) **उपमानानि सामान्यवचनैः**। अष्टा० २.१.५५
(ख) **उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे**। अष्टा० २.१.५६
(ग) **उपमानं शब्दार्थप्रकृतावेव**। अष्टा० ६.२.८०
(घ) **उपमानादप्राणिषु**। अष्टा० ५.४.९७

२. नाट्यशास्त्र १७वाँ अध्याय

३. (क) **नाराजके जनपदे प्रकृष्टनटनर्तकाः**। रामायण २.६७.१५
(ख) **वादयन्ति यथा शान्ति लासयन्त्यपि चापरे।**
नाटकान्यपरे प्राहुर्हास्यानि विविधानि च॥ रामायण २.६.९४
(ग) **शैलूषाश्च तथा स्त्रीभिर्यान्ति**........। रामायण २.८३.१५
(घ) **इत्यब्रवीत् सूत्रधारः सूतः पौराणिकस्तथा**। महाभारत १.५१.१५
(ङ) **आनर्ताश्च तथा सर्वे नटनर्तकगायकाः**। महाभारत २.१५.१३

४. महाभारत, हरिवंश पर्व, ९१ ९७ अध्याय

५. (क) **पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः।**
(ख) **कर्मन्दकृशाश्वादिनिः**। अष्टा० ४.३.११०,१११

नामक एक काव्य (अथवा नाटक) की रचना की थी।[1] पतञ्जलि (१५० ई० पू०) ने 'कंसवध' और 'वलिवन्ध' नामक दो नाटकों के खेले जाने का उल्लेख किया है।[2] भरत के समय के आसपास विद्यमान वात्स्यायन के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कामसूत्र' में भी कुशीलव (नर्तक, अभिनेता), प्रेक्षक आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।[3]

किन्तु उपर्युक्त सभी ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं हैं। साथ ही अधिक सम्भावना यह भी है कि इसी प्रकार की अन्य रचनाएँ भी रची गयी होंगी, जिनके बल पर नाट्यशास्त्रीय बहुविध सिद्धान्त तथा मान्यताएँ विद्वद्गोष्ठियों में वादविवाद का विषय रही होंगी, तथा आगे चलकर इन्हीं सिद्धान्तों तथा मान्यताओं को ही लक्ष्य में रख-कर अनेक काव्यों तथा नाटकों का निर्माण हो चुका होगा।

भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र से पूर्व काव्य तथा नाटक के सिद्धान्तों से सम्बद्ध कोई ग्रन्थ तो आज उपलब्ध नहीं है, पर नाट्यशास्त्र की रचना से भी पूर्व अनेक नाट्याचार्य हुए होंगे—इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश प्रतीत नहीं होती। इस संबंध में सर्वाधिक सामग्री राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्यमीमांसा में निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत की है—

तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्ण-नाभः, आनुप्रासिकं प्रचेतायनः, यमकं यमः, चित्रं चित्रांगदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालंकारिकं कुवेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारकं नन्दिकेश्वरः, दोषा-धिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमारः इति। ततस्ते पृथक्-पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयाञ्चक्रुः। इत्थंकारांञ्च प्रकीर्णत्वात् सा किंचिद् उच्चिच्छिदे।

—काव्यमीमांसा, प्रथम (अध्याय)

पर उक्त सूची पर न तो सम्पूर्णतः विश्वास किये बनता है और न अविश्वास किये, क्योंकि इसमें कुछ आचार्यों के नाम ऐसे प्रतीत होते हैं मानो विभिन्न काव्य-तत्त्वों के नाम पर ही इनका नाम रख दिया गया हो। जैसे—उक्तिगर्भ ने 'औक्तिक' नामक काव्यतत्त्व की रचना की, यम ने 'यमक' की, चित्रांगद ने 'चित्र' की, शेष ने

---

१. नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं काव्यम जाम्बवतीजयम्। —काव्यमीमांसा
स्वस्ति पाणिनये तस्मै येन रुद्रप्रसादतः।
आदौ व्याकरणं प्रोक्तं ततो जाम्बवतीजयम्॥ (पाठान्तर)

२. ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च वलिं वन्धयन्तीति।
—महाभाष्य ३.२.१११

३. कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। —कामसूत्र १.४.२८-३१

'शब्द-श्लेष' की, औपकायन ने औपम्य की, आदि। उक्त सूची में कुछ नाम अवश्य सत्य होंगे, संभवतः इनमें से कुछ-एक ने ग्रन्थों का प्रणयन भी किया हो—और इस स्वीकृति का एकमात्र कारण है भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र का बहुत बड़ा कलेवर और उसमें प्रस्तुत वर्ण्य विषयों एवं विभिन्न पक्षों की शताब्दियों से विकसित सामग्री, जो इसे अपने विषय का आदिम ग्रन्थ मानने में बाधक सिद्ध होती है।

नाट्यशास्त्र के बाद भामह-पर्यन्त (छठी शती ई०)—लगभग आठ-नौ सौ वर्ष तक यद्यपि अनेक काव्याचार्यों का नामोल्लेख किया जाता है[1], किन्तु उनके ग्रन्थ किन्हीं कारणों से उपलब्ध नहीं होते। रचना न हुई हो—यह मान लेना संगत प्रतीत नहीं होता।

[२]

नाट्यशास्त्र में अलंकारों, गुणों एवं दोषों के लक्षण तो प्रस्तुत किये गये हैं, पर उनके उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये गये। इसका एक कारण यह हो सकता है कि यह ग्रन्थ मूलतः नाट्य से सम्बद्ध था, अतः इनका संक्षिप्त प्रतिपादन करने के उद्देश्य से ही उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये गये। दूसरा कारण यह है कि सुबुद्ध पाठक इनके लक्षणों के आधार पर उदाहरण स्वयं ढूंढ सकते हैं।

लगभग उक्त स्थिति भामह और दण्डी (६ठी-७वीं शती) की भी है, जिन्होंने स्वरूप-निर्देश के पश्चात् प्रायः स्वनिर्मित उदाहरण दिये हैं, किन्तु ये उदाहरण काव्य-चमत्कार की दृष्टि से नगण्य हैं। इन दोनों आचार्यों का ध्यान इस बात पर रहा है कि जिस काव्य-तत्त्व का यह उदाहरण है, उस पर यह सटीक उतर आए। भामह और दण्डी के समय तक यद्यपि अश्वघोष, कालिदास और संभवतः भारवि द्वारा महाकाव्यों की रचना की जा चुकी थी, फिर भी, इन दोनों आचार्यों ने इन ग्रन्थों से उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये। यही स्थिति उद्भट की भी है। वामन और रुद्रट ने संभवतः विभिन्न काव्य-ग्रन्थों से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[2] पर वे संख्या में बहुत ही कम हैं। प्रायः इनमें उदाहरण इनके स्वनिर्मित ही हैं।

भामह और दण्डी ने महाकाव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। इन लक्षणों से प्रतीत होता है कि इनका आधार रामायण और महाभारत के अतिरिक्त ग्रन्थ भी

---

१. जैसे (१) **मेधावी**, जिसका उल्लेख भामह ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार में दो स्थानों पर किया है—२. ४०, २.८८। (२) **धर्मकीर्ति** तथा (३) **विष्णुधर्मोत्तरपुराणकार**। इन तीनों के सम्बन्ध में देखिए पी० वी० काणे कृत 'संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास' (१९६० संस्करण), पृष्ठ ७९-८२

२. उदाहरणार्थ—वामन के ग्रन्थ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में मृच्छकटिक से दो पद्य उद्धृत हैं—१.९, २, ६

अनेक महाकाव्य हैं। भरत ने केवल चार अलंकारों का निरूपण किया था, किन्तु भामह ने ३६, दण्डी ने ३५, उद्भट ने ४० और रुद्रट ने ५२ अलंकारों का निरूपण किया। भरत ने जो दस गुण गिनाये थे, दण्डी ने, और आगे चलकर वामन ने भी, वही दस गुण माने हैं, किन्तु तीनों आचार्यों द्वारा प्रस्तुत इनके स्वरूप में कहीं थोड़ा और कहीं अधिक अन्तर है। इसी बीच भामह द्वारा प्रतिपादित गुण इन तीनों आचार्यों से नितान्त भिन्न हैं। भरत, दण्डी और वामन ने दस दोष माने थे, और भामह ने ग्यारह। भामह-सम्मत गुणों में से कुछ-एक में नाम-साम्य होते हुए भी स्वरूप में पूरी समानता नहीं है। इसी प्रकार भामह-सम्मत वैदर्भ और गौडीय नामक दो काव्य-प्रकारों, दण्डि-सम्मत वैदर्भ और गौड नामक दो काव्य-मार्गों, और वामन-सम्मत वैदर्भी, गौडीया नामक दो रीतियों में नाम-साम्य होते हुए भी किसी भी रूप में स्वरूप-साम्य नहीं है।

यह सब दिखाने का हमारा प्रयोजन यह है कि महाकाव्य का लक्षण, अलंकारों की उत्तरोत्तर वर्धमान संख्या, गुण एवं दोष के भेदों के लक्षण में उत्तरोत्तर विभिन्नता तथा 'वैदर्भ' और 'गौड' में स्वरूप-विभिन्नता इस तथ्य का तो निःसन्देह प्रमाण है कि काव्य-ग्रन्थों को लक्ष्य में रखकर ही काव्याचार्यों ने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण किया, किन्तु उनका उद्देश्य विभिन्न काव्य-ग्रन्थों की समीक्षा करना नहीं था।

आनन्दवर्धन के समय में वस्तुस्थिति पर्याप्त बदल गयी। उन्होंने अपने ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादन में प्रायः उदाहरण विभिन्न काव्य-ग्रन्थों से प्रस्तुत किये हैं। इनके समय तक अश्वघोष, कालिदास, भारवि, बाणभट्ट, शूद्रक और हर्ष जैसे प्रसिद्ध लेखकों का उदय हो चुका था। आनन्दवर्धन के बाद राजशेखर, धनंजय, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोजराज, मम्मट, रुय्यक, और विश्वनाथ जैसे प्रख्यात काव्याचार्यों ने भी प्रायः उदाहरण विभिन्न काव्यों तथा नाटकों से लिये हैं। यही कारण है कि अब अलंकारों और दोषों की संख्या में तो वृद्धि हुई ही, इनके भेदोपभेद भी उत्तरोत्तर बढ़ते चले गये। अप्पय्यदीक्षित (१७वीं शती) ने १२४ अलंकारों तथा उनके लगभग ३५० भेदोपभेदों का निरूपण किया। मम्मट ने ७० से भी अधिक दोषों को पाँच वर्गों में विभक्त करते हुए इनका प्रतिपादन किया। इसी बीच अलंकारों की वर्द्धमान संख्या में रोक लगाने के भी प्रयास हुए। इस दिशा में कुन्तक, जयदेव और जगन्नाथ के नाम उल्लेख्य हैं, तथा कतिपय दोषों को भी अस्वीकृत किया गया—उदाहरणार्थ, मम्मट ने अलंकार-दोषों की अस्वीकृति की। इसी प्रकार मम्मट ने वामन-सम्मत बीस गुणों को अस्वीकार करते हुए आनन्दवर्धन की मान्यता के अनुरूप तीन गुणों की स्वीकृति की। पर यह सब काव्य की समीक्षा को लक्ष्य में रखकर नहीं, अपितु काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के व्यवस्थापन को लक्ष्य में रखकर किया गया।

अब आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त को लें। इन्होंने स्वसम्मत 'ध्वनि' नामक काव्यतत्त्व के तारतम्य के आधार पर पहले समस्त काव्य को प्रमुख तीन भेदों

में बाँटा। फिर प्रथम भेद 'ध्वनि-काव्य' के दो भेद किये जो कि अभिधा और लक्षणा पर आधारित हैं, फिर उन दोनों के पाँच प्रमुख भेद हैं।[1] फिर इनके उपभेद हैं, और फिर परस्पर गुणन-प्रक्रिया द्वारा इनकी संख्या १०४६४ तक जा पहुँचती हैं।

इससे बढ़कर स्थिति काव्य के दूसरे प्रमुख भेद गुणीभूतव्यंग्य की है, जिसके आठ प्रमुख भेद[2] उक्त ध्वनि-काव्य में भेदों के साथ गुणन-प्रक्रिया द्वारा हास्यास्पद संख्या—अस्सी हज़ार से ऊपर—तक जा पहुँचते हैं। वस्तुत:, यह समस्त 'भेदप्रपञ्च' सिद्धान्तत: ही प्रस्तुत किया गया है, इन सबके उदाहरण ढूंढ सकना सरल नहीं है।

ध्वनि-सिद्धान्त के ही अनुकरण पर कुन्तक ने 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' के माध्यम से पहले काव्य को छह प्रमुख भेदों में बाँटा, फिर ४१ उपभेदों में।[3] स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन और कुन्तक द्वारा प्रस्तुत ये सभी भेदोपभेद विभिन्न काव्यों एवं नाटकों में निहित काव्य-सौन्दर्य को ही लक्ष्य में रखकर निर्धारित किये गये हैं।

इसी प्रसंग में *यह भी उल्लेख्य है कि यही स्थिति दृश्य काव्य की भी है।* आठ प्रकार का रूपक और अठारह प्रकार का उपरूपक भी विभिन्न नाटक-विधाओं का वाचक है। नायक, नायिका, पीठमर्द, विदूषक, कंचुकी, दास, दासी, सखी—नाटक के इन पात्रों में से अधिकतर के भेदोपभेद किये गये हैं। नायक के उपभेदों की संख्या यदि लगभग सौ तक जा पहुँचती है तो नायिका के उपभेदों की संख्या लगभग पौने चार सौ तक। वस्तुत: मानव-प्रकृति को लक्ष्य में रखकर यह संख्या असंख्य बन सकती है। काव्याचार्यों एवं नाट्याचार्यों के सम्मुख काव्यशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण करते समय नि:सन्देश लक्ष्य-ग्रन्थ रहे हैं, और उन्होंने इनमें वर्णित नायकों तथा नायिकाओं के परीक्षण के पश्चात् इनका भेदोपभेद-प्रपंच स्थिर किया है। किन्तु केवल इन पर सन्तोष न कर उन्होंने कुछ तो मानव-स्वभाव के आधार पर, और कुछ कामशास्त्र के आधार पर भेदों की बहुत बड़ी संख्या नियत कर दी

---

१. ध्वनिकाव्य के पाँच प्रमुख भेद इस प्रकार हैं—
(१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनि-काव्य, (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि-काव्य (३) वस्तु-ध्वनि-काव्य, (४) अलंकार-ध्वनि-काव्य, (५) रस-ध्वनि-काव्य।

२. गुणीभूतव्यंग्यकाव्य के आठ प्रमुख भेद इस प्रकार हैं—
(१) अगूढव्यंग्य, (३) अपरांगव्यंग्य, (३) वाच्यसिद्ध्यंगव्यंग्य, (४) अस्फुटव्यंग्य (५) सन्दिग्धप्राधान्यव्यंग्य, (६) तुल्यप्राधान्यव्यंग्य, (७) काक्वाक्षिप्तव्यंग्य, (८) असुन्दरव्यंग्य।

३. वक्रोक्ति के छह प्रमुख भेद इस प्रकार हैं—
(१) वर्ण-विन्यास-वक्रता, (२) पद-पूर्वार्ध-वक्रता, (३) पद-परार्धवक्रता (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरणवक्रता, और (६) प्रबन्ध-वक्रता।

कर दी गयी। स्पष्ट है कि इन सबके उदाहरण काव्यों और नाटकों के सम्पूर्ण साहित्य से भी उपलब्ध नहीं किये जा सकते।

इस प्रकार काव्यशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के परीक्षण से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि काव्याचार्यों का लक्ष्य किसी एक विशिष्ट ग्रन्थ की, अथवा उसके अंश की, अथवा किसी एक वर्ग से सम्बद्ध ग्रन्थ-समूह की आद्योपान्त समीक्षा करना नहीं है। इन ग्रन्थों से वस्तुतः कवियों एवं नाटककारों का मार्ग-निर्देशन अवश्य होता है—भले ही स्वयं काव्याचार्यों का यह प्रमुख उद्देश्य न भी रहा हो। रामायण और महाभारत की रचना के बाद काव्यशास्त्रीय विवेचन विद्वद्-गोष्ठियों में प्रचलित हो चला होगा। भरत से पूर्व भी इस विषय से कतिपय ग्रन्थों की रचना हो जाना अप्रत्याशित नहीं है, जो कि अद्यावधि उपलब्ध नहीं हैं। काव्यशास्त्र-विषयक इन मौखिक विवेचनों अथवा ग्रन्थों के बाद अनेक एवं बहुविध काव्यों तथा नाटकों की रचना पर उक्त विवेचनों अथवा ग्रन्थों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। अश्वघोष और कालिदास की रचनाएं स्पष्टतः यह द्योतित करती हैं कि उक्त दोनों कवि काव्यशास्त्रीय सामग्री से पूर्णतः अभिज्ञ थे। महाकाव्य का लक्षण इन दोनों द्वारा रचित महाकाव्यों पर घटित होता है। कालिदास के नाटक स्पष्टतः विभिन्न नाट्यविधानों की सरणी का अवलम्ब ग्रहण किये हैं। इनसे परवर्ती भास, दण्डी, भारवि, माघ, भास, सुबन्धु, बाणभट्ट, आदि सभी कवियों, गद्यकारों एवं नाटककारों की रचनाओं पर तो काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का स्पष्ट प्रभाव है ही। इस प्रकार काव्यशास्त्र का लक्ष्य यद्यपि किसी काव्य-विशेष की 'समीक्षा' प्रस्तुत करना नहीं है, फिर भी, इन ग्रन्थों की समीक्षा के विभिन्न रूप यत्र-तत्र—विशेषतः किसी एक काव्य-तत्त्व के लक्षण और उदाहरण के समन्वय की प्रस्तुति में—लक्षित हो जाते हैं। इस विषय पर आगे यथास्थान प्रकाश डाला जा रहा है।

संस्कृत-काव्यसमीक्षा की विविध शैलियां

जैसे कि पहले संकेत कर आये हैं, संस्कृत-काव्यसमीक्षा का मूलतः एक ही स्रोत है—टीका-साहित्य, जिसका प्रमुख लक्ष्य होता है मूल ग्रन्थों को यथासंभव हृदयंगम कराने के लिए उनकी व्याख्या करना। इन टीकाओं को **'व्याख्यात्मक समीक्षा'** कह सकते हैं। टीकाकार—आज की समीक्षा-परक शब्दावली में कहें तो समीक्षक—अपनी टीका में विवेच्य स्थल की व्याख्या कर चुकने के बाद, विभिन्न काव्यशास्त्रीय अंगों—संक्षेप में कहें तो काव्यांगों—जैसे रस, अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि-भेद आदि का निर्देश कर देता है। 'व्याख्या' के इस अंश को **'शास्त्रीय समीक्षा'** नाम दे सकते हैं।

व्याख्या के अन्तर्गत टीकाकार (समीक्षक) विवेच्य स्थल में प्रयुक्त किसी विशिष्ट वाक्य अथवा पद के बल पर और कभी-कभी तो किसी वर्ण के ही बल पर

काव्य-चमत्कार का निर्देश करता है। यद्यपि इस प्रकार की समीक्षा के लिए भी वह काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का आश्रय लेता दे, पर 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस नियम के अनुसार व्याख्या के इस अंश को **'भाषापरक समीक्षा'** कह सकते हैं।

भाषापरक समीक्षा के बहुविध रूप संभव हैं। समीक्षक कभी श्लिष्ट (अनेकार्थक) शब्द के बल पर काव्य-सौन्दर्य का संकेत करता है और कभी किसी पद अथवा वर्ण के विशेष प्रयोग के आधार पर काव्य-सौन्दर्य का उद्घाटन करता है। यह सौन्दर्योद्घाटन कभी तो रचना के किसी एक अवयव अथवा अवयवों के कोषगत अर्थ से साक्षात् सम्बद्ध होता है और कभी इन अवययों के अर्थो से परे किसी अन्य अर्थ से सम्बद्ध होता है। इन दोनों रूपों का नामकरण करना चाहें तो प्रथम प्रकार के स्थल भाषा के वाच्य अर्थ पर आधारित माने जा सकते हैं, और दूसरे प्रकार के स्थल भाषा के व्यंग्य अर्थ पर, और दूसरे प्रकार स्थलों में सौन्दर्यानुभूति के लिए समीक्षक अथवा सहृदय को अपनी कल्पना का सहारा अपेक्षाकृत अधिक लेना पड़ता है। इन दोनों रूपों पर आगे यथास्थान प्रकाश डाला गया है। यहां स्पष्टीकरण के लिए केवल दो छोटे-छोटे उदाहरण लीजिए—

मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु।[1]

— अभिज्ञान० ३. ७८

इस कथन में 'तु' ('पर हाय !') इस निपात के कारण सौन्दर्य है।

—भो लंकेश्वर, दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते।[2]

टीकाकारों के अनुसार इसमें 'लंकेश्वर' कहने से तात्पर्य है—माना कि तुम ऐश्वर्य-सम्पन्न हो, लंका के स्वामी हो, पर तेरी यह सारी नगरी ध्वंस कर दी जाएगी। 'सीता' न कहकर 'जानकी' कहने से तात्पर्य है कि—'कहां तुम महातामस राक्षस, और कहां वह परम सात्त्विक ऋषि-तुल्य राजा जनक की पुत्री ! और फिर, और कोई नहीं, स्वयं 'राम' तुम से प्रार्थना कर रहा है। यहां 'राम' कहने से तात्पर्य है—वही राम जो खर, दूषण, त्रिशरा, वाली आदि का निहन्ता है, वह स्वयं तुम्हारी भी तो यही दशा कर देगा।

---

१. उस रमणी के, प्यारे पलकों वाली रमणी के, मुख को—
लाज के मारे कांधे से चिपके सुन्दर मुख को,
मैंने उठाया ऊपर को, पर हाय ! उसे न चूम सका। (हिन्दी-रूपान्तर)

२. हे लंकापति रावण ! जनक-पुत्री को दे दो। राम स्वयं तुम से याचना कर रहे हैं।

उक्त दोनों पद्यों में से पहले पद्य में 'तु' (निपात) के प्रयोग के कारण काव्य-सौन्दर्य है, और दूसरे पद्य में 'लंकेश्वर' 'जनकजा' और 'राम'—इन संज्ञा-पदों के प्रयोग के कारण। ये चारों पद, माना कि, भाषा के अवयव हैं, पर पहले पद्य में 'तु' का प्रयोग अपने कोषगत अर्थ से आगे नहीं बढ़ पाता, पर दूसरे पद्य में 'लंकेश्वर' आदि तीन पदों का कोषार्थ से अन्य अर्थ लिये बिना सौन्दर्य-बोध नहीं हो सकता। इस प्रकार भाषापरक समीक्षा को दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं— (१) भाषा के वाच्य अर्थ पर आधारित समीक्षा, और (२) भाषा के व्यंग्य अर्थ पर आधारित समीक्षा। दूसरे रूप में, स्पष्ट है कि भाषा का वह अवयव जिस पर सौन्दर्य आधारित रहता है, नितान्त धुंधला पड़ जाता है। अतः हम केवल पहले रूप को ही 'भाषापरक समीक्षा' नाम दे रहे हैं, और दूसरे रूप को 'ऊहात्मक समीक्षा'—आप चाहें तो इसे इसी प्रकार का कोई अन्य—नाम दे सकते हैं।

संस्कृत के काव्यशास्त्री ने कवि को बार-बार चेतावनी दी है कि उसकी रचना सदोष न बनने पाए। अतः समीक्षकों ने टीकाओं में दोषों का निर्देश भी कर दिया है। इस प्रकार की समीक्षा 'दोष-निर्देशपरक' मानी जा सकती है।

इस प्रकार संस्कृतकाव्य-समीक्षा की निम्नोक्त शैलियां संभव है—

(१) व्याख्यात्मक समीक्षा
(२) शास्त्रीय समीक्षा
(३) भाषापरक समीक्षा
(४) ऊहात्मक समीक्षा
(५) दोष-निर्देशपरक समीक्षा।

अब आगे इन्हीं काव्य-समीक्षाशैलियों पर प्रकाश डाला जा रहा है।



१२. व्याख्यात्मक समीक्षा

संस्कृत-समीक्षा का वास्तविक निदर्शन काव्य-नाटकों की टीकाओं में उपलब्ध होता है। टीकाओं का प्रमुख लक्ष्य मूल पाठ का सरलार्थ करना है, जिसे वे **दण्डान्वय और खण्डान्वय** पद्धति से प्रस्तुत करते हैं, परन्तु साथ ही, टीकाकार व्याकरणशास्त्र के आधार पर शब्दों की **व्युत्पत्ति**, कभी-कभी किसी विशिष्ट शब्द की 'सिद्धि' का निर्देशक 'सूत्र', और विशेष कठिन शब्दों के अर्थ के लिए किसी कोष—विशेषतः 'अमर' अथवा 'हलायुध' कोष—के हवाले देते हैं। आवश्यकता पड़े तो **अन्तरकथाओं** को भी संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं, तथा विवेच्य विषय की पुष्टि के लिए विभिन्न दर्शनों के अतिरिक्त कामशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र आदि से **उद्धरण** प्रस्तुत करते हैं। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर **काव्य-सौष्ठव** का भी निर्देश करते चलते है।

टीकाकार दण्डान्वय और खण्डान्वय में से किसी एक पद्धति का आश्रय लेते हैं। दोनों पद्धतियों में किसी काव्य-स्थल के अन्वय (गद्य-क्रम) के अनुसार पर्यायवाची शब्द प्रस्तुत किये जाते हैं। इन दोनों में अन्तर यह है कि दण्डान्वय में समास-बद्ध पदों के खण्ड नहीं किये जाते, जबकि खण्डान्वय में खण्ड किये जाते हैं। उदाहरणार्थ—

अस्ति × × × शाश्वदगण्यपण्यविस्तारितमणिगणादिवस्तुजातव्याख्यात-रत्नाकरमाहात्म्या × × × पुष्पपुरी नाम नगरी।[1]

—दशकुमारचरित १म० उ०, १म अनुच्छेद

उक्त समासबद्ध पाठ का दण्डान्वय और खण्डान्वय लीजिए—

दण्डान्वय— × × × निरन्तरासंख्यविक्रेयप्रसारितरत्नादिद्रव्यसमूह-प्रकटितसमुद्रमहिमावती × × ×।

---

१. पुष्पपुरी नाम की नगरी ऐसी है जिसमें विक्रय के लिए निरन्तर फैलाये गये असंख्य पदार्थों—हीरे, जवाहरात आदि के समूहों—से ऐसा प्रतीत होता है कि इस नगरी की महिमा रत्नाकर (समुद्र) के समान है।

खण्डान्वय—शश्वन्निरन्तरम् अगण्यैरसंख्यैः पण्यैः विक्रेयैः विस्तारितैः विक्रेयार्थप्रसारितैः मणिगणादिवस्तुजातैस्तत्तद्द्रव्यसमूहैः व्याख्यातं प्रकटितं रत्नाकरस्य समुद्रस्येव माहात्म्यं महिमा यस्याः सा × × × ।

उपर्युक्त दोनों अन्वयों से स्पष्ट है कि दण्डान्वय की अपेक्षा खण्डान्वय अर्थ-बोध के लिए—विशेषतः, बड़े-बड़े समासबद्ध स्थलों में—अत्यधिक उपयोगी और उपादेय है।

'व्युत्पत्ति' (निर्वचन) से तात्पर्य है किसी शब्द की मूल धातु की खोज करना। जैसे—गौ (पृथ्वी, पशु) को जाना अर्थ वाली 'गम्' अथवा 'गाङ्' धातु से निष्पन्न स्वीकार किया जाता है,[१] 'अश्व' को 'अश्' धातु से, आदि।[२]

पद्यबद्ध काव्य-ग्रन्थों की टीकाओं में टीकाकार प्रायः 'अन्वय' (गद्य-क्रम) का आधार लेते हैं। इसके अनुसार सर्वप्रथम 'संबोधन' (यदि हो तो) का आख्यान किया जाता है, फिर 'कर्ता' और उसके विभिन्न 'विशेषणों' का यथावश्यक विग्रह तथा विश्लिष्ट पदों के अर्थों का निर्देश किया जाता है, फिर 'कर्म' और 'करण' (यदि हो तो)—तथा उनके विभिन्न विशेषणों का उपर्युक्त रूप से आख्यान, फिर संप्रदान, अपादान, संबन्ध, अधिकरण कारकवाचक शब्दों का उक्त रूप से आख्यान, फिर क्रियाविशेषण (यदि हो तो) का आख्यान, और अन्त में क्रिया का आख्यान किया जाता है, और इस प्रकार विवेच्य स्थल को पाठक के लिए सुगम कर दिया जाता है।

टीकाकार कभी-कभी 'कथंभूतः, कथंभूता, कथंभूतम्, कथंभूतेन, आदि, कीदृशः, कीदृशी, कीदृशं, आदि, प्रश्नों द्वारा पाठक को यह निर्देश करता चलता है कि अब वह किस पद के विशेषणों की व्याख्या करने चला है। कभी वह विशेषण प्रस्तुत करने से पहले 'विशिनष्टि' (कवि विशेषण प्रस्तुत करता है) पद का प्रयोग करता है। इनके अतिरिक्त कुतः, किमर्थम् आदि प्रयोगों के द्वारा भी व्याख्या का मार्ग सरल करने का प्रयास किया जाता है। उक्त समस्त पद्धति को सामान्यतः 'व्याख्या' कहा जाता है। अतः चाहे तो इस पद्धति को 'व्याख्यात्मक समीक्षा' कह सकते हैं।

---

१. (क) यद्धि किं च गच्छति, इमाँस्तल्लोकान् गच्छति।
(शतपथ ब्राह्मण ६.१.२.३५)

(ख) गातेर्वौकारो नामकरणः। पशुनामेह भवत्येतस्मादेव। (निरुक्त २.५)

२. यः कश्चाध्वानमश्नुवीत, अश्वः स वचनीयः स्यात्। (निरुक्त १.१३)

इस पद्धति के कुछ उदाहरण लीजिए—

दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा:, पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः।
अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥[1]

—कुमारसंभव ५.४५

टीका—दिवम् स्वर्गम् प्रार्थयसे कामयसे यदि तर्हि श्रम: तपश्चरणप्रयासः वृथा निष्फल: । यदि स्वर्गार्थ तप्यसे तत: श्रमं माकार्षी: । कुत: ? तव पितु: हिमवत: प्रदेशा: देवभूमय: स्वर्गपदार्था: तत्रत्या इत्यर्थ: । अथ उपयन्तारं वरं प्रार्थयसे तर्हि समाधिना तपसा अलं न कर्त्तव्य: इत्यर्थ: । निषेध्यस्य निषेधं प्रति करणत्वात् तृतीया । तथाहि रत्नं कर्तृ नान्विष्यति न मृगयते ग्रहीतारमिति शेष:, किन्तु तद्रत्नं मृग्यते ग्रहीतृभिरिति शेष: । न हि वरार्थं त्वया तपसि वर्तितव्यम्, किन्तु तेनैव त्वदर्थमिति भाव: ।[2]

(संजीवनी टीका : मल्लिनाथ)

कालिदास-प्रणीत कुमारसंभव के उक्त पद्य की टीका में—

—प्रत्येक पद का अर्थ तथा समासबद्ध पदों का विग्रह करते हुए मूल पाठ को मल्लिनाथ ने हृदयंगम कराने का प्रयास किया है ।

—एक स्थान पर 'कुत:' शब्द के प्रयोग द्वारा प्रश्न उत्पन्न करके विषय को स्पष्ट किया गया है ।

—'**निषेधस्य निषेधं प्रति करणत्वात् तृतीया**' इस कथन के द्वारा यह निर्दिष्ट किया गया है कि 'समाधिना अलम्' में समाधि शब्द में तृतीया विभक्ति का प्रयोग क्यों किया गया है ।

---

१. वटुक वेषधारी महादेव जी पार्वती से बोले—यदि [समाधि के द्वारा] स्वर्ग की कामना करती हो तो यह श्रम व्यर्थ कर रही हो, क्योंकि तुम्हारे पिता (हिमालय पर्वत) के सारे इलाके में देवता ही तो बसते हैं । यदि योग्य पति पाने के लिए ऐसा कर रही हो तो भी तपस्या व्यर्थ है, क्योंकि रत्न अपने किसी ग्रहीता को खोजने नहीं जाता, अपितु वह अपने ग्रहीता द्वारा खोजा जाता है ।

२. यदि स्वर्ग को चाहती हो तो तपश्चर्या का प्रयास निष्फल है । यदि स्वर्ग के लिए तप करती हो तो श्रम मत करो । क्यों ? तेरे पिता (हिमालय) की देवभूमियां स्वर्ग के पदार्थ ही तो हैं, यह आशय है । और यदि वर की कामना के लिए प्रार्थना करती हो, तो भी तपस्या नहीं करनी चाहिए । यहां तृतीया विभक्ति का प्रयोग इसलिए हुआ है कि निषेध्य निषेध के प्रति किया गया है । क्योंकि रत्न कर्ता-रूप में अपने ग्रहीता को ढूंढने नहीं जाता, अपितु ग्रहीताओं द्वारा ढूंढा जाता है । वर के लिए तुम्हें तपस्या नहीं करनी चाहिए, बल्कि उसे ही तुझे पाने के लिए तपस्या करनी चाहिए, यह आशय है ।

—'इति शेषः' के प्रयोग के द्वारा विषय के सुगम अवोध के लिए 'ग्रहीतारम्' और 'ग्रहीतृभिः' शब्दों की पूर्ति की गयी है।

—'इति भावः' से भी विषय को स्पष्ट किया गया है।

अब 'ऋतुसंहार' से दो पद्य लीजिए—

पयोधरैर्भीमगभीरनिस्वनैस्तडिद्भिरुद्वेजितचेतसो भृशम्।
कृतापराधानपि योषितः प्रियान् परिष्वजन्ते शयने निरन्तरम्॥[1]

—ऋतुसंहार २.११

टीका—भीमो भयानको गभीरो गम्भीरो निस्वनो निर्घोषो येषां तैस्तथोक्तैः। 'स्वननिर्घोषनिर्ह्लादनादनिस्वाननिस्वनाः' इत्यमरः। पयोधरैर्मेघैस्तडिद्भिः विद्युद्भिश्च भृशमत्यन्तम् उद्वेजितमुद्विग्नं चेतोऽन्तःकरणं यासां तास्तथोक्ता योषितो नार्यः। 'स्त्री योषिदवला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः। कृतोऽपराधोऽन्यायः परवनिता-निरीक्षणादिर्यैस्तान् तथोक्तानपि प्रियान् शयने निरन्तरं निरवकाशं **यथा भवति तथा** परिष्वजन्त आलिङ्गन्त इत्यर्थः।[2] **(मणिराम-कृत चन्द्रिका व्याख्या)**

इस टीका-खण्ड में खण्डान्वय-पद्धति द्रष्टव्य है, जिसमें साथ-ही-साथ मूल शब्दों के सरल पर्यायवाची शब्द भी दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ दो स्थलों पर अमर-कोष के उद्धरण दिये गये हैं। अन्तिम पंक्ति में **'यथा भवति तथा'** का प्रयोग भी द्रष्टव्य है। इस प्रकार के अनेक प्रयोगों से क्रिया-विशेषण का निर्देश कराया जाता है। इस पद्य में 'निरन्तर' क्रिया-विशेषण है।

---

१. ऋतुसंहार में वर्षा ऋतु का वर्णन—भयानक और गम्भीर निर्घोष करने वाले बादलों तथा बिजलियों से जिनका चित्त अत्यन्त उद्विग्न हो उठता है, ऐसी प्रियाएँ [परस्त्रीगमन-रूप] अपराध करने वाले भी अपने स्वामियों को सोते समय गाढ़ आलिंगन करने लगती हैं।

२. [इस वर्षा ऋतु में] भयानक, गम्भीर, निर्घोष, (शब्द) है जिनका, ऐसे। 'स्वन, निर्घोष, निह्लाद, नाद, निस्वान, निस्वन' (ये सभी पर्याय-शब्द हैं), यह अमरकोष का कथन है। बादलों और बिजलियों से उद्विग्न है अन्तःकरण जिनका, ऐसी नारियां। 'स्त्री, योषिद्, अवला, योशा, नारी, सीमन्तिनी, वधू' [ये सभी पर्याय-शब्द हैं]—यह अमरकोष का कथन है। किया है अपराध—परनारियों को देखने आदि का—जिन्होंने, इस प्रकार से कहे हुए उन अपने प्रियों का बिस्तरे पर निरन्तर आलिंगन करती हैं।

दिवसकरमयूखैर्बोध्यमानं प्रभाते वरयुवतिमुखाभं पंकजं जृम्भतेऽद्य ।
कुमुदमपि गतेऽस्तं लीयते चन्द्रबिम्बे हसितमिव वधूनां प्रोषितेषु प्रियेषु ॥[1]
—ऋतुसंहार ३.२३

टीका—प्रभाते प्रातःकाले दिवसकरस्य सूर्यस्य मयूखैः किरणैः बोध्यमानं विकाश्यमानमित्यर्थः । "स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाश्छविद्युतिदीप्तयः" इत्यमरः । पंकज कमलम् अद्य इदानीं जृम्भते शोभते । कुमुदं कैवरमपि चन्द्रबिम्बेऽस्तमस्ताचलं गते प्राप्ते सति प्रोषितेषु विदेशगतेषु प्रियेषु कान्तेषु वधूनां रमणीनां हसितमिव लीयते । क्षीणं भवतीत्यर्थः ।[2]

(मणिराम-कृत चन्द्रिका व्याख्या)

इस टीका-खण्ड में भी खण्डान्वयपद्धति तथा 'अमरकोष' का उद्धरण द्रष्टव्य है ।

अब रघुवंश का निम्नोक्त पद्य लीजिए, जिसकी टीका में टीकाकार मल्लिनाथ ने दो मुनियों के कथन उद्धृत करके कालिदास के अभिप्राय को स्पष्ट करने में सहायता पहुँचायी है—

तामर्पयामास च शोकदीनां तदागमप्रीतिषु तापसीषु ।
निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु ॥
—रघुवंश १४.८०

टीका—शोकदीनां तां सीतां तस्याः सीताया आगमेन प्रीतिर्यासां तासु तापसीषु । पितृभिरग्निष्वात्तादिभिर्निविष्टसारां भुक्तसारां हिमांशोरन्त्यामवशिष्टां कलां दर्शोऽमावस्याकाल ओषधीष्विव । अर्पयामास च । अत्र पराशरः—'पिबन्ति विमलं सोमं विशिष्टा तस्य या कला । सुधामृतमयीं पुण्यां तामिन्दोः पितरो मुने ।।' इति ।।

---

१. ऋतुसंहार में शरद् ऋतु का वर्णन—प्रातःकाल सूर्य की किरणों से जगाया हुआ (खिला हुआ) कमल-पुष्प सुन्दर युवतियों के मुख की आभा के समान शोभित हो रहा है, किन्तु उधर [बेचारा] कुमुद-पुष्प चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर ऐसे मुरझा गया है, जैसे पतियों के परदेश में चले जाने पर वधुओं के [मुख पर से] हास्य [की रेखाएं] विलीन हो जाती हैं ।

२. प्रातःकाल में सूर्य की किरणों से जगाया गया—विकसित किया गया गया, यह अर्थ है । 'प्रभा, रुक्, रुचि, त्विड्, भास्, छवि, द्युति, दीप्ति'—ये सभी पर्याय-शब्द हैं—अमर कोष । कमल अब शोभित हो रहा है । कुमुद पुष्प भी चन्द्रमा के बिम्ब के अस्ताचल में चले जाने पर ऐसे मुरझा गया है—क्षीण हो गया है, जैसे अपने प्रिय पतियों के विदेश चले जाने पर रमणियों की हंसी क्षीण हो जाती है ।

व्यासश्च—'अमायां तु सदा सोम ओषधीः प्रतिपद्यते। इति।'[1]

(मल्लिनाथ-कृत संजीवनी टीका)

उक्त पद्य का अर्थ इस प्रकार है—वाल्मीकि ऋषि ने शोक के कारण दीन बनी हुई सीता को तपोवन की तापसी महिलाओं को—जो कि सीता के आगमन से प्रफुल्लित हो उठी थीं—ऐसे सौंप दिया जैसे कि अमावस्या-रात्रि चन्द्रमा की उस अन्तिम कला को जो कि पितरों द्वारा—चन्द्रमा का अमृत पी चुकने के बाद—निस्सार बच रहती है, जड़ी-बूटियों को सौंप देती है।

मल्लिनाथ की टीका में उद्धृत पराशर और व्यास मुनियों के उक्त कथन यद्यपि पूर्णतः स्पष्ट नहीं है, फिर भी, इस पद्य के अर्थ को समझाने में पर्याप्त सहायक हैं। उक्त दोनों कथनों का समन्वित अभिप्राय यह है कि पितृगण चन्द्रमा के अमृत को धीरे-धीरे पीते रहते हैं, और अन्ततः अमावस्या की रात्रि को मात्र एक पतली-पतली सी किरण बच रहती है. और यही किरण वनस्पतियों में शरण लेकर जीवित रहती है।

अब कालिदास का उक्त पद्य लीजिए। राम के वियोग में सीता कृशकाय—दुबली-पतली सी—हो गयी है, फिर भी, तपोवन की तापसियों ने इस अनुपम चन्द्रकला को देखा तो वे अति प्रफुल्लित हो उठीं—बाग़-बाग़ हो गयीं। वाल्मीकि के आदेश से जब सीता इन तापसियों के आक्रोड में जा बसी तो उसे जीने का सहारा मिल गया—ऐसे-जैसे अमावस्या की रात्रि को चन्द्र की अन्तिम कला जड़ी-बूटियों, लता-गुल्मों में छिपी जीवन प्राप्त कर लेती है।

अब एक स्थल अभिज्ञानशाकुन्तल से—

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया समिल्लतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥[2] अभिज्ञान० १.१६

---

१. वाल्मीकि मुनि ने शोक से दीन उस सीता को, उस सीता के आगम से प्रीति हो गयी है जिन्हें उन तापसियों को। पितरों द्वारा अग्नियों में खाये गये सार वाली चंद्रमा की अन्तिम बची हुई कला को अमावस्या-काल में ओषधियों के समान अर्पित कर दिया। यहां पराशर का कथन लीजिए—[न जाने कौन] विमल अमृत को पीते हैं। हे मुनिवर! इन्दु की जो कला शेष बच रहती है, उस सुधा-अमृतमयी पुण्य [कला] को पितर पीते हैं। और व्यास का भी कथन है—अमावस्या में चन्द्रमा का 'अमृत' ओषधियों (लता-गुल्म आदि) को प्राप्त हो जाता है।

२. जो ऋषि शकुन्तला के स्वाभाविक सौन्दर्य से युक्त शरीर को तप के योग्य बनाना चाहता है तो यह ऐसे है मानो कोई नील-कमल पत्ते से किसी काष्ठ के टुकड़े को काटना चाहता हो।

टीका—इदमिति। किल इत्यरुचौ। 'किल संभाव्यवार्तयोः। हेत्वरुच्योरलीके च' इति हैमः। य इदं पुरोदृश्यमानम् अनुपमम् अव्याजमनोहरं स्वभावसुन्दरं वपुः तपःक्षमं तपःसमर्थं साधयितुं कर्तुमिच्छति। ध्रुवं निश्चितम्। स ऋषिः नीलोत्पलपत्रधारा पार्श्वदेशः। लक्षणया तैक्ष्ण्यसाम्यात् छिदिक्रियायोग्यत्वं फलम्। तया सम्मिलतां छेत्तुं व्यवस्यति प्रयतते। क्वचित् 'शमीलताम्' इति पाठः। तस्या अतिकाठिन्येन उपमेयेऽत्यन्ताऽसंभावनीयत्वं व्यज्यते। अत्र पूर्वार्धे विषमस्यैको भेदो व्यंग्यः—'क्वचिद् यदतिवैधर्म्यान्नि श्लेषो घटनामियात्, इत्युक्तेः। समस्तवाक्ये निदर्शना। 'अभवद्वस्तुसंबन्ध उपमापरिकल्पकः निदर्शना' (का० प्र० १०.६७) इत्युक्तेः, श्रुत्यनुप्रासवृत्त्यनुप्रासयोरेकवाचकानुप्रवेशः संकरः। समिल्लतामिति रूपकोपमयोः सन्देहसंकरः। साधकबाधकप्रमाणाभावात्। छेदस्य न समर्थकत्वमुभयोः साधारण्यात्। ध्रुवम् इत्युत्प्रेक्षा। वाचकत्व इति शब्दाध्याहारापत्तेः। वंशस्थं वृत्तम्। अनेन अभिप्रायरूपं भूषणमुपन्यस्तम्। तल्लक्षणं तु (सा० द० ६.१८२)—'अभिप्रायस्तु सादृश्यादभूतार्थप्रकल्पना।' इति।

(अर्थद्योतनिका टीका)

इस टीका-भाग की बहुविध विशेषताएं उल्लेख्य हैं—

—'किल' शब्द का प्रयोग सामान्यतः पादपूर्ति के लिए होता है, किन्तु टीकाकार कहते हैं कि यहां यह 'अरुचि-सूचक है, अर्थात् बड़े खेद की बात है। 'अरुचि' ऋषि कण्व के प्रति है जिसने शकुन्तला को तपस्या-कार्य में लगाने का सोच रखा है। प्रमाण के लिए हैमकोश का उद्धरण दिया गया है।

—'इदम्' (यह) शब्द से टीकाकार ने अभिप्राय लिया है —यह सामने दिखायी देता अनुपम (शरीर)।

—नीलोत्पलपत्रधारा (नीलकमल के पत्ते की धार, इस धार के होने के कारण गौणी लक्षणा से यह अर्थ ले सकते हैं—काटने योग्य आरी का 'फल'।

—समिल्लता (समित्+लता=काष्ठ-फलक) के स्थान पर 'शमीलता' पाठ को टीकाकार उपयुक्त नहीं मानते। शमी पेड़ की शाखा अति कठिन होती है, अतः यह उपमेय ठीक नहीं है। नील कमल की धार तो किसी भी काष्ठ-फलक को नहीं काट सकती। 'शमीलता' पाठ रखने का अभिप्राय यह रहता कि शमीलता को तो नहीं काट सकती, अन्य कोमल वृक्षों को काटने में समर्थ है।

—प्रथम श्लोकार्ध में विषम अलंकार का एक भेद व्यंग्य-रूप में है। जहां किन्हीं दो या दो से अधिक ऐसे पदार्थों का मेल बैठाने का प्रयत्न किया जाए जो कि परस्पर अति विधर्म (प्रतिकूल धर्म वाले) हों, वहां यह अलंकार होता है।

—पूरे पद्य में निदर्शना अलंकार है। जहां किसी असंभव वस्तु को उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के बल पर संभव बताया जाए, वहां निदर्शना अलंकार होता है।

—इस पद्य में उक्त अलंकारों के अतिरिक्त रूपक और उपमा अलंकार के कारण सन्देह-संकर अलंकार है। 'ध्रुवम्' शब्द के कारण उत्प्रेक्षा अलंकार है।

—यहां 'अभिप्राय' नामक लक्षण भी है—जहां सादृश्य के आधार पर असंभव कार्य की कल्पना की जाती है वहाँ 'अभिप्राय' लक्षण होता है : अभिप्रायस्तु सादृश्याद-भूतार्थस्य कल्पना। (सा० द० ६.१८२)

—यहां वंशस्थ छन्द है। इसका लक्षण है—'जतजर' (जगण तगण जगर और रगण, अर्थात् ।ऽ।, ऽऽ।, ।ऽ।, ऽऽ)।

अब एक पद्य कादम्बरी से—

मूल पाठ—स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपवर्ति हृदयशोकाग्नेः।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम्॥[1]

—कादम्बरी (कथामुख)

टीका—अश्रुभिर्लोचनजलैः स्नातं कृतस्नानम् हृदये चित्ते स्वपतिवियोगजनितः शोक एव अग्निर्वह्निः, तस्य समीपवर्ति अत्यन्तसन्निहितस्थायितया विगतः पतिनाशाद् दूरं गतः मुक्ताहारो मौक्तिकमाला यस्मात् तत्, भवतस्तव रिपुस्त्रीणां शत्रुवनितानां स्तनयुगं कुचयुग्मं व्रतं नियमं चरतीव अनुतिष्ठतीव। अन्योऽपि यो व्रती स कालत्रये स्नाति, होमाग्निसमीपस्थायी भवति, शास्त्रविहितमुपवासञ्च करोति। **अत्र विमुक्ता-हारमिति सभंगश्लेषः। हृदयशोकाग्नेरिति निरंगं केवलरूपकम्,** तथा **वाच्याभिमानिनी क्रियोत्प्रेक्षा चेति समुदिते ससृष्टिरलंकारः चार्या चात्र छन्दः।**

(चन्द्रकला-विद्योतिनी टीका)

इस टीका-खण्ड में सभंग-श्लेष, केवल-रूपक और संसृष्टि नामक तीन अलकारों का तथा आर्या छन्द का संकेत द्रष्टव्य है।

अब कुछ गद्य-स्थलों की व्याख्या लीजिए—सर्वप्रथम बाणभट्ट-प्रणीत श्रीहर्षचरित के टीका-भाग में से—

---

१. [हे राजा शूद्रक!] आपके शत्रुओं की स्त्रियों के पयोधर-युगल, जोकि आंसुओं से स्नान करते हैं, हृदय में [पति-वियोग के कारण उत्पन्न] शोक-रूपी अग्नि के निकट हैं, तथा मुक्ताहार धारण नहीं करते, मानो व्रत का पालन कर रहे है—(क्योंकि व्रती व्यक्ति भी तीनों काल स्नान करता है, होमाग्नि के सदा समीप रहता है, तथा आहार छोड़ शास्त्र-विहित उपवास करता है।)

मूल पाठ—जप्यमानरुद्रैकादशीशब्दायमानशिवगृहम्, अतिशुचिशैवसम्पाद्यमानविरूपाक्ष-क्षीरकलश-सहस्रस्नपनम्...।[1]

—श्रीहर्षचरित, ५ म० उ० (५७)

टीका—जप्यमानया—पठ्यमानया, रुद्रैकादश्या—**'नमस्ते रुद्रमन्यवे'** इत्यादि-यजुर्वेदोक्त रुद्राध्यायस्तुतिरूपया, शब्दायमानं—निनाद्यमानं, शिवगृहं—शिवमन्दिरं यस्मिन् तत्, **दुःसाध्यपीडादौ शिवसविधे रुद्राध्यायपाठस्य महार्त्तिप्रशमनत्वात् इति हृदयम्**। अतिशुचीति। अतिशुचिना—अतिपूतेन, शैवेन—शिवोपासकेन, सम्पाद्यमानम्—अनुष्ठीयमानं, विरूपाक्षस्य—शिवस्य [**बहुव्रीहौ—(५।४।११३ पा०) इत्यादिना षच्**] क्षीरकलशानां—दुग्ध-कुम्भानां, सहस्रेण—सहस्रसंख्यया, स्नपनम्—अभिषेचनं यस्मिन् तत्, **शैवतन्त्रविधानेन तथाविधानुष्ठानस्य उत्पातप्रशमकत्वात्** इति भावः।

(जीवानन्द-कृत अमला व्याख्या)

इस टीकाखण्ड में मोटे अक्षरों में मुद्रित स्थल द्रष्टव्य हैं—

(१) 'नमस्ते रुद्रमन्यवे' के द्वारा यजुर्वेद (१६.१) के पाठ की ओर संकेत किया गया है।

(२) 'दुःसाध्यपीडादौ...' के द्वारा 'हृदयार्णव-कोप' को उद्धृत करते हुए यह बताया गया है कि कठिन कष्टों के आ पड़ने पर शिव के चरणों में बैठकर उक्त रुद्राध्याय का पाठ करने से महद्-दुःखों की शान्ति हो जाती है।

(३) 'शैवतन्त्र-विधानेन...' के द्वारा यह बताया गया है कि शिवतन्त्र के विधान के अनुसार शिव को क्षीर-स्नान कराने में उत्पातों का प्रशमन होता है।

अब बाणभट्ट-प्रणीत कादम्बरी के कुछ स्थलों की व्याख्या लीजिए—

मूल पाठ—उपरचितपशुपतिपूजश्च निष्क्रम्य देवगृहान्निर्वर्त्तिताग्निकार्यः...।[2]

—कादम्बरी : कथामुख

टीका—उपरचिता सम्पादिता पशुपतेः महेश्वरस्य पूजा अपचितिः **'पूजा नमस्याऽपचितिः'** इत्यमरः, येन स तथाभूतः, तथा च—

---

१. ये दोनों वाक्य 'राजकुल' के विशेषण हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है—राजकुल ऐसा है जिसका शिवगृह रुद्रैकादशी ('नमस्ते रुद्रमन्यवे...' आदि यजुर्वेद के दस पाठ) के जप से मुखरित है, तथा जिसमें अति पवित्र शैवोपासक के द्वारा शिवजी को दुग्ध के घड़ों से सहस्रों बार स्नान कराया गया है।

२. अर्थात् (उसने) पशुपति (महादेव) की पूजा करके देवगृह से बाहर निकलकर अग्निहोत्र सम्पन्न किया।

असंपूज्य शिवं मोहाद्ये नरा भञ्जतेऽन्वहम् ।
सौख्यं नैवाप्नुवन्तीह भग्नाशाः पर्यटन्ति ते ॥[1]

इति निर्वर्तितं निष्पादितम् अग्निकार्यम् अग्निहोत्रादिर्येन सः 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयाद्' इति श्रुतेरग्निहोत्रस्यापि नित्यत्वाद् इत्याशयः ।

(चन्द्रकला-विद्योतिनी टीका)

इस टीका-भाग में अमरकोष के एक उद्धरण के अतिरिक्त दो उद्धरण और भी ध्यातव्य हैं—'असंपूज्य शिवं···' में पूजा की अनिवार्यता का निर्देश किया गया है, तथा 'जावज्जीवम्···' में अग्निहोत्र को जीवन-पर्यन्त सम्पन्न करने का ।

मूल पाठ—आसीदशेषनरपतिशिरःसमभ्यर्चितशासनः पाकशासन इवापरः चतुरुदधिमालामेखलाया भुवो भर्त्ता × × × चक्रवर्तिलक्षणोपेतः हर इव जितमन्मथः ××× राजा शूद्रको नाम ।

—कादम्बरी : कथामुखम्

टीका—अथ सम्प्रति कथां प्रस्तौति । आसीदिति भूतक्रियापदस्य 'राजा शूद्रको-नाम' इति दूरस्थेन कर्तृपदेन सम्बन्धः । राजानं **विशिनष्टि** अशेषेति अशेषैः समग्रैः नरपतिभिः महीपतिभिः (कर्तृभिः) शिरोभिरुत्तमांगैः (करणैः) समभ्यर्चितं सादरं गृहीतं शासनम् आदेशो यस्य स तादृशः । समस्त; जनज्ञापको न त्वाज्ञाकर इत्याशयः अतएव अपरः सुरराजाद् भिन्नो द्वितीयः पाकशासन इन्द्र इव । इन्द्रो हि पाकनामानं दैत्यं हतवान् इति पुराणी वार्ता । पाकं शासितवान् इति पाकशासनः '**विडौजः पाक-शासनः**' **इत्यमरः** । इह शासनपदावृत्त्या **यमकालंकारः**, भावाभिमानिनि वाच्या द्रव्यो-त्प्रेक्षा चेदुभयो**ः** शब्दार्थालंकारयो**रेकाश्रयप्रवेशरूपः संकरः** । अत्र हि शासनपदावृत्त्या **लाटानुप्रासो नाशंकनीयो**, शक्यार्थाभिन्नत्वे केवलं तात्पर्यतो व्यतिरेक एव तदभ्युपगमेन प्रकृते शक्यार्थस्यापि व्यतिरेकात् । ××× चक्रवर्ती सार्वभौमस्तस्य लक्षणैश्चिह्नैः सामुद्रिकशास्त्रोक्तकरतललौहित्यादिभिः उपेतो युक्तः । तथा चोक्तं सामुद्रिकरहस्ये—

अतिरिक्तः करो यस्य ग्रथितांगुलिको मृदुः ।
चापांकुशांकितः सोऽपि चक्रवर्ती भवेद् ध्रुवम् ॥

हरति पापं यः सः हरो महेश्वरः तद्वद् हर इव जितः पराभूतः मन्मथः कन्दर्पः येन स तथोक्तः एकत्र भाललोचनाग्निना नामशेषकरणात्, अन्यत्रात्यन्तलावण्यवत्त्वाद् इत्याशयः । उभयोः पूर्णसाम्यात् पूर्णोपमालंकारः ।

(कादम्बरी : चन्द्रकला टीका)

---

१. संकटावस्था में जो लोग शिव-पूजा न करके प्रतिदिन खा-पी लेते हैं, वे कदापि सुख प्राप्त नहीं करते, तथा वे निराश होकर इधर-उधर भटकते रहते हैं ।

इस टीका-भाग में भी उपर्युक्त टीकाकार ने प्रत्येक पद का अर्थ, समासबद्ध पदों का विग्रह प्रस्तुत करने के अतिरिक्त अमरकोष और सामुद्रिक शास्त्र से अभीष्ट उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, तथा साथ ही, कतिपय अलंकारों का भी यथास्थान निर्देश कर दिया है। इस व्याख्या में **'विशिनष्टि'** तथा **'इत्याशयः'** पद भी ध्यातव्य हैं।

× × ×

इस प्रकार इस व्याख्या-पद्धति के माध्यम से टीकाकार का प्रमुख उद्देश्य मूल स्थल को समझा देना ही होता है। इसके अतिरिक्त वह टीकाओं में काव्यसौष्ठव का भी निर्देश करता है, जिसका प्रचलित प्रकार यह है कि अलंकारों का नाम तथा उनका समन्वय कर दिया जाए। 'अलंकार' के अतिरिक्त टीकाकार शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुण और रीति तथा साथ ही रस का भी यथावत् संकेत कर देते है, तथा इनके अतिरिक्त काव्य-दोषों को भी दिखाते चलते हैं। इस विषय पर 'शास्त्रीय समीक्षा' नामक अगले अध्याय में प्रकाश डाला जा रहा है।

□□□

१३. शास्त्रीय समीक्षा [भाग : १]

[१]

काव्यशास्त्रीय मान्यता के अनुसार रस-चर्वणा की सिद्धि वहां स्वीकृत की जाती है जहां रस के तीनों उपकरण—विभाव, अनुभाव और संचारिभाव विद्यमान हों, किन्तु यदि इनमें से केवल किसी एक उपकरण अथवा दो उपकरणों का परिपक्व रूप में वर्णन हो तो शेष दो उपकरणों अथवा एक उपकरण का अध्याहार सहृदय स्वतः कर लेते हैं, और परिणामतः, इन्हें रसास्वाद की प्राप्ति हो जाती है। पहले एक पद्य लीजिए जिसमें तीनों उपकरण विद्यमान हैं—

गाढालिंगनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा ।
मा मा मानद माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥

—साहित्यदर्पण ७.२७ (वृत्ति), अमरुकशतक ४०

नायक अपनी नायिका के रति-जन्य आनन्द का वर्णन अपने किसी मित्र से कर रहा है—"गाढ़ आलिंगन के कारण उसके स्तन दब गये थे और वह रोमांचित हो उठी थी। घने स्नेह-रस के आधिक्य के कारण उसके नितम्ब से वस्त्र खिसकने लगा था। वह इस प्रकार के टूटे-फूटे वचन—'प्रिय, नहीं, नहीं, मुझे अधिक नहीं, बस-बस...' कहती हुई निश्चेष्ट हो गयी। [और मैं सोचता रह गया कि] क्या वह सो गयी? अथवा मर गयी? अथवा मेरे मन में छिप गयी या विलीन हो गयी?"

इस पद्य में नायिका और नायक क्रमशः आवलम्बन और आश्रय हैं, नायिका द्वारा टूटे-फूटे वचन बोलना, और नितम्ब से वस्त्र का गिरना उद्दीपन-विभाव है, नायिका का रोमांच तथा प्रलय—ये दोनों सात्त्विक भाव हैं, तथा इसमें नायक के वितर्क की भी व्यंजना की गयी है जो कि संचारिभाव है। इस प्रकार इस पद्य में विभाव, अनुभाव और संचारिभाव तीनों विद्यमान हैं। शास्त्रीय परिभाषा

के अनुसार जब इन तीनों का संयोग सहृदय के हृदय में स्थित रति नामक स्थायिभाव से होता है तो यह स्थायिभाव शृंगार रस के रूप में निष्पन्न (अभिव्यक्त) हो जाता है।

अब दूसरे प्रकार का पद्य लीजिए—

दीर्घा वन्दनमालिका विरचिता दृष्ट्यैव नेन्दीवरैः,
पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः।
दत्तः स्वेदमुवा पयोधरयुगेनार्घ्यो न कुम्भाम्भसा,
स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मंगलम्॥ अमरुकशतक ४५

परदेश से पति घर लौट रहा है और पत्नी जल्दी में उसके स्वागत के लिए कोई आयोजन नहीं कर सकी, तो क्या? उसने अपने अंगों से ही तो सभी मंगल-सामग्री जुटा दी—नील कमलों से नहीं, उसने अपने आंखों से एक लम्बी-सी वन्दनवार द्वार पर सजा दी। कुन्द, चमेली आदि फूल नहीं, उसने अपनी मुस्कानों के फूल उसके मार्ग में बखेर दिये। घट-जल से नहीं, उसने पसीने से लथपथ अपने पयोधरों से उसे अर्घ्य दे दिया।

इस पद्य में नायिका (आलम्बन) का वर्णन किया गया है तथा 'स्वेद' नामक सात्त्विक भाव का भी संकेत मिलता है। किन्तु यहां आलम्बन का वर्णन इतना परिपक्व है कि अन्य अनुभावों तथा संचारिभावों का अध्याहार सहृदय स्वतः कर लेते हैं—उदाहरणार्थ नायिका का रोमांचित होना, उसका अपने प्रियतम को एकटक निहारना आदि यहां अनुभाव माने जा सकते हैं, और हर्ष, उत्सुकता, व्रीडा आदि संचारिभाव।

[२]

प्रश्न है कि एक ही स्थल पर रस, गुण, रीति, अलंकार आदि काव्यांगों की पारस्परिक अन्विति क्या है? काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इनमें विषयानुसार रस तो प्रमुख काव्यांग के रूप में स्वीकृत रहता है। माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों में से माधुर्य गुण की स्थिति शृंगार, करुण आदि कोमल रसों में चित्त की द्रुति होने के कारण, और ओज गुण की स्थिति रौद्र, वीर आदि कठोर रसों में चित्त की दीप्ति होने के कारण नित्य रूप से स्वीकृत की जाती है। किन्हीं-किन्हीं स्थलों में जहां सुगमतः अर्थावबोध के कारण चित्त की व्याप्ति भी हो जाती है तो उक्त दोनों प्रकार के रसों में क्रमशः माधुर्य और प्रसाद गुण तथा ओज और प्रसाद गुण भी स्वीकृत रहते हैं। स्पष्ट है कि गुण की यह स्थिति रस पर आधारित है।

गुण की एक स्थिति और भी है जब वह रसानुकूल रचना के आधार पर स्वीकृत की जाती है। कोमल वर्ण-योजना तथा लघु-समस्तपदता माधुर्य गुण की द्योतक है तो कठोर वर्ण-योजना तथा दीर्घ-समस्तपदता ओज गुण की व्यंजक है, और ऐसा विन्यास क्रमशः शृंगार आदि कोमल, और रौद्र आदि कठोर रसों के लिए काम्य है, और यदि इस विन्यास का प्रयोग विपरीत रूप में हो तो वहां 'वर्ण-प्रतिकूलता' नामक दोष माना जाता है। उदाहरणार्थ, शृंगार रस के किसी स्थल में यदि कठोर वर्णों का प्रयोग हो जाए तो वहां चित्तद्रुति के कारण रसगत माधुर्य गुण भले ही स्वीकृत किया जाए जो कि शृंगार रस का नित्य धर्म है, पर वर्ण-योजना की दृष्टि से वर्णगत ओज गुण की स्वीकृति होगी, और साथ ही, 'वर्ण-प्रतिकूलता' नामक दोष भी माना जाएगा। एक उदाहरण लीजिए—

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम्।
कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्तिमुद्धर ॥[1] का० प्र० ७.२०८

यहां शृंगार रस के प्रसंग में रसगत 'माधुर्य' गुण भले ही स्वीकृत किया जाए, किन्तु वर्णगत माधुर्य गुण स्वीकृत नहीं होगा, कठोर (टवर्ग) वर्णों के प्रयोग के कारण वर्णगत गुण 'ओज' और उसके अनुरूप 'गौडी' रीति—स्वीकृत होंगे, और साथ ही 'वर्ण-प्रतिकूलता' दोष भी।

अब एक पद्य लीजिए, जिसमें प्रसाद गुण सर्वातिशायी रूप में विद्यमान है, और वह शृंगार रस का पोषक है—

हे त्वं कुरंगि तृणवारिपलाशभक्षे
स्वस्त्यस्तु ते चर सुखं न मृगारिरस्मि।
दीर्घेक्षणा मृगवधूकमनीयरूपा
दृष्टा त्वया मम मनोहरनामधेया ॥ दिव्यावदान, अवदान ३०

[सुधन नामक राजकुमार अपनी प्रेयसी मनोहरा के अदृश्य हो जाने पर चन्द्रमा, मृगी, भ्रमर, सर्प, कोकिल, अशोक वृक्ष और एक तपोलीन ऋषि से उसका पता पूछता है। प्रस्तुत पद्य में वह मृगी से पूछ रहा है—'हरी दूब, जल और पलाश-पत्र खाने वाली हे मृगी ! [घबराओ नहीं,] मैं कोई शिकारी नहीं हूं, बड़े मज़े से तुम घास चरती रहो, सुख-पूर्वक विचरो। [बस, मुझे तो तुमसे इतना पूछना है कि]

१. हे कलकण्ठि [दूति !] प्रबल उत्कण्ठा से कण्ठ तक भरे हुए मुझको थोड़ी देर के लिए शंख के समान गरदन वाली [मेरी प्रियतमा] के कण्ठालिंगन [का सुख] दिलाओ और अटके हुए प्राणों को बचाओ।

क्या तुमने मेरी मनोहर नाम वाली प्रेयसी को देखा है जिसके नेत्र, मृगी के नेत्र के समान सुन्दर और दीर्घ हैं।]

प्रसाद गुण वहीं स्वीकार किया जाता है जहां किसी रचना को पढ़ते ही उसके वाच्यार्थ का अवबोध ऐसे त्वरित हो जाए जैसे स्वच्छ जल स्वच्छ वस्त्र से तुरन्त निकल जाता है, अथवा जैसे शुष्क ईंधन को अग्नि शीघ्र ही पकड़ लेती है। इसी त्वरित अर्थावबोध के कारण रचना सहृदय के चित्त को व्याप्त कर लेती है। जैसा कि अभी ऊपर संकेत कर आये हैं, माधुर्य और ओज नामक अन्य दो गुणों के लिए तो वर्ण-योजना और पद-बंध नियत हैं, तथा इन दोनों की सत्ता किन-किन रसों में होनी चाहिए, यह भी नियत है, पर प्रसाद गुण किसी भी प्रकार के वर्ण-संयोजन और पदबन्ध में हो सकता है और इसकी स्थिति प्रत्येक रस में संभव है।

उक्त पद्य में त्वरित अर्थावबोध, दूसरे शब्दों में कहें तो प्रसाद गुण, शृंगार रस का उत्कर्षक (पोषक) है—किन्तु साथ ही, इस पद्य में शृंगार रस के नित्य धर्म के रूप में 'रसगत' माधुर्य गुण की भी अवस्थिति मानी जाएगी, जो कि चित्त की द्रुति का अपर पर्याय है—तथा साथ ही यहां कोमल वर्ण-योजना तथा अल्प समस्तपदता (पद-बन्ध) के कारण वर्ण-गत माधुर्य की भी स्थिति मानी जाएगी।

इस प्रकार उक्त पद्य में रसगत और वर्णगत—दोनों प्रकार के—माधुर्य और प्रसाद गुण स्वीकृत किये गये हैं, और वर्णगत माधुर्य के कारण यहां वैदर्भी रीति है, तथा वर्णगत प्रसाद के कारण पाँचाली रीति भी, और यह समग्र स्थिति शृंगार रस की पोषिका है। निष्कर्षतः, भारतीय काव्यशास्त्र में (क) सहृदय की 'चित्तवृत्ति' (रसगत गुण), और (ख) वर्ण-योजना एवं पद-बन्ध (वर्णगत गुण तथा रीति)—ये दोनों वर्ण्य रस के परिपोषक माने गये हैं।

[३]

अब अलंकार को लीजिए। अलंकार का औचित्य भी रस पर आधारित है। अलंकार 'शब्दार्थ' की शोभा अनित्य रूप से करता है, अर्थात् कहीं नहीं भी करता। जहां वह करता है उस स्थिति में वह (क) कभी रस का उत्कर्ष करता है, (ख) कभी उसका अपकर्ष करता है, और (ग) कभी न उत्कर्ष करता है और न अपकर्ष करता है। अंतिम दो स्थितियों में काव्य को 'चित्रकाव्य' (अवम काव्य) कहते हैं।[1] वस्तुतः, अलंकार की पहली स्थिति ही काम्य है।

उपर्युक्त संस्कृत-समीक्षापद्धति का यह रूप शताब्दियों के चिन्तन और मनन का प्रमाण तो है ही, साथ ही समीक्षा की सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक स्थिति का भी

---

१. विशेष विवरण केलिए देखिए पृष्ठ २१८

द्योतन करता है। इस प्रकार की समीक्षा-पद्धति किसी भी देश एवं भाषा के साहित्य में संभवतः उपलब्ध नहीं है कि काव्य के आनन्द (रस) को केन्द्र मानकर अन्य सभी काव्य-तत्त्व उसके उत्कर्ष—सौन्दर्य—के वर्द्धन में सहायक बनें, कोई साक्षात् रूप से, जैसे—चित्तवृत्ति-रूप गुण और ध्वनि-भेद, तो कोई प्रकारान्तर से, जैसे—रीति और अलंकार। वस्तुतः, काव्य-पट में यह समस्त काव्यशास्त्रीय 'प्रपंच' ताने-बाने के समान परस्पर बुना रहता है। अतः कोई भी तन्तु-रूप काव्य-तत्त्व अकेला रहकर सौन्दर्य का विधायक नहीं होता—फिर भी, कोई न कोई काव्य-तत्त्व अपेक्षाकृत सर्वाधिक सौन्दर्य-विधायक होता है। फलतः, 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस नियम के आधार पर वह काव्य-स्थल उसी का उदाहरण माना जाता है। निम्नोक्त पद्य लीजिए, जिसमें रस की ही प्रधानता है, और शब्दालंकार रस का पोषक है—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।[1]
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला॥ कुट्टनीमतम्

शृंगार रस के द्योतक इस पद्य में चित्तद्रुति का पर्याय 'माधुर्य' गुण है, जो कि सुकोमल वर्णों से व्यंजित है। इस गुण की अनुसारिणी 'वैदर्भी' रीति के अतिरिक्त यहां 'अनुप्रास' नामक शब्दालंकार भी है (चाहें तो इस अलंकार के कारण यहां कुन्तक के अनुसार वर्ण-विन्यास-वक्रता भी स्वीकार कर सकते हैं।) ये सभी गुण, रीति और अलंकार अथवा वर्ण-वक्रता विप्रलम्भ शृंगार रस के पोषक हैं; और इनकी आदर्श स्थिति भी यही है कि ये सभी, रस का उत्कर्ष (पोषण) करें।

इसी प्रकार अश्वघोष का निम्नोक्त पद्य लीजिए जिसमें यमक अलंकार विप्रलम्भ शृंगार रस का उत्कर्षक एवं सहायक है—

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः॥ सौन्दरनन्द ४.४२

[नन्द को एक ओर बुद्ध का गुरु-गम्भीर व्यक्तित्व आकृष्ट करता था, और दूसरी ओर अपनी पत्नी के प्रति उसका अनुराग। वह कोई निश्चय नहीं कर पा रहा था—उस समय उसकी स्थिति ऐसी थी जैसे तरंगों में तैरता हुआ राजहंस न तो आगे बढ़ सकता है और न ठहर सकता है।]

इस पद्य में यमक अलंकार और भाषा का तरंगमय प्रवाह काव्य-सौन्दर्य का उत्पादक है—इस पद्य को पढ़ते समय पाठक की वाणी भी मानो तरंगायित होने

---

१. यह विरहिणी कन्या रात-दिन यही कहती है—'हे सखि, सन्ताप-हरण के [उपचार] कर्पूर को हटा दो, कमलों से क्या लाभ? बिस-दण्डों को भी रहने दो।'

होने लगती है, किन्तु इसके विपरीत अब एक दूसरे प्रकार का पद्य प्रस्तुत है—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥[1]

—वेणीसंहार १.२१

वीर रस के द्योतक इस पद्य में चित्तदीप्ति का पर्याय तथा कठोर वर्णों से व्यंजित ओज गुण, और इस गुण की अनुसारिणी गौडी रीति के अतिरिक्त यहां अनुप्रास अलंकार स्वीकार किया गया है। ओज गुण, गौडी रीति और अनुप्रास अलंकार (अथवा वर्णविन्यास-वक्रता)—ये सभी वीर रस के उत्कर्षक एवं पोषक हैं। यद्यपि अलंकार का प्रयोगौचित्य रस के पोषण में ही है, किन्तु यह पद्य प्रमुखतः अनुप्रास अलंकार का उदाहरण माना जाता है। कारण, इसके पढ़ते ही पाठक को अनुप्रास का चमत्कार ही अभिभूत कर लेता है।

अब तीसरे प्रकार का एक काव्यस्थल लीजिए—

तदनु मणिमयमण्डनमण्डलमण्डिता सकललोकललनाकुलललामभूता कन्यका काचन···तेन 'का त्वम्' इति पृष्ठा···अभाषत ।—दश० च० पूर्व० २.१५

एक वाला के रूप-चित्रण के निरूपक इस स्थल में माधुर्य गुण के अभिव्यंजक वर्ण हैं, तथा अनुप्रास अलंकार का चमत्कार है—यद्यपि ये दोनों शृंगार रस के पोषक हैं, किन्तु यहां यह स्थिति पूर्ववर्ती दोनों काव्यस्थलों से पर्याप्त भिन्न है। इन दोनों काव्य-तत्त्वों से 'अपसारय घनसारम्···' में रस को जितना पोषण मिलता है, उससे कम 'चञ्चद्भुजभ्रमित···' में मिलता है, और उन दोनों से कम 'तदनुमणि-मयमण्डन···' में मिलता है।

अब चौथे प्रकार का एक काव्य-स्थल लीजिए—

अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः ।[2] का० प्र० ८.३४७

इस कथन में ओज गुण के व्यंजक वर्ण हैं, अनुप्रास अलंकार भी है—किन्तु किसी भी रस का द्योतन न होने के कारण इसे 'काव्य' नहीं माना जाता, केवल

---

१. देवि द्रौपदि ! यह भीम अपनी फड़कती हुई भुजाओं से घुमायी गयी गदा के प्रहारों से सुयोधन (दुर्योधन) की जंघाओं को चूर्ण-चूर्ण करके उससे निकले हुए लाल-लाल रक्त से तेरे इन केशों को सींचेगा।

२. इस पर्वत पर बड़े ज़ोर की आग जल रही है, और यह प्रचुर धुआँ उठता दिखायी देता है।

'उक्ति का वैचित्र्य' कहा जाता है—**यत्र तु नास्ति रसः तत्र [अलंकाराः] उक्ति-वैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः ।**

इसी प्रकार का एक स्थल और लीजिए—

मण तरुणि रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि ।
यदि सल्लीलोल्लापिनि गच्छसि तत्किं त्वदीयं मे ॥
अनणुरणन्मणिमेखलमविरतशिंजानमंजुमंजीरम् ।
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥

—काव्यालंकार (रुद्रट) २.२२,२३, व० जी० १.१०;
का० प्र० १०.५८२,५८३

[आनन्ददायी चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाली ! हाव-भाव से मधुर आलाप करने वाली तथा लाल-लाल चरणों से युक्त हे तरुणि ! जब तुम ज़ोर से बजती हुई मणियों की काँची का शब्द करती हुई तथा सुन्दर नूपुरों की मधुर झंकार के साथ अपने पतिग्रह में प्रवेश करती हो, तब न जाने क्यों अकारण ही मेरा हृदय उत्कण्ठावश आतुर हो उठता है ।]

यहां अनुप्रास अलंकार तो है, पर यह वर्ण्य विषय का—नायिका के रूप-चित्रण का—किसी भी रूप में उपकार नहीं करता । इस पद्य के सम्बन्ध में कुन्तक की निम्नोक्त टिप्पणी पठनीय है—'यहां प्रतिभा के दारिद्र्य और दैन्य (अभाव) के कारण अत्यन्त स्वल्प सुभाषित वक्तव्य वाले कवि ने (अर्थात् जिसके पास वर्णन करने योग्य कोई सुन्दर विषय नहीं है, ऐसे कवि ने) वर्णों की समानता की रम्यतामात्र (अनुप्रास) का कथन किया है, परन्तु अर्थ का चमत्कार तो इसमें लेशमात्र भी नहीं है—

प्रतिभादारिद्र्यदैन्याद् अतिस्वल्पसुभाषितेन कविना वर्णसावर्ण्यरम्यतामात्रम्-अत्रोदितम् । न पुनर्वाच्यवैचित्र्यकणिका काचिदस्तीति ।—व० जी० १.७ (वृत्ति)

× × ×

आइए अब अर्थालंकारों की चर्चा करें—

— हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ॥ कुमारसंभव ४.९

शिव ने कामदेव को भस्म कर दिया तो रति विलाप करती हुई कहती है—तुम मुझे सदा यही कहा करते थे कि तू तो मेरे हृदय में निवास करती है, किंतु यह सब बनावटी बात थी—उपचार मात्र था, केवल मुझे प्रसन्न करने के लिए ही

तुम यह सब कहा करते थे। यदि यह बनावटी बात न होती तो तुम्हारे 'अनंग' (अंगरहित) अर्थात् विनष्ट हो जाने पर मैं कैसे अक्षत (जीवित) बनी रहती ?

सरल भाषा में कही हुई इस उक्ति में प्रसाद गुण तो है ही, साथ ही, यहां 'परिकर' अलंकार का चमत्कार भी है। काम-वाचक 'मनसिज' आदि अन्य अनेक शब्दों के होते हुए भी कालिदास ने 'अनंग' शब्द का प्रयोग किया है—कामदेव अब अंग-रहित अर्थात् नष्ट-भ्रष्ट हो गया है।

— **अपूर्वकर्मचण्डालमयि मुग्धे विमुञ्च माम्।**
लिप्तासि चन्दनभ्रान्त्या दुर्विपाकं विषद्रुमम्॥ उत्तररामचरित १.४६

[सीता रावण के यहां रहने के कारण अपवित्र हो गयी—दुर्मुख के द्वारा इस जनापवाद को सुनकर राम आत्मग्लानि से भर उठे, और बोल पड़े—भोली सीते ! तू मुझ चण्डाल को छोड़ दे—जिसने कि ऐसा कार्य किया है, जैसा कि किसी ने भी नहीं किया होगा। तुम तो वस्तुतः चन्दन के वृक्ष की भ्रान्ति से विषैले वृक्ष से लिपटी हुई हो, जिसका अन्तिम परिणाम घातक होता है।]

यहां राम और विषद्रुम के साम्य में रूपक अलंकार है, जो कि मूल कथ्य—करुण रस—का उपकारक है।

— **कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान् खलानाम्।**
निरीक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टकजालमेव॥
—विक्रमांकदेवचरित १.२९

[दुर्जन, ऐसी रचना से भी, जो कानों में रस घोल देती है तथा सुन्दर उक्तियों के कारण रसीली होती है, मुंह मोड़कर, उसमें दोष ढूंढने का ही महान् प्रयास किया करते हैं। ऊँट किसी विहार-उपवन में प्रविष्ट होकर भी कांटेदार झाड़ियों को ही ढूंढता रहता है।]

इस पद्य में दुर्जन की एक विशेषता निर्दिष्ट की गयी है और इसकी पुष्टि एक दृष्टान्त देकर की गयी है। ऐसे स्थलों में 'दृष्टान्त अलंकार' माना जाता है।

नदी-तट पर आयी यह युवती स्वयं साक्षात् नदी-रूप में दिखायी दे रही है—'रूपकातिशयोक्ति' के बल पर कवि की इस अनोखी सूझ का आनन्द लीजिए—

अरे यह कौन एक और लावण्य की 'नदी' उतर आयी है, जिसमें चन्द्रमा के साथ कमल तैर रहे हैं, हाथी की 'गण्डस्थली' उभर रही है, तथा जहां कुछ और

ही प्रकार के 'कदलि-काण्ड' (केले के तने) और 'मृणाल-दण्ड' (बिस के डण्डे) दिखायी दे रहे हैं—

— लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥ ध्वन्यालोक ३.३५ (वृत्ति)

सुन्दरी युवती को 'लावण्य का सिन्धु' कहा गया है। 'सिन्धु' कहने से अभिप्रेत है कि वह एक समग्रतः परिपूर्ण युवती है। 'उत्पल' (कमल) शब्द उसके नेत्रों के कटाक्षों का द्योतक है, और 'शशि' शब्द उसके सुन्दर मुख का। नदी में जब हाथी उतर आते हैं तो उनकी 'गण्डस्थली' उभरी दिखायी देती रहती है—इस नदी-रूपी नारी का स्तनमण्डल गण्डस्थली के अनुरूप उभरा हुआ है। 'कदलीकाण्ड' से यहां अभिप्रेत है ऊरु-युगल और 'मृणाल-दण्ड' से अभिप्रेत है—भुजा-युगल।

यहां 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार का चमत्कार तो है ही, क्योंकि केवल उपमानों का ही उल्लेख किया गया है न कि उपमेयों का, साथ ही, यहां इसी कारण 'साध्यवसाना लक्षणा' भी मान सकते हैं—जो कि उन स्थलों में स्वीकार की जाती है जहां उपमान 'उपमेय' को अध्यवसित (निगीर्ण) कर लेता है—उपमान का उल्लेख तो किया जाता है, उपमेय का नहीं। इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने इसे 'वाच्यसिद्ध्यंग-रूप गुणीभूतव्यंग्य-काव्य' के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है। माना कि यहां सिन्धु, उत्पल, शशि, द्विरद-कुम्भतटी (हस्तिगण्डस्थली), कदलिकाण्ड और मृणाल-दण्ड शब्दों का अर्थ नितान्त अभीष्ट नहीं है—अतः इस पद्य को 'अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि-काव्य' का उदाहरण कह सकते हैं, परन्तु इस पद्य में सिन्धु, उत्पल आदि शब्दों के वाच्य अर्थ का भी अपना महत्त्व है, और इन शब्दों का नदी, कमल आदि व्यंग्यार्थ उस वाच्यार्थ की सिद्धि में सहायक बनता है, अतः यहां 'अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि-काव्य' स्वीकार न कर आनन्दवर्धन ने 'वाच्यसिद्ध्यंग-गुणीभूतव्यंग्य-काव्य' माना है।

× × ×

इसी प्रसंग में **स्वभावोक्ति अलंकार** (वामन के मत में **अर्थव्यक्ति गुण**) की चर्चा करना अपेक्षित है।

जब किसी व्यक्ति, पशु-पक्षी अथवा जड़ पदार्थ के वर्णन में कवि न तो कल्पना के बल पर उसमें नवीनता लाने का प्रयास करता है, न किसी शब्दगत अथवा अर्थगत अलंकार का उसमें समावेश करता है, और न ही उसे शब्द-विन्यास का कौशल दिखाना अभीष्ट होता है—बस, वह उसका वर्णन-मात्र करते हुए उसकी

एक भरी-पूरी तस्वीर सी हमारे सम्मुख ला खड़ी कर देता है तो ऐसे स्थलों में वामन तो 'अर्थव्यक्ति अर्थ-गुण'[1] की स्वीकृति करता है, और कुन्तक को छोड़ शेष प्रायः सभी प्रमुख आचार्य ऐसे स्थलों में 'स्वभावोक्ति अलंकार' मानते हैं। निम्नोक्त पद्य लीजिए :

प्रथममलसैः पर्यस्ताग्रैः स्थितं पृथुकेसरैः
विरलविरलैरन्तः पत्रैर्मनाङ् मिलितं ततः।
तदनु वलनामात्रं किञ्चिद् व्यधायि बहिर्दलैः
मुकुलनविधौ वृद्धाब्जानां बभूव कदर्थना ॥

—का० सू० वृ० ३.२.१४ (वृत्ति)

[कई दिन के पुराने कमल के फूल मुरझा गये। उनकी इस कदर्थना का स्वाभाविक चित्रण उक्त पद्य में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—पहले तो अलस अर्थात् शक्तिहीन मोटे-मोटे केसरों का अग्रभाग नीचे झुक गया। फिर, अत्यन्त विरली-विरली पंखुड़ियां एक-दूसरे से मिल गयीं। इसके बाद, बाहरी पंखुड़ियां तनिक सी मुड़ गयीं। इस प्रकार इन पुराने कमलों के बन्द होने की प्रक्रिया में इनकी बड़ी कदर्थना हुई।]

अब इस सम्बन्ध में कुन्तक की दृष्टि देखिए। वे स्वभावोक्ति को ('स्व-भाव की उक्ति' अर्थात् 'वस्तु' अथवा वर्ण्य विषय) को 'अलंकार' न मानकर 'अलंकार्य' (अलंकार द्वारा अलंकरणीय) मानते हैं, क्योंकि किसी वस्तु का सौन्दर्य-वर्णन कोई अलंकार नहीं है।[2] 'यदि इसे भी अलंकार मान लिया जाए तो फिर यह किसे अलंकृत करता है? भला कोई व्यक्ति अपने कन्धे पर स्वयं चढ़ने में समर्थ हो सकता है?[3] अर्थात् स्वाभाविक उक्ति (वस्तु अथवा वर्ण्य विषय) को 'अलंकार' कहना ऐसे है, जैसे यह निरर्थक बात कहना कि अमुक व्यक्ति अपने कन्धे पर चढ़ रहा है। संसार में कोई भी ऐसी 'वस्तु' नहीं है, (काव्य के प्रसंग में कहें तो कोई भी 'वर्ण्य विषय' ऐसा नहीं है) जिसे 'स्व-भाव' से रहित कह सकें। उससे रहित वस्तु तो 'निरुपाख्य' (उपाख्या—वर्णनीयता—से रहित) होती है, अकल्पनीय अथवा शश के

---

१. 'वस्तुस्वभावस्फुटत्वम् अर्थव्यक्तिः।' (सूत्र)
वस्तूनां भावानां स्वभावस्य स्फुटत्वं यदसावर्थव्यक्तिः। (वृत्ति)
—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३.२.१४

२. अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥ व० जी० १.११

३. शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुते परम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥ व० जी० १.१३

सींगों के समान असम्भव होती है।'[1] इस प्रकार कुन्तक 'स्वभावोक्ति' को 'अलंकार' न मानकर अलंकार्य कहते हैं। कुन्तक-प्रस्तुत स्वभावोक्ति का उदाहरण है—

तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरो: निषण्णाः।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः॥
—कु० सं० ७. १३, व० जी० ३.१ (वृत्ति)

[विवाहोपरान्त कृशांगी पार्वती को नारियां अपने सामने बिठाकर, उसे सजाने के लिए पास रखे हुए आभूषणों के होने पर भी, उसकी स्वाभाविक शोभा से ही नेत्रों के आकर्षित हो जाने के कारण थोड़ी देर तक चुपचाप बैठी रह गयीं।]

इस पद्य में वस्तु का स्वाभाविक सौन्दर्य-चित्रण किया गया है, कवि ने अपनी कल्पना का अधिक प्रयोग नहीं किया। किन्तु हमारे विचार में, केवल वस्तु-वर्णन में और उसके स्वाभाविक रूप से चित्रण में पर्याप्त अन्तर है। यही कारण है कि निम्नोक्त प्रकार के पद्यों में स्वभावोक्ति अलंकार नहीं माना जाता—

गोरपत्यं बलीवर्दः तृणान्यत्ति मुखेन सः।[2]
(यह बैल की सन्तान साँड मुख से घास खाता है।)

अस्तु ! कुन्तक उक्त प्रकार के 'स्वभावोक्ति' (स्वाभाविक उक्ति : graphic Picture) के स्थलों को 'वाक्य-वक्रता' का एक गौण प्रकार—वस्तु-वक्रता' कहते हैं, और उनकी इस मान्यता से, तथा स्वयं उनके द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त पद्य (तां प्राङ्मुखीं...) से भी यह तो स्पष्ट हो जाता है कि वे किसी वस्तु (वर्ण्य विषय) के अवक्र रूप से—स्पष्ट रूप से—कथन भाव को काव्य नहीं मानते। अन्तर इतना है कि कुन्तक ऐसे वर्ण्य विषय को 'अलंकार्य' कहते हैं, और अन्य आचार्य इसे 'अलंकार' कहते हैं; किंतु इसे अलंकार मानने में भी कुन्तक को विशेष आपत्ति नहीं है,[3] क्योंकि

१. स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते॥—व० जी० १.१२
(निरुपाख्यं—उपाख्या—××× वर्जितम्, असत्कल्पं वस्तु शशविषाणप्रायं शब्द-ज्ञानगोचरतां प्रतिपद्यते।)

२. इस पद्य की अगली पंक्ति है—
मूत्रं मुञ्चति शिश्नेन अपानेन तु गोमयम्।

३. यदि वा ×× भावस्वभाव ×× शोभातिशयशालित्वादलंकार्योऽपि अलंकरणम्-इत्यभिधीयते तदयमस्माकीन एव पक्षः। व० जी० ३.१ (वृत्ति)

इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग तो चलते रहते हैं ।

× × ×

प्रश्न है कि उक्त प्रकार की रचनाओं में से, जिन रचनाओं में ध्वनि-काव्य के अथवा गुणीभूत-व्यंग्य-काव्य के किसी भेद अथवा उपभेद की स्थिति नहीं मानी जाती, वहां संस्कृत-काव्यसमीक्षक कौन सा काव्य-तत्त्व स्वीकार करता है ? इसी प्रश्न को किंचित् विस्तार देकर दोहराएं तो वह इस प्रकार बनेगा कि ऐसी रचनाओं में—जहां रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भावशान्ति में से कोई भी काव्यतत्त्व स्वीकृत नहीं रहता, और, न ही अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि अथवा अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि का, और वस्तुध्वनि अथवा अलंकार-ध्वनि का चमत्कार स्वीकृत रहता है, तथा इसी प्रकार उसमें गुणीभूत-व्यंग्य-काव्य के प्रमुख आठ भेदों में से भी किसी भेद का चमत्कार निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता—संस्कृत के काव्य-समीक्षक की दृष्टि में कौन-सा काव्यतत्त्व स्वीकृत रहता है ?

आनन्दवर्धन इस प्रकार के स्थलों में **'चित्र काव्य'** '(अधम काव्य)' स्वीकार करता है। ऐसे स्थलों में शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार का चमत्कार ध्वनि-तत्त्व (व्यंग्यार्थ) को आच्छादित कर देता है—इनमें ध्वनि-तत्त्व प्रमुख अथवा गौण रूप से विद्यमान माना जाता है। उक्त पद्य में अर्थालंकार की चमत्कारातिशयता के कारण उक्त स्थिति है। ऐसा एक पद्य और लीजिए :—

वासवृक्षं गुणवतामावासं शरणैषिणाम् ।
आनर्तं कृतशास्त्राणामालानं बाहुशालिनाम् ॥ सौन्दरनन्द १.५४

[कपिलवस्तु नगरी गुणवान् लोगों के लिए वासवृक्ष थी—[ऐसे, जैसे वृक्ष पक्षियों के लिए रैन-बसेरा होता है—] शरण चाहने वालों के लिए आवास थी। कृतशास्त्रों—विद्यावान् कलाकारों—के लिए मञ्च-रूप थी, और बलशाली लोगों के लिए स्तम्भ थी ।]

इस प्रकार के वर्णन मूलतः इतिवृत्त मात्र होते हैं, और भारतीय काव्य-शास्त्र ऐसे स्थलों में 'उल्लेख' नामक अर्थालंकार स्वीकार करता है, और आनन्दवर्धन के अनुसार यहां उल्लेख अलंकार वर्ण्य रस—अद्भुत रस—की अपेक्षा कहीं अधिक चमत्कार-पूर्ण होने के कारण चित्र-काव्य (अधम काव्य) के अन्तर्गत स्वीकार किया जाएगा, न कि ध्वनि-काव्य (उत्तम काव्य) के अन्तर्गत, और न ही गुणीभूतव्यंग्य-काव्य (मध्यम काव्य) के अन्तर्गत ।

किन्तु अर्थालंकारों का इस रूप में प्रयोग वर्ण्य विषय का उत्कर्षक न बनते हुए कभी-कभी तो हास्यास्पद स्थिति तक पहुंच जाता है। भ्रान्तिमान् अलंकार के उदाहरण-स्वरूप धवल चाँदनी का यह वर्णन लीजिए—झरोखों पर गिरती हुई चन्द्र-किरणों को रमणियाँ मोती समझकर उन्हें ग्रहण करना चाहती हैं। इधर गोष्ठ में रखे हुए घड़े में पड़ी चन्द्र-किरणों को देखकर गोपिकाएं उन्हें दही समझकर मथना चाहती हैं, और उधर उस ओर मालती लता पर छिटकी हुई चन्द्र-किरणों को मालनियां मालती के फूल समझकर चुनने लगती हैं—

मुक्तादाममनोरथेन वनिता गृह्णन्ति वातायने,
गोष्ठे गोपवधूर्दधीति मथितुं कुम्भीगतान् वाञ्छति।
उच्चिन्वन्ति च मालतीषु कुसुमश्रद्धालवो मालिकाः,
शुभ्रान् विभ्रमकारिणः शशिकरान् पश्यन्न को मुह्यति ॥

—नलचम्पू २.३७

परन्तु अलंकार का वास्तविक कार्य काव्य के अन्य तत्त्वों पर (ध्वनिकाव्य और गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के भेदोपभेदों पर, और इनमें भी विशेषतः रस-ध्वनि पर) आच्छादित हो जाना नहीं है, अपितु काव्य के सभी तत्त्वों का—विशेषतः रस का—उपकार करना है। ऐसा एक स्थल लीजिए, जिसमें रूपक अलंकार का चमत्कार हमारे विचार में विप्रलम्भ शृंगार का उपकारक है—

तरंगभ्रूभंगा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसंधाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥ विक्रमोर्वशीय ४.५२

[पुरूरवा ने उर्वशी की खोज में भटकते-भटकते सामने एक नदी को देखा तो वह कह उठे—[बस, अब मैं समझ गया—] मेरे असह्य अपराधों को न सह सकने के कारण मेरी प्रेयसी उर्वशी नदी-रूप में परिणत हो गयी है। उसकी भौंहों की भंगिमा तरंगें बन गयी हैं। उसकी करधनी ने चहचहाते पक्षियों की पंक्ति का रूप धारण कर लिया है। उसकी ढीली-ढाली साड़ी फेन बन गयी है जिसे वह खींचती चली जा रही है।]

यह प्रमत्त प्रेमी का प्रलाप सही, पर किसी जड़ पदार्थ में—'रूपक' अलंकार के माध्यम से—जीवन का संचार होता देख सहृदय पाठक भी पुरूरवा के साथ तरंगित हो उठता है, और ऐसे स्थलों में रूपक अलंकार को विप्रलम्भ शृंगार का उत्कर्षक माना जाएगा। उपर्युक्त उत्कर्षक रूप में अलंकार-विषयक एक अन्य उदाहरण लीजिए—

माघ कवि ने शिशुपाल-वध में रैवतक पर्वत के वर्णन में एक स्थल पर कहा कि इस पर्वत की पुत्रियां—नदियां, जो कि इसकी गोद में निश्शंक भाव से लोटती रहती है, जब अपने पति (सागर) की ओर जाने के लिए चल पड़ीं, तो पक्षियों के कलरव के व्याज से ही मानो, यह पर्वत उनके प्रति वात्सल्य-भाव के कारण करुणापूर्वक रो रहा है—

अपशंकमंकपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमेपेतुमात्मजाः ।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैव निम्नगाः ।।

—शिशुपालवध ४.४७

यहां उत्प्रेक्षा अलंकार के चमत्कार का आधिक्य है। नदियों के लिए 'निम्नगाः' विशेषण का प्रयोग यहां साभिप्राय है, क्योंकि नदियां पर्वत से नीचे बहकर ही सागर की ओर जा सकती हैं। अतः यहां काव्यलिंग अलंकार भी है, किन्तु उत्प्रेक्षा अलंकार की अपेक्षा इसका चमत्कार बहुत ही कम कोटि का है—अपितु कह सकते हैं कि 'निम्नगाः' विशेषण—दूसरे शब्दों में कहें तो काव्यलिंग अलंकार—उत्प्रेक्षा अलंकार का सहायक है। इसी प्रयोग में कुन्तक-सम्मत 'विशेषणगत पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता' अथवा क्षेमेन्द्र-सम्मत 'विशेषणगत औचित्य' भी मान सकते हैं। आइए, अब उक्त श्लोक में अंगीभूत रस का निर्णय करें—

—रैवतक पर्वत का अपनी पुत्रियों के प्रति वात्सल्य इस पद्य में व्यंजित किया गया है, अतः क्या यहां अंगीभूत काव्य-तत्त्व 'वात्सल्य' रस मानें ?

अथवा

—नदियों और सागर का पारस्परिक पत्नी-पति-भाव—रतिभाव—यहां वर्णित है, और मानवेतर रति-वर्णन को शृंगार रस न मानकर शृंगार 'भाव' माना जाता है, अतः क्या यहाँ अंगीभूत रूप से वर्णित 'शृंगार भाव' मानें ?

—उक्त दोनों संभावनाओं का उत्तर है—नहीं, यहां अंगीभूत रूप से न तो 'वात्सल्य रस' की स्वीकृति होगी, और न ही 'शृंगार भाव' की। हाँ, 'शृंगार' यहां वात्सल्य की पुष्टि अवश्य कर रहा है। वस्तुतः, यहां कवि रैवतक-पर्वत की शोभा का वर्णन कर रहा है। अतः इस दृष्टि से यहां प्रकृति-चित्रण-रूप 'भाव' को ही अंगी माना जा सकता है, और वात्सल्य रस यहां शृंगार रस से पुष्ट होकर उक्त प्रकृति-चित्रण रूप 'भाव' को पुष्ट कर रहा है। इसके अतिरिक्त यहां काव्यलिंग अलंकार से पुष्ट उत्प्रेक्षा अलंकार भी इसी 'भाव' को उपकृत कर रहा है।

इस प्रकार भारतीय समीक्षक विभिन्न काव्य-तत्त्वों को अंगांगिभाव से स्वीकृत करता हुआ किसी रचना में यदि किसी एक काव्य-तत्त्व को अंगी मानता है तो किसी दूसरी रचना में किसी अन्य काव्य-तत्त्व को।

[४]

अभी ऊपर 'अपशंकमपरिवर्तनोचितारचलिता:......' पद्य में रैवतक पर्वत, नदियों और सागर जैसे अचेतन पदार्थों तथा पक्षियों जैसे मानवेतर प्राणियों को लक्ष्य में रखकर वात्सल्य-भाव के माध्यम से काव्य-चमत्कार दिखाया गया है। इसी प्रकार के कुछ अन्य पद्य लीजिए, जिनमें जड़ पदार्थों अथवा मानवेतर प्राणियों का कवित्वपूर्ण चित्रण किया गया है—

—विन्ध्याचल पर्वत (नायक) ने वर्षा ऋतु-रूपी लक्ष्मी (नायिका) के पयोधरों (बादलों—पक्षे उर:स्थलों) को देखा तो वह उत्तेजित हो उठा, और परिणामत:, उसका एक-एक अंग नये उगे हुए तृणांकुरों रूपी रोमाञ्चों से सुशोभित हो गया—

उद्वहति नवतृणांकुररोमाञ्चप्रसाधितान्यङ्गानि ।
प्रावृड्लक्ष्म्याः पयोधराभ्यां प्रतिप्रेरितो विन्ध्यः ॥[१] (संस्कृतच्छाया)

—चन्द्रमा (नायक) ने जब अपनी किरणों रूपी अंगुलियों को रात्रि (नायिका) के अन्धकार-रूपी केशपाश में फेरना आरम्भ किया तो रात्रि ने रोमांचित होकर अपने कमल-रूपी नेत्रों को बन्द कर लिया, और तभी चन्द्रमा ने उसका मुख चूमना शुरू कर दिया—

अंगुलीभिरिव केशसंचयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥ कु० सं० ८.६३

स्पष्ट है कि उक्त दोनों पद्यों में प्राकृतिक पदार्थों का पारस्परिक प्रणय वर्णित किया गया है। अब मानवेतर प्राणियों के प्रणय-सम्बन्ध की कुछ झांकियां देखिए—

—अरे, उधर गोष्ठ के बीच तो देखो, एक गाय सबसे अधिक शैतान सांड के सींग से अपनी आंख का कोना खुजाते हुए अपना 'सौभाग्य' प्रकट रही है—

प्रकटितं सौभाग्यं गवा पश्यत गोष्ठमध्ये ।
दुष्टवृषभस्य शृंगेऽक्षिपुटं कण्डूयमानया ॥[२] (संस्कृतच्छाया)

---

१. उव्वहइ नवतणंकुररोमंचपसाहिआइं अंगाइं ।
पाउसलच्छीअ पओहरेहिं पडिवेल्लिओ विज्झो ॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण, पृष्ठ ४६४

२. पाअडिअं सोहग्गं तम्वाए उअह गोट्ठमज्झम्मि ।
दुट्ठवसहस्य संगे अच्छिउडं कंडुअंतीए ॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण, पृष्ठ ४६४

—'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का दुष्यन्त ऐसा चित्र बनाना चाहता है जिसमें मालिनी नदी के तट पर हंस-दम्पती बैठा हो, पास में चमरी गाय और हरिण बैठे हों, वृक्ष पर मुनियों के वल्कल सूख रहे हों तथा उसी वृक्ष के नीचे एक हिरणी कृष्णसार मृग के सींग से अपना बाँया नेत्र खुजला रही हो—

शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्। अभि० ६.१७

अब इसी प्रसंग में कालिदास के दो पद्य और—

—भौंरों ने अशोक-लता के पुष्प-गुच्छों का रस-पान किया तो उनके छोटे-छोटे पल्लव हिल उठे। इसे देखते हुए वधूजनों को ऐसा प्रतीत हुआ कि ये लताएं इन्हीं वधुओं का उस समय का अनुकरण कर रही हैं, जब वे जोर से अधरोष्ठ पर काट लेने पर छटपटाती हुई अपने हाथों को, बेचैनी में, इधर-उधर हिलाती है—

निपीयमानस्तबकाः शिलीमुखैरशोकयष्टिश्चलबालपल्लवा।
विडम्बयन्ती ददृशे वधूजनैरमन्ददष्टौष्ठकरावधूननम्॥ किरात० ८.६

—कामदेव वसन्त ऋतु को अपने साथ लेकर कैलास पर्वत पर आ पहुंचे शंकर को जीतने के लिए। वसन्त ऋतु का प्रभाव न केवल मानवों पर पड़ा, अपितु पशु-पक्षियों पर भी पड़ा। भ्रमर ने पुष्प-रूप एक पात्र में मधु पिया, किन्तु स्वयं पीने से पहले इसे उसने अपनी प्रिया को पिलाया, और उससे बची-खुची बाद में स्वयं पी गया। और उधर, कृष्ण मृग ने अपनी पिया को तनिक-सा छुआ ही था कि उसकी आँखें अधमुंदी हो गयीं और तभी मृग ने उसे अपने सींग से खुजलाना आरम्भ कर दिया—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥ कु० सं० ३.३६

स्पष्ट है कि जब तक उक्त वर्णन भ्रमर-भ्रमरी और मृग-मृगी तक सीमित रहता है, तब तक हमें उससे एक हलके स्तर का मनोविनोद-सा मिलता है, किन्तु जब हमारे सम्मुख प्रणय में डूबे नर-नारी की प्रणय-चेष्टाओं का चित्र उपस्थित हो जाता है तो हमें उसी क्षण काव्यास्वाद की प्राप्ति होती है, और वह चित्र कुछ इस प्रकार का होता है—नायक ने मधु का पात्र भरा, और उसे अपनी प्रिया के होठों से लगा दिया, और फिर उसकी जूठन स्वयं पी गया। प्रिय ने प्रिया का तनिक स्पर्श किया ही था कि प्रणयावेश के कारण वह रोमांचित हो गयी, उसकी आँखें अधमुंदी हो गयीं—और तभी कुशल नायक ने इस अवसर का लाभ उठाना आरम्भ कर दिया।

कालिदास ने इसी प्रसंग में हस्तिनी और चकवे का भी वर्णन निम्नोक्त रूप से किया है—

हस्तिनी कमल के पराग से सुवासित जल अपनी सूंड से निकालकर बड़े प्रेम से अपने हाथी को पिलाने लगी तो उधर चकवा आधी कुतरी हुई कमलनाल को अपनी चकवी को देने लगा—

> ददौ रसात् पंकजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः ।
> अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथांगनामा ॥ कु० सं० ३.३७

अब इसी प्रसंग में वृक्षों की स्थिति देखिए—

उस समय वृक्ष अपनी झुकी हुई डालियाँ फैला-फैलाकर उन लताओं से लिपटने लगे, जिनमें बड़े-बड़े फूलों के गुच्छों के रूप में मानो स्तन उग आये थे और पत्तों रूपी सुन्दर होंठ हिल रहे थे—

> पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः ।
> लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥ कु० सं० ३.३९

भारतीय काव्यशास्त्र में उक्त सभी पद्य रसाभास के उदाहरण-स्वरूप माने गये है, क्योंकि इनमें मानव-युगल के स्थान पर प्राकृतिक पदार्थों अथवा मानवेतर युगल की प्रणय-चेष्टा का वर्णन है, किन्तु साथ ही भारतीय काव्यशास्त्री यह भी स्वीकार करता है कि काव्य-चमत्कार की दृष्टि से रसाभास के उदाहरण रस के उदाहरणों की अपेक्षा किसी भी दृष्टि से हीन कोटि के नहीं माने जाते।

× × ×

इस प्रसंग के अन्त में यह उल्लेख्य है कि प्रायः प्रत्येक काव्यस्थल में रस, अलंकार, गुण, ध्वनि-भेद, वक्रोक्ति-भेद आदि में से एक से अधिक काव्य-तत्त्व समाविष्ट रहते हैं, कहीं तो यह संख्या पाच-छह तक पहुंच जाती है, उस स्थिति में, जैसा कि पहले कहा गया है, जिस काव्य-तत्त्व का चमत्कार प्रधानता से लक्षित हो रहा होता है वह स्थल उसी काव्य-तत्त्व का उदाहरण मान लिया जाता है, किन्तु शेष काव्य-तत्त्व परस्पर एक-दूसरे के चमत्कार का पोषण करते हुए, अन्ततः, प्रमुख काव्य-तत्त्व का ही पोषण करते हैं—सरिता में तरंगें परस्पर एक-दूसरे को लहराती हुई भी मूलतः जलराशि के ही सौंदर्य का कारण बनती हैं, और तरंगें जितना अधिक होंगी, जलराशि का सौन्दर्य उतना ही अधिक निखरेगा। विभिन्न वक्रोक्ति-भेदों के प्रयोग के संबंध में कुन्तक का यही दृष्टिकोण ध्यातव्य है—

परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित् ।
प्रकाराः जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम् ॥ व० जी० २.३४

कुन्तक का यही दृष्टिकोण अन्य भी सभी काव्य-तत्त्वों के प्रयोग पर सुघटित होता है। अलंकार, गुण, ध्वनि-भेद, वक्रोक्ति-भेद जो कि काव्य का निर्माण करते हैं, वे वस्तुतः जल-तरंगवत् काव्य के अविभाज्य अंग होते हैं, हम इन्हें पृथक् नहीं कर सकते। कुन्तक ने अलंकार को दृष्टि में रखते हुए इसी आशय को ही निम्नोक्त शब्दों में प्रकट किया है—'यों तो समझने-समझाने के लिए अलंकार (काव्य-सौन्दर्य) को अलंकार्य (शब्दार्थ) से अलग करके विवेचन किया जाता है, किन्तु सत्य तो यह है कि काव्यता तो सालंकार की ही होती है'—

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया, तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ॥ वक्रोक्तिजीवित १.६

वस्तुतः, विभिन्न काव्य-तत्त्वों को—उनसे जन्य सौन्दर्य को—हम काव्य से ठीक उसी प्रकार अलग नहीं कर सकते जिस प्रकार त्वचा के रंग को उससे अलग नहीं कर सकते, पुष्प के रंग को उसकी पंखुड़ियों से अलग नहीं कर सकते, अथवा तरंगों को जलराशि से अलग नहीं कर सकते। कुन्तक का उक्त कथन न केवल अलंकार पर घटित होता है, अपितु काव्य के सभी तत्त्वों—गुण, रीति, वक्रोक्ति, व्यंग्यार्थ आदि के अतिरिक्त रस के भेदोपभेदों—पर भी घटित होता है।

[—क्रमशः]

१३. शास्त्रीय समीक्षा [भाग : २]

किसी एक काव्य-स्थल में एक से अधिक काव्य-तत्त्वों के सम्बन्ध में इसी अध्याय के प्रथम भाग के अन्त में चर्चा की जा चुकी है। यही स्थिति अलंकारों के सम्बन्ध में, और विशेष रूप से श्लेष अलंकार के सम्बन्ध में, ध्यातव्य है।

[१]

जिस काव्य-स्थल में एक से अधिक अलंकार रहते हैं वहां संसृष्टि अथवा संकर अलंकार माना जाता है।

'संसृष्टि अलंकार' वहां माना जाता है जहां एक से अधिक अलंकारों की स्थिति निरपेक्ष रूप से हो, अर्थात् जहां सभी अलंकार स्वतन्त्र-रूप में हों।

इसके विपरीत **'संकर अलंकार'** वहां माना जाता है जहां एक से अधिक अलंकारों की स्थिति सापेक्ष रूप से हो, अर्थात् सभी अलंकार किसी न किसी रूप में परस्पर सम्बद्ध हों।

पहले शब्दालंकारों की संसृष्टि लीजिए—

नायिका के मुख की सुगन्ध के लोभ से उसके मुख पर भ्रमर मंडराने लगे तो भ्रमर के आतंक से सुन्दरी की शोभा और भी अधिक बढ़ गयी—और वह इधर-उधर भागने लगी। पर भागते समय उसे यह ध्यान निरन्तर लगा रहा कि कहीं उसका केशपाश ढीला न हो जाए—इसी कारण उसके नेत्र चंचल हो उठे, और साथ ही उसके भागने से उसकी सुन्दर मेखला मधुर शब्द करती हुई बज उठी—

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद् भ्रमरसम्भ्रमसम्भृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखला कलकलोऽलकलोलदृशाऽन्यया॥

—शिशुपालवध ६.१४

—यहां पूर्वार्द्ध में मकार तथा तीसरे चरण में 'लकार' की अनेक वार आवृत्ति के कारण अनुप्रास अलंकार है।

—साथ ही, चौथे चरण में 'लकलो' 'लकलो' की आवृत्ति के कारण यमक

अलंकार भी है। ये दोनों शब्दालंकार परस्पर निरपेक्ष-भाव से स्थित हैं—अतः यहां काव्य-समीक्षक शब्दालंकार-संसृष्टि मानते हैं।

(२) इसी प्रकार की संसृष्टि अर्थालंकारों की भी होती है—

अंधकार अंगों का लेपन-सा कर रहा है, आकाश से सुरमा-सा बरस रहा है, और दृष्टि ऐसे विफल हो रही है, जैसे कि किसी दुष्ट पुरुष की, की गयी सेवा विफल जाती है—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवांजनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गतः ॥ का० प्र० १०.४१८

इस पद्य के प्रथमार्ध में उपमा अलंकार है और द्वितीयार्ध में उत्प्रेक्षा अलंकार, और ये दोनों अर्थालंकार परस्पर-निरपेक्ष हैं।

(३) इसी प्रकार की निरपेक्षता एक-साथ शब्दालंकार और अर्थालंकार में भी देखी जाती है—

इस ग्राम में ऐसा कोई [युवक] नहीं है जो निखरते हुए सौन्दर्य वाली, तरुणों के हृदय को वश में कर लेने वाली तथा इधर-उधर घूमने-फिरने वाली इस [सुन्दरी] को रोक सके—

सो णत्थि एत्थ गामे जो एअं महमहन्तलाअण्णं।
तरुणाण हिअअलूडि परिसक्कन्तीं णिवारेइ ॥ का० प्र० १०.५७०.

[स नास्त्यत्र ग्रामे य एनां महमहायमानलावण्याम्।
तरुणानां हृदयलुण्ठाकीं परिष्वक्कमानां निवारयति ॥] (संस्कृत-रूपान्तर)

उक्त प्राकृत पद्य के पूर्वार्द्ध में 'णत्थि एत्थ' में 'त्थ' की आवृत्ति के कारण अनुप्रास नामक शब्दालंकार है, तथा उत्तरार्द्ध 'हृदयलुण्ठाकीम्'[1] पद में रूपक नामक अर्थालंकार है।[1] अतः यहां शब्दार्थालंकारों की संसृष्टि है।

अब 'संकरालंकार' अलंकार लीजिए—

संकर अलंकार उन स्थलों में माना जाता है, जहां एक से अधिक अलंकारों की पारस्परिक स्थिति सापेक्ष होती है, और यह स्थिति निम्नोक्त तीन रूपों में सम्भव है : (१) अंगांगिभाव-संकर, (२) सन्देह संकर और (३) एकाश्रयानुप्रवेश-संकर—

(१) जहां अलंकार एक दूसरे से प्रति अंगांगिभाव से रहते हैं—अर्थात् एक

१. हृदय [-रूपी धन] को चुराने वाली।

अलंकार अंगी होता है, दूसरा उसका अंग होता है—अंगभूत अलंकार अंगीभूत अलंकार का उपकारक होता है—

आत्ते सीमन्तरत्ने मरकतिनि हृते हेमताटंकपत्रे,
लुप्तायां मेखलायां झटिति मणितुलाकोटियुग्मे गृहीते।
शोणं बिम्बोष्ठकान्त्या त्वदरिमृगदृशामित्वरीणामरण्ये,
राजन् गुञ्जाफलानां स्रज इति शबरा नैव हारं हरन्ति॥

—का० प्र० १०.५७१

[हे राजन्! तुम्हारे डर के मारे तुम्हारे शत्रु-राजाओं की रानियां भाग खड़ी हुईं तो जंगली भीलों ने उनके शिरोभूषणों, सोने के बने ताटंक-पत्रों, मेखलाओं और मणि-जटित नूपरों को तो छीन लिया, पर शुभ्र मोतियों के हारों को नहीं छीना, क्योंकि इन मोतियों पर उनके बिम्बाफल के सदृश रक्त-वर्णिम ओष्ठों की लालिमा जो पड़ी तो वे श्वेतवर्ण हार भी लाल हो गये, और भीलों ने समझा कि ये तो घुँघचियों की माला है।]

बिम्बोष्ठ की कान्ति से श्वेत भी मौक्तिक हार लाल मालूम पड़ता है—यह तद्गुण अलंकार है, उस 'तद्गुण' के कारण मौक्तिक हार में गुञ्जाफल की माला की भ्रान्ति हो जाने से भ्रान्तिमान् अलंकार उत्पन्न हो गया है, और इस भ्रान्ति के कारण तद्गुण अलंकार सहृदयों के लिए और भी अधिक चमत्कारजनक हो उठा है। इसलिए इन दोनों के एक दूसरे के उपकारक होने से यहां उनका अंगांगिभाव संकर है।[1]

(२) जहां दो या दो से अधिक अलंकारों में से किसी के भी विषय में यह निश्चय न किया जा सके कि यहां कौन सा अलंकार माना जाए, वहां सन्देह-संकर अलंकार होता है—

यथा गभीरो यथा रत्ननिर्भरो यथा च निर्मलच्छायः।
तथा किं विधिना एष सरसपानीयो जलनिधिर्न कृतः॥[2] का० प्र० १०.५७४

[समुद्र जैसा कि गम्भीर है, जैसा कि रत्नों से भरा हुआ है, और जैसा कि निर्मल कान्ति वाला है, भगवान् ने इसे वैसा स्वादिष्ट जल वाला क्यों नहीं बना दिया है?]

---

१. अत्र तद्गुणमपेक्ष्य भ्रान्तिमता प्रादुर्भूतम्, तदाश्रयेण च तद्गुणः सचेतसां प्रभूत-चमत्कृतिनिमित्तम् इत्यनयोरंगांगिभावः। —का० प्र० १०.५७१ वृत्ति

२. यह पद्य 'जह गहिरो···' इस प्राकृत-पद्य का संस्कृत-रूपान्तर है।

इस पद्य में (क) 'समुद्र' को प्रस्तुत मानते हुए इसके समान विशेषणों से युक्त पुरुष-रूप अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होने के कारण यहां समासोक्ति अलंकार माना जाए, अथवा (ख) इस पद्य में 'समुद्र' को अप्रस्तुत मानते हुए इसके समान विशेषणों से युक्त पुरुष-रूप प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होने के कारण यहां अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार माना जाए—इसका निश्चय नहीं हो पाता, अतः ऐसे स्थलों में समीक्षक सन्देह-संकर अलंकार मानते हैं।

(३) जहां एक ही स्थान पर दो या दो से अधिक अलंकार स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् व्यवस्थित होते हैं, वहां समीक्षक एकाश्रयानुप्रवेश-संकर अलंकार मानते हैं—

देवः पायादपायान्नः स्मेरेन्दीवरलोचनः।
संसारध्वान्तविध्वंसहंसः कंसनिषूदनः॥

—सा० द० १०.९८ वृत्ति

[वह कृष्ण हमारी रक्षा करे जो कंस का विनाश करने वाला है, जिसके नेत्र खिले हुए नील कमल के समान हैं, तथा जो संसार-रूप अन्धकार को दूर करने में हंस (सूर्य) के समान हैं।]

इस पद्य के 'संसारध्वान्तविध्वंसहंसः' पद में निम्नोक्त दो अलंकार एक-साथ हैं—(१) 'ध्व' की आवृत्ति के कारण अनुप्रास अलंकार है, तथा (२) 'संसार-रूप-ध्वान्त (अन्धकार)' में रूपक अलंकार है। ये दोनों अलंकार स्पष्टतया पृथक्-पृथक् रूप से अवस्थित हैं, अर्थात् ये दोनों न तो एक दूसरे के प्रति 'अंगांगिभाव' से स्थित हैं, और न ही इन दोनों में से किसी एक के निश्चय करने में कोई 'सन्देह' ही रह जाता है।

इस प्रकार ऐसे काव्य-स्थलों में जहां एक से अधिक अलंकार होते हैं वहां संस्कृत-काव्यों के टीकाकार संसृष्टि अथवा संकर अलंकारों के विभिन्न रूपों में से किसी एक की स्वीकृति करते हैं।

× × ×

उपर्युक्त स्थिति यों तो सभी अलंकारों पर घटित हो सकती है, पर सबसे बढ़कर यह स्थिति श्लेष अलंकार पर घटित होती है, क्योंकि श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग के कारण श्लेष अलंकार स्वतन्त्र रूप में माना जाता है, किन्तु अधिकतर स्थलों में यह अलंकार अन्य अलंकारों का पोषक होता है। इस सम्बन्ध में काव्याचार्यों ने अत्यन्त रोचक विवाद प्रस्तुत किया है, जिसे यहां प्रस्तुत करने का लोभ मैं संवरण

नहीं कर पा रहा। इस विवाद में प्रस्तुत उदाहरणों से उक्त समस्या पर तो प्रकाश पड़ेगा ही कि श्लेष अलंकार कहां स्वतन्त्र होता है, और कहां पोषक, साथ ही, इस विवाद से श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग के विविध आयामों पर भी प्रकाश पड़ेगा। श्लेष अलंकार स्वतंत्र रूप से रह सकता है अथवा नहीं—इस सम्बन्ध में ध्वनि-पूर्ववर्ती और ध्वनि-परवर्ती आचार्यों के बीच मतभेद है।[1]

उद्भट और रुय्यक का मन्तव्य है कि श्लेष अलंकार स्वतन्त्र रूप से कभी नहीं रहता, शास्त्रीय शब्दावलि में कहें तो श्लेष अलंकार अन्य अलंकारों से विविक्त (रहित) कभी नहीं रहता। जहाँ इसकी स्थिति होगी वहां कोई न कोई अन्य अलंकार अनिवार्यतः रहेगा, किन्तु इसका चमत्कार अन्य अलंकारों के चमत्कार को बाधित कर देता है, अतः वहां श्लेष अलंकार स्वीकृत किया जाता है।

इस सम्बन्ध में उनका प्रमुख तर्क यह है कि यदि श्लेष के होते हुए अन्य अलंकार माने जाएंगे तो श्लेष अलंकार निर्विषय हो जाएगा, अर्थात् इसके उदाहरण नहीं मिलेंगे। यद्यपि ये आचार्य काव्यशास्त्र के [अथवा किसी भी अन्य शास्त्र के] इस नियम से भली-भाँति परिचित हैं कि 'जो सबसे अन्त में प्रतीत हो वही प्रधान, पोष्य एवं उपस्कार्य माना जाता है', तथापि उनके विचार में श्लेष अलंकार के प्रसंग में यह नियम शिथिल करना पड़ेगा, अन्यथा किसी अन्य अलंकार की स्वीकृति कर लेने पर श्लेष सदा अप्रधान (पोषक) बना रहने के कारण अलंकार-पद से च्युत हो जाएगा।

किन्तु इधर मम्मट और विश्वनाथ इस स्थिति को सदा स्वीकार नहीं करते। इनके मत में श्लेष अलंकार कभी अन्य अलंकारों से स्वतन्त्र रहता है और कभी नहीं रहता। जहां वह स्वतन्त्र नहीं रहता वहां कभी तो इसका चमत्कार अन्य अलंकारों के चमत्कार को बाध देता है और कभी स्वयं बाधित होकर उसका पोषक बन जाता है। इस प्रकार इन आचार्यों के मत में श्लेष अलंकार की स्थिति तीन विकल्पों में सम्भव है—

१. श्लेष स्वतन्त्र रूप में रहता है।
२. श्लेष अन्य अलंकारों का बाधक बन जाता है।
३. श्लेष अन्य अलंकारों का पोषक बन जाता है।

इनमें से प्रथम दो विकल्प ही श्लेष अलंकार से सम्बद्ध हैं।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—काव्यप्रकाश, नवम उल्लास, साहित्य-दर्पण, दशम परि०, काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) पृष्ठ २३१-२३२

सर्वप्रथम ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है जहां केवल श्लेप अलंकार का चमत्कार है—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजंगहारवलयोगंगां च योऽधारयत् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात् स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥[1]

—अलंकारसर्वस्व पृष्ठ १२२, सा० द० १०.१२ (वृत्ति)

इस पद्य में भी कवि को दोनों पक्षों—माधव अर्थात् विष्णु, और उमाधव अर्थात् उमा का धव (पति) अर्थात् महादेव—के अर्थ अभीष्ट हैं।

इस पद्य में उद्भट और रुय्यक के अनुसार वस्तुतः तुल्ययोगिता नामक अलंकार होना चाहिए था, क्योंकि इसमें दोनों प्रकृतों का, विष्णु और महादेव का, एक धर्म से सम्बन्ध बताया गया है, पर श्लेष का चमत्कार तुल्ययोगिता के चमत्कार पर आच्छादित हो गया है। अतः श्लेष अलंकार है।

किन्तु मम्मट और विश्वनाथ के मत में यहाँ केवल श्लेष का ही चमत्कार है। यहां तुल्ययोगिता अलंकार प्राप्त ही नहीं है। क्योंकि एक तो विष्णु और महादेव—इन दोनों प्रकृत पक्षों का यहां एक धर्म से सम्बन्ध स्थिर ही नहीं किया गया। जैसे विष्णु ने यदि 'अगं गां च योऽधारयत्' अर्थात् जिसने [कृष्ण-रूप से] अग (गोवर्धन पर्वत) को, और [कूर्म-रूप से] गो (पृथ्वी) को धारण किया था, तो महादेव ने 'गंगां च योऽधारयत्', अर्थात् जिसने गंगा को धारण किया था। और दूसरे, इस पद्य में कवि को दोनों पक्षों के वाच्यार्थ अभीष्ट है, और यही श्लेष का विषय है। अतः यहां श्लेष अलंकार पूर्णतः स्वतन्त्र रूप से ही है।

निष्कर्षतः—दोनों प्रकार के आचार्य यहाँ श्लेप अलंकार ही स्वीकार करते हैं, किन्तु अपने-अपने दृष्टिकोण से।

अब दूसरे प्रकार के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत हैं जहाँ किसी अन्य अलंकार के रहते हुए भी श्लेष का चमत्कार प्रमुखतः स्वीकार किया जाने के कारण उन्हें श्लेष अलंकार का ही उदाहरण माना जाता है—

नीतानामाकुलीभावं लुब्धैर्भूरिशिलीमुखैः ।
सदृशे वनवृद्धानां कमलानां तदीक्षणे ॥ सा०द०१०.११ (वृत्ति)

---

१. इस पद्य का सम्पूर्ण अर्थ साहित्यदर्पण (१०.१२ वृत्ति) में देखिए। यहां केवल उन स्थलों का अर्थ दिया जा रहा है जो कि 'श्लेप' के प्रसंग में अभीष्ट हैं।

[इस [सुन्दरी] की आँखें कमलों अर्थात् पद्मों और हरिणियों के सदृश हैं (मृगभेदेऽपि कमलः इति मेदिनीकोशः)। एक ओर पद्म तो अनेक लुब्ध (लोभी) शिलीमुखों (भ्रमरों) से आकुलीभाव (संकुलता) को प्राप्त वन (जल) में बढ़े हुए हैं, और दूसरी ओर मृग अधिक शिलीमुख (वाणों) वाले लुब्धों (शिकारियों) द्वारा आकुलीभाव (त्रासभाव) को प्राप्त हैं, तथा वन (जंगल) में पड़े हुए हैं।]

उद्भट और रुय्यक के अनुसार इस पद्य में भी यद्यपि तुल्ययोगिता अलंकार प्राप्त है, क्योंकि यहाँ दो अप्रकृतों पद्म और हरिणी का एक धर्म से सम्बन्ध स्थापित किया गया है, किन्तु श्लेप का चमत्कार इस अलंकार के चमत्कार को आच्छादित कर देता है। तुल्ययोगिता का चमत्कार श्लेप के आगे गौण है, वह इस अलंकार के चमत्कार का पोषण करता है। अतः यहाँ श्लेप अलंकार है। ठीक यही स्थिति मम्मट और विश्वनाथ को भी स्वीकृत है।

इस प्रकार श्लेप की इस दूसरी स्थिति में ये दोनों प्रकार के आचार्य परस्पर एक ही आधार पर सहमत हैं।

अब तीसरे प्रकार के उदाहरण लीजिए जहाँ मम्मट और विश्वनाथ के मत में श्लेप स्वयं गौण बन कर किसी अन्य अलंकार की पुष्टि करता है। विरोधाभास और परिसंख्या अलंकारों के उदाहरण इसी श्रेणी में आते हैं—

(क) सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च। (कादम्बरी : कथामुख)

किसी सुन्दरी कन्या के इस वर्णन में विरोध यह है कि उसे 'बाल (अप्रौढ़) अन्धकार जिसके पास रहता है, ऐसे भास्वान् (सूर्य) की मूर्ति' कहा गया है, और इस परिहार यह है कि 'वह (सुकन्या) बाल-(केश-) रूप अन्धकार जिसके पास रहता है, ऐसी भास्वत् (चमकदार) मूर्ति वाली है।' इस प्रकार यहां 'बाल' और 'भास्वत्' शब्दों में श्लेप का चमत्कार विरोधाभास के चमत्कार का पोषक है। अतः यहाँ 'श्लेप' की स्वीकृति न होकर विरोधाभास अलंकार माना जाता है। इसी प्रकार—

(ख) यस्मिंश्च राजनि जितजगति चित्रकर्मसु वर्णसंकराश्चापेषु गुणच्छेदाः × × ×। (कादम्बरी, कथामुख)

अर्थात्, जगत् को जीतने वाले उस राजा के राज्य में चित्रकारी में ही वर्णों (रंगों) का संकर (सम्मिश्रण) होता था [अन्यथा 'वर्णसंकर' नहीं था], धनुषों में ही गुणों (रस्सियों) का विच्छेद होता था [अन्यथा गुणों का कहीं नाश नहीं होता था।]

इस कथन में भी श्लेष का चमत्कार परिसंख्या के चमत्कार का पोषक है। अतः यहाँ परिसंख्या अलंकार ही है।

इसी प्रसंग के सन्दर्भ में रुद्रट का निम्नोक्त कथन उल्लेखनीय है। इससे विषय के स्पष्टीकरण में एक नयी दिशा मिलेगी—

स्फुटमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु ।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः ॥ का० अ० ४.३२

अर्थात्, यद्यपि उपमा और समुच्चय ये दोनों स्पष्टतः अर्थालंकार हैं, किन्तु ये दोनों अलंकार [प्रकृत और अप्रकृत दोनों पक्षों के लिए] सामान्य अर्थात् एक-समान शब्दों को धारण करते हुए भी सम्भव होते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि उपमा और समुच्चय अर्थालंकार हैं, किन्तु ये दोनों शब्दगत समानता पर भी आधारित रहते हैं। रुद्रट के इसी कथन को उद्धृत करते हुए मम्मट और उनके अनुकरण पर विश्वनाथ ने यह निष्कर्ष निकाला कि उपमा अलंकार के अन्तर्गत उपमेय और उपमान में गुण और क्रिया का साम्य तो होता ही है, साथ ही उनमें शब्द-साम्य भी रहता है।[1] उदाहरणार्थ—

सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव ।[2]
—का० प्र० ६.१२० वृत्ति

अर्थात्, यह नगर अब चन्द्र-बिम्ब के समान हो गया है, [क्योंकि एक ओर] चन्द्र-बिम्ब 'सकल-कल' है, अर्थात् 'सकल कलाओं से युक्त' है, [तो दूसरी ओर] यह नगर भी 'सकलकल' अर्थात् 'कलकल (शोर) से युक्त' है।

यह उदाहरण रुद्रट-प्रस्तुत नहीं है, इसे मम्मट और विश्वनाथ ने प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यहाँ उपमा अलंकार मानना चाहिए, श्लेष अलंकार नहीं। यह उपमा 'सकलकल' इस शब्द-साम्य पर आधारित है। किन्तु हमारा विचार है कि यहाँ श्लेष का ही चमत्कार है। निस्सन्देह यहाँ कवि का उदिष्ट उपमा की स्थापना है, किन्तु सहृदय श्लेष से ही चमत्कृत होता है, उपमा का चमत्कार उसे गौण प्रतीत होता है, यहाँ तक कि सुरुचिपूर्ण पाठक को ऐसे स्थलों में उपमा हास्यास्पद-सी प्रतीत होती है। वस्तुतः, कवि की विवक्षा से बढ़कर सहृदय का

---

१. साहित्यदर्पण की शालग्राम-कृत विमला टीका में इसे दीपक अलंकार का उदाहरण बताया गया है।

२. का० प्र० ९ म उ० तथा सा० द० १०म परि० (श्लेष अलंकार)

भावोद्वेलन ही काव्यगत सौन्दर्य का निर्णायक होता है। अतः उक्त कथन में उपमा अलंकार के स्थान पर श्लेष अलंकार ही मानना चाहिए। वस्तुतः, यहां भी वही स्थिति मान्य है जिसे '**नीतानामाकुलीभावम्......**' उपर्युक्त पद्य में दोनों प्रकार के आचार्यो ने स्वीकार करते हुए तुल्ययोगिता के स्थान पर श्लेष का चमत्कार माना था। अस्तु! हाँ, '**सकलकलम्**......' इस कथन में यदि हम चाहें तो श्लेष को उपमापुष्ट, उपमाश्रित, उपमाजन्य, उपमामूलक, उपमागर्भित आदि में से किसी एक विशेषण के साथ समन्वित कर सकते हैं। जब श्लेषमूलक विरोधाभास, परिसंख्या आदि अनेक अलंकार स्वीकृत किये जाते हैं तो उपमामूलक श्लेष अलंकार स्वीकृत करने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

वस्तुतः, मम्मट और विश्वनाथ को उक्त उद्धृत कारिका से पूर्व रुद्रट की इससे पहली कारिका भी उद्धृत करनी चाहिए थी—

भाषाश्लेषविहीनः स्पृशति प्रायोऽन्यमप्यलंकारम्।
धत्ते वैचित्र्यमयं सुतरामुपमासमुच्चयः ॥ का० अ० ४.३१

अर्थात् 'भाषा-श्लेष को छोड़कर [अपने इतर प्रकारों से युक्त] यह [श्लेष अलंकार] अन्य अलंकारों का भी प्रायः स्पर्श करता है, [और जब वह] उपमा और समुच्चय का [स्पर्श करता है तो अत्यधिक] वैचित्र्य (चमत्कार) को धारण कर लेता है। वस्तुतः, रुद्रट यहां दण्डी के इस कथन से ही प्रभावित हैं कि 'श्लेष अलंकार प्रायः सभी वक्रोक्तियों (अर्थात् अलंकारों) की शोभा को बढ़ा देता है—**श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्।** (का० आ० २.२६३)

इस प्रकार हमने देखा कि रुद्रट के उक्त कथन में मूल प्रसंग श्लेष का है, और इसी के ही अधिक चमत्कार धारण करने की चर्चा उन्हें अभीष्ट है। स्वयं उनका उक्त उदाहरण—'**सुरचितवराहवपुषस्तव च हरेश्चोपमा घटते**' इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि यहां उपमामूलक श्लेष है—प्रस्तुत नृप और अप्रस्तुत विष्णु के औपम्य से बढ़कर यहाँ श्लेष का ही चमत्कार सहृदय-हृदयहारी है।

इसी प्रसंग से सम्बद्ध एक शंका मम्मट एवं विश्वनाथ ने उपस्थित की है कि यदि '**सकलकलम्......**' इत्यादि स्थलों में उपमा के स्थान पर शब्द-श्लेष का चमत्कार माना जाए तो '**कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्**' इस उदाहरण में पूर्णोपमा के स्थान पर अर्थश्लेष ही मानना चाहिए, क्योंकि 'मनोज्ञ' शब्द द्वयर्थक न सही, पर कमल की 'मनोज्ञता' और मुख की 'मनोज्ञता' में तो अन्तर है ही। अर्थश्लेष की परिभाषा भी यही है—

शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम्। सा० द० १०.५८

स्पष्ट है कि 'मनोज्ञ' शब्द का यहाँ 'सौन्दर्य' की ओर संकेत है जो कि कमलगत सौन्दर्य और मुखगत सौन्दर्य दोनों का वाचक है। इन दोनों सौन्दर्यों में निस्सन्देह पार्थक्य एवं अन्तर है। अतः जिस प्रकार '**सकलकलम्...**' इस उपर्युक्त उदाहरण में उपमा को गौण समझ कर शब्दश्लेष माना जाता है, उसी प्रकार '**कमलमिव मुखं मनोज्ञम्**' में भी उपमा को गौण समझ कर अर्थश्लेष मानना चाहिए। किन्तु मम्मट का यह तर्क अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी इस दृष्टि से अमान्य है कि यहां भी सहृदय का भावोद्वेलन ही निर्णायक आधार है। स्वयं मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार '**कमलमिव मुखं मनोज्ञम्**' में यदि उपमा अलंकार का चमत्कार मान्य है, और निम्नोक्त पद्य—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥

—का० प्र० ६.३७६, सा० द० १०.१२ (वृत्ति)

—में अर्थश्लेष का, (यद्यपि दोनों में साम्य-तत्त्व लगभग एक-समान है,) तो इसका एक मात्र कारण सहृदय का भावोद्वेलन ही है। अतः केवल इसी आधार पर '**सकलकलम्**......'आदि कथनों में कवि द्वारा साम्य के उद्दिष्ट रहने पर भी सहृदय का पलड़ा अत्यधिक भारी मानकर शब्दश्लेष स्वीकार करना चाहिए, उपमा नहीं।

निष्कर्षतः—

१. श्लेष अलंकार का क्षेत्र स्वतन्त्र भी रहता है, तथा अन्य अलंकारों से युक्त भी।

२. जहां श्लेष के साथ अन्य अलंकार रहते हैं वहाँ कभी यह उनसे पुष्ट होता है और कभी उनका पोषक रहता है।

३. किन्तु उक्त तीनों स्थितियों का निर्णायक आधार सहृदय का भावोद्वेलन है, न कि कवि की विवक्षा।

[—क्रमशः]

१३. शास्त्रीय समीक्षा [भाग : ३]

[१]

इसी प्रकार की शास्त्रीय समीक्षा मुक्तक-काव्य के अतिरिक्त प्रबन्ध-काव्य पर भी घटित होती है। प्रबन्ध-काव्य में कथानक के सभी प्रकरण अपने-से पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती प्रकरणों के अनुस्यूत होकर, एक-दूसरे को मानो आगे ठेलते और धकेलते हुए, कथानक के अंतिम बिन्दु की ओर निरन्तर अग्रसर होते हुए चलते हैं, और उनके इस बिन्दु पर पहुँच जाने पर जब कथानक की समाप्ति हो जाती है, तो पाठक अथवा सहृदय को काव्य के प्रबन्धत्व की—उसके सामूहिक एवं समग्र रूप की—अनुभूति होती है। इससे पूर्व वह प्रत्येक प्रकरण से प्रभावित हो रहा होता है, किन्तु इस अंतिम स्थल पर पहुँचकर सहृदय सभी प्रकरणों के संश्लिष्ट रूप से प्रभावित होता है। कुन्तक ने इसी आशय को लक्ष्य में रखकर प्रकरण और प्रबन्ध-विषयक कतिपय धारणाएं प्रस्तुत की हैं।

पहले प्रकरण-विषयक कुछ धारणाएं लीजिए—

—रघुवंश महाकाव्य में कौत्स अपने गुरु को दक्षिणा देने के निमित्त धन-प्राप्ति के लिए राजा रघु के पास जाता है, किन्तु उसके आने से पूर्व ही रघु यज्ञ में अपना सर्वस्व दान कर चुके थे। अतः कौत्स की इच्छा-पूर्ति के लिए रघु कुबेर पर आक्रमण करने गये और रात्रि को स्वर्ण-वृष्टि से रघु का कोप भर गया। अब इधर रघु है कि कौत्स को अपार सम्पत्ति ले लेने का आग्रह करता है, और उधर कौत्स है कि गुरु-दक्षिणा से अधिक लेने को तैयार नहीं होता—दाता हो तो ऐसा और याचक हो तो ऐसा! साकेतवासी लोगों के लिए ये दोनों अभिनन्दनीय थे—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूताम् अभिवन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥ रघुवंश ५.३१

संस्कृत का काव्य-समीक्षक ऐसे स्थलों में 'पात्र-प्रवृत्ति-वक्रता' मानता है, क्योंकि इस प्रकार से प्रकरणों से पाठक को यह स्वतः ज्ञात हो जाता है कि अमुक पात्र की प्रकृति कैसी है, उसकी तत्कालीन मानसिक स्थिति कैसी है, आदि। परिणामतः, पाठक उसके गुणों के कारण उसका पक्षधर हो जाता है, अथवा उसके दोषों के कारण

उसका विपक्षधर हो जाता है। उक्त प्रकरण से हमें स्पष्टतः ज्ञात हो जाता कि एक ओर कौत्स धन-लोलुप नहीं है और दूसरी ओर रघु उदारचेता मानव है।

(वक्रोक्तिजीवित ४.१,२)

—'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक में कालिदास ने दुर्वासा के शाप की कल्पना द्वारा दुष्यन्त के चरित्र को लाञ्छित होने से बचा लिया[1], अथवा 'उदात्तराघव' नाटक में मायुराज ने मारीच-वध के लिए राम को नहीं, लक्ष्मण को भेज दिया तो संस्कृत का काव्य-समीक्षक ऐसे प्रकरणों में **'उत्पाद्यकथा-वक्रता'** मानता है। ऐतिहासिक कथावस्तु के किसी प्रकरण में कवि-कल्पना द्वारा तनिक से परिवर्तन से मधुर काव्य-सौन्दर्य की उत्पत्ति कर देना 'उत्पाद्यकथा-वक्रता' कहाता है। (वक्रोक्तिजीवित ४.३४)

—'उत्तररामचरित' नाटक के पहले-अंक में राम ने जृम्भकास्त्रों की अद्भुत शक्ति का वर्णन किया, और पांचवें अंक में लव ने उन अस्त्रों का प्रयोग किया। इन दोनों में से पहला दूसरे का उपकारक है, क्योंकि दूसरे प्रसंग में पाठकों को इन अस्त्रों की अद्भुतता पहले ही ज्ञात थी, अन्यथा वे इसे असम्भव समझते। और फिर, ये दोनों प्रसंग नाटक के अन्त में 'राम-सीता-मिलन' इस प्रमुख कार्य (फलबन्ध) का उपकार करते हैं। कुन्तक इस प्रकार की प्रकरण-सम्बद्धता को **'उपकार्योपकारक-भाव-वक्रता'** कहता है, क्योंकि ऐसे स्थलों में, जैसा कि हमने ऊपर देखा, प्रासंगिक कथाएं परस्पर एक-दूसरे का उपकार करती हुईं अन्ततः प्रमुख कार्य (फल-बन्ध) का उपकार करती हैं। (वक्रोक्तिजीवित ४. ५, ६)

—मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य ने उन्दुरक नामक एक पुरुष को नियुक्त किया कि वह आत्महत्या का प्रपंच रचे, और इसी प्रपंच के फल-स्वरूप चाणक्य राक्षस को जीवित बन्दी बना सकने में सफल हुआ। कुन्तक के शब्दों में ऐसे स्थलों में **'अवान्तरवस्तु-वक्रता'** मानी जाती है, जहाँ कवि अथवा नाटककार किसी अप्रधान किन्तु सुन्दर प्रसंग की उद्भावना द्वारा प्रधान कथावस्तु की सिद्धि कर देता है।

(वक्रोक्तिजीवित ४.११)

---

१. **विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोनिधिं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥**

—अभिज्ञान० ४.१

[नहीं देखती तापस को तू जो खड़ा द्वार पर तेरे
मन में समाये बैठी है तू, भूल के सुध-बुध जिसको—
कभी न तुझको चेतेगा वह बीती याद दिलाए,
जैसे कोई जन उन्मादी पूर्व-कथा बिसराए।]—हिन्दी-रूपान्तर

अब प्रबन्ध-विषक कतिपय धारणाएं लीजिए—

—जब कोई कवि आधार-कथा को हृदयहारी बनाने के लिए अपनी कल्पना के द्वारा बहुविध परिवर्तन कर देता है तो कुन्तक जैसे मर्मज्ञ आचार्य ने उन स्थलों पर प्रबन्धवक्रता के अनेक रूपों के सौन्दर्य का अवलोकन किया है। उदाहरणार्थ, शान्त रस-प्रधान रामायण पर आधारित 'उत्तररामचरित' को करुणरस-प्रधान[1] नाटक के रूप में, अथवा शान्तरस-प्रधान महाभारत पर आधारित 'वेणीसंहार' को वीररस-प्रधान नाटक के रूप में प्रस्तुत करने पर कुन्तक इसे **'मूलरस-परिवर्तन'** नामक प्रबन्ध-वक्रता कहता है। (वक्रोक्तिजीवित ४.१६,१७)

—जहां कवि नायक का उत्कर्ष दिखाने के उद्देश्य से इतिहास-प्रसिद्ध कथा के किसी विशेष-प्रकरण पर आकर कथा की समाप्ति कर देता है, जैसाकि 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य में कथा की समाप्ति वहाँ पर कर दी गयी है जहां अर्जुन किरातवेशधारी शिव के साथ युद्ध करके पाशुपत अस्त्र प्राप्त कर लेता है, तो वहां कुन्तक के अनुसार प्रबन्ध-वक्रता का **'प्रकरण-विशेष पर कथा-समाप्ति'** नामक भेद मानना चाहिए।

—जहां एक विशेष फल की सिद्धि के लिए तत्पर होने पर अन्य फलों की भी प्राप्ति दिखायी जाती है तो ऐसे स्थलों पर कुन्तक ने **'आनुषंगिक फल-प्राप्ति'** नामक भेद माना हैं। जैसे कि नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन पिता की सेवार्थ वन में जाता है, वहाँ उसका मलयवती से प्रेम तथा विवाह होता है। फिर वह शंखचूड नामक नाग की रक्षार्थ अपने प्राणों का त्याग कर नागवंश को नष्ट होने से बचाता है। इस प्रकार नायक को ये सभी फल आनुषंगिक रूप में प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार वह पितृभक्त होने के साथ-साथ एक सफल प्रेमी और लोकोपकारक बन गया।

—एक मूल कथा पर आधारित परस्पर भिन्न प्रबन्धों की रचना से भी पाठक को तुलनात्मकता के द्वारा एक प्रकार का सुख मिलता है। जैसे रामायण पर आधारित वीरचरित, बालरामायण, प्रतिमा नाटक, रघुवंश काव्य आदि। इसे कुन्तक ने **'कथा-साम्य से सम्बद्ध विलक्षण प्रबन्धता'** कहा है।

इसी प्रकार प्रबन्ध-सौन्दर्य के अन्य भी रूप हो सकते हैं। इस सौन्दर्य को दण्डी ने भाविक अलंकार कहा है, आनन्दवर्धन ने 'प्रबन्धगत ध्वनि,' और कुन्तक ने 'प्रबन्ध-वक्रोक्ति।' प्रबन्ध-सौन्दर्य के सम्बन्ध में कुन्तक का निम्नोक्त मन्तव्य अत्यन्त

---

१. इस लेख के लेखक के अनुसार 'उत्तररामचरित' नाटक में विप्रलम्भ शृंगार रस है। (देखिए : भारतीय काव्यशास्त्र : पृष्ठ २४५)

महत्त्वपूर्ण है कि जिस प्रकार एक-सा शरीर धारण करने वाले (अर्थात् समान इन्द्रियां रखते हुए) भी प्राणी अपने-अपने गुणों से पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार एक ही मूल कथा के होने पर भी प्रवन्ध-काव्य अपने-अपने गुणों, कवि के कौशल एवं कल्पना से जन्य रचना-विधानों तथा चमत्कारोत्पादक स्थलों के कारण पृथक्-पृथक् भासित होते हैं—

कथोन्मेषसमानेऽपि वपुषीव निजैर्गुणैः ।
प्रबन्धाः प्राणिन इव प्रभासन्ते पृथक्-पृथक् ॥ व० जी० ४.२५ (४२)

× × ×

अब प्रबन्ध-काव्य और नाटक के **कथानक** को लक्ष्य में रखकर विचार किया जाता है।

संस्कृत के नाट्याचार्यों ने नाटक के कथानक पर विचित्र दृष्टियों से विचार किया है, और लगभग सभी दृष्टियां प्रवन्ध-काव्य (महाकाव्य और खण्डकाव्य; विशेषत: महाकाव्य) पर भी घटित होती हैं।

नाटक और महाकाव्य की मुख्य अथवा मूल कथा **'आधिकारिक'** कहाती है, और गौण कथा को **प्रासंगिक** कथा कहते हैं। मुख्य कथा को आधिकारिक कहने का कारण यह है कि 'अधिकार' शब्द से यहाँ तात्पर्य है फल का स्वामित्व। किसी कथानक में फल का स्वामी नायक होता है, और नायक से सम्बद्ध कथानक 'आधिकारिक' कहाता है, अर्थात् मुख्य कथा अथवा मूल कथा को 'आधिकारिक' कहते हैं। जैसे रामायण में रामचन्द्र की कथा। इसके विपरीत प्रासंगिक कथा मुख्य कथा की अंग (सहायक) होती है, जैसे रामायण में सुग्रीव या शवरी की कथा। आधिकारिक कथा अपने निश्चित लक्ष्य (नायक द्वारा प्राप्तव्य फल-प्राप्ति) की ओर निरन्तर बढ़ती चलती है, और प्रासंगिक कथा अपने आपको मुख्य कथा में खो देती है और इसे आगे बढ़ाने में सहायक होती है, ऐसे जैसे क्षुद्र नदी-नाले एक महासरिता में मिलकर उसे आगे बढ़ाने में सहायक बनते हैं।

प्रासंगिक कथावस्तु के दो भेद हैं—**पताका और प्रकरी**। (१) पताका कथा मुख्य कथा में काफी दूर तक चली जाती है। इसका नायक आधिकारिक कथा के नायक से अलग होता है, उसके गुण भी उससे न्यून होते हैं, किन्तु यह उसका साथी होता है। जैसे रामायण काव्य का सुग्रीव, या मालतीमाधव नाटक का मकरन्द पताका-नायक हैं, और इनकी कथा 'पताका' कहाती है। (२) नाटक या काव्य में कुछ ही काल तक चलकर जो कथा रुक जाती है उसे **प्रकरी** कहते हैं। जैसे रामायण में शवरी-कथा।

कथानक को मौलिकता अथवा अमौलिकता की दृष्टि से तीन प्रकार का माना गया है—

(१) **प्रख्यात**—रामायण, महाभारत, पुराण, या बृहत्कथा आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों से सम्बन्धित घटना अथवा किसी लोक-प्रसिद्ध घटना पर आधारित कथा को प्रख्यात कहते हैं। इसमें कवि अथवा नाटककार की कल्पना का अंश दबा सा रहता है। जैसे उत्तररामचरित, अभिज्ञानशाकुन्तल, रघुवंश, मुद्राराक्षस आदि।

(२) **उत्पाद्य**—कवि-कल्पना-प्रसूत कथा को उत्पाद्य कहते हैं। जैसे—मृच्छकटिक, मालतीमाधव आदि।

(३) **मिश्र**—पुराण, इतिहास आदि का आधार लेते हुए भी जिन कथाओं में कवि अथवा नाटककार अपनी कल्पना का यथेष्ट एवं प्रचुर प्रयोग करता है उसे मिश्र कहते हैं। हमारे विचार में 'कुमारसंभव' को मिश्र कहना चाहिए;

कथा-विन्यास—संस्कृत-काव्यशास्त्र में कथा-विन्यास के ये तीन आधार माने गये हैं— (क) कार्यावस्था, (ख) अर्थप्रकृति तथा (ग) सन्धि।

(क) **कार्यावस्था**—कार्य की सिद्धि के निमित्त नायक की मानसिक दशा को ध्यान में रखते हुए समस्त कथानक (कार्य) के विकास को पांच अवस्थाओं में बाँटा गया है—

(१) **आरम्भ**—इसमें कथानक का आरम्भिक भाग आता है, जिससे नायक की इच्छा या उसके प्रमुख उद्देश्य का पता चलता है। मुख्य फल की सिद्धि के लिए जो उत्सुकता होती है उसे आरम्भ कहते हैं—

भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये। सा० द० ६.७१

औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे। दश० १.२०

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में कुमारी रत्नावली को अन्तःपुर में रखने के लिए यौगन्धरायण की उत्कण्ठा।

(२) **प्रयत्न**—इसमें नायक के उद्देश्य में बाधक विघ्नों एवं उनकी पूर्ति के निमित्त किये गये प्रयत्नों का चित्रण होता है। फल-प्राप्ति न होने पर उसके लिए अत्यन्त त्वरायुक्त व्यापार को यत्न कहते हैं—

प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः। सा० द० ६.७२, दश० १.२१

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में रत्नावली के इस कथन के बाद उसका चित्र-लेखन में

संलग्न हो जाना—'राजा उदयन के दर्शन का कोई अन्य उपाय तो नहीं है, इसीलिए उसका चित्र जैसा-तैसा अंकित करके अपना अभीष्ट-प्राप्ति का साधन जुटाती हूँ।' समागम के लिए यह त्वरान्वित व्यापार 'यत्न' कहाता है। इसी प्रकार रामायण में समुद्र-बन्धन आदि को भी 'यत्न' कहा जाएगा।

नाटक में यह कार्यावस्था विशेष महत्त्व की है। नाटकीय एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आरम्भ तथा फल-प्राप्ति के बीच विघ्न का होना आवश्यक है जिससे संशय का आविर्भाव होता है। फलतः, प्रेक्षकों की जिज्ञासा तीव्र होती है तथा नाटक के भावी क्रम के प्रति जागरूकता को प्रेरणा मिलती है। विघ्न का उद्‌भव विपक्षियों से अथवा परिस्थितियों से अथवा अप्रत्याशित दैवी घटनाओं से सम्भव होता है, जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में मुनि का शाप और मुद्रिका-स्खलन।

विघ्न के उद्‌भव से नाटक के मूल तत्त्व 'संघर्ष' का जन्म होता है। यह संघर्ष बाहरी घटनाओं में होने पर अत्यन्त स्थूल होता है, परन्तु जब संघर्ष मानसिक वृत्तियों में दृष्टिगोचर होता है तो वह सूक्ष्म रूप धारण करता है। संघर्ष जितना सूक्ष्म होगा नाटक उतना ही प्रभावशाली, अन्तरंग तथा प्रख्यात होगा। कालिदास तथा भवभूति के नाटकों की प्रसिद्धि का यही कारण है।

(३) **प्राप्त्याशा**—इस अवस्था में नायक का उत्कर्ष होने लगता है। उसके मार्ग की कठिनाइयां दूर होने लगती हैं और उसे फल-प्राप्ति की आशा होने लगती है। जहां प्राप्ति की आशा, उपाय तथा अपाय (विघ्न) की आशंकाओं से घिरी हो, किन्तु साथ ही प्राप्ति की संभावना भी हो, उस अवस्था को 'प्राप्त्याशा' कहते हैं—

उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभवः ॥

—दश० १.२१, सा० द० ६.७२

जैसे 'रत्नावली' नाटिका के तीसरे अंक में वेश-परिवर्तन और अभिसरण आदि तो संगम के उपाय हैं, किन्तु वासवदत्ता रूप अपाय (विघ्न) की आशंका भी बनी रहती है। अतः समागम-रूप फल की प्राप्ति अनिश्चित होने से 'प्राप्त्याशा' है।

(४) **नियताप्ति**—यह वह अवस्था है जबकि अपायों (विघ्नों) के दूर होने से नायक को फल-प्राप्ति का निश्चय हो जाता है—

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ॥

—दश० १.२१, सा० द० ६.७३

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में राजा का यह कथन कि 'देवी को प्रसन्न करने के

अतिरिक्त अब तो मुझे अन्य कोई उपाय दिखायी नहीं देता'—इससे फल-प्राप्ति सूचित होती है।

(५) फलागम—इसमें नायक को फल-प्राप्ति हो जाती है—

(क) **समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः।** दश० १.२२

(ख) **सावस्था फलयोगः स्याद् यः समग्रफलोदयः।** सा० द० ६.७२

जैसे 'रत्नावली 'नाटिका में चक्रवर्तित्व के साथ-साथ रत्नावली की भी प्राप्ति।

(ख) अर्थप्रकृति—'अर्थ' से तात्पर्य है प्रयोजन या वस्तु का फल, और 'प्रकृति' का अर्थ है कारण या हेतु। इस प्रकार नाटक में फल-रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए मिलकर व्यापार करने वाली अनेक अवान्तर घटनाएं 'अर्थप्रकृतियां' कहलाती हैं। इनसे नाटक के प्रयोजन, फल अथवा लक्ष्य का पता चलता है—

अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतवः। दशरूपक १.१८ (वृत्ति)

'अर्थप्रकृति' तथा 'अवस्था' में अन्तर है। 'अर्थप्रकृति' का सम्बन्ध कथा से है। इसके होने पर नाटक का रूप या ढांचा खड़ा होता है, परन्तु 'अवस्था' का सम्बन्ध नायक की मानसिक दशा से है।

अर्थप्रकृतियां पांच हैं—

(१) बीज—फल के प्रथम हेतु को 'बीज' कहते हैं। प्रारम्भ में इसका कथन बहुत छोटे रूप में होता है, किन्तु आगे चलकर विस्तार होने पर वही नाटक में अनेक रूपों में ऐसे फैलता है जैसे छोटा-सा बीज अनेक रूपों में विस्तार पा लेता है—

(क) **स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।** दश० १.१७

(ख) **अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद् विसर्पति।**
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते॥ सा० द० ६.६५-६६

जैसे रत्नावली नाटिका का प्रमुख विषय है—उदयन तथा रत्नावली का मिलन, और यही कार्य मन्त्री यौगन्धरायण को अभीष्ट है। उनकी यह चेष्टा विष्कम्भक में बीज के रूप में प्रस्तुत की गयी है। उसका यह कथन "कः संदेहः…वृद्धिहेतौ' बीज का संकेत करता है। इस कथन का अर्थ है—'इसमें क्या सन्देह है × × × अनुकूल भाग्य कहीं से भी लाकर इष्ट वस्तु को प्राप्त करा देता है। × × × स्वामी

की उन्नति के कार्य को प्रारम्भ करके तथा दैव के द्वारा सहायता मिलने पर मैं अपने कार्य में सफलता प्राप्त करूंगा।'

(२) बिन्दु—अवान्तर कथा के विछिन्न होने पर जो घटना उसे प्रधान कथा के साथ जोड़ने वाली होती है, उसे बिन्दु कहते हैं। धनिक का कहना है कि 'बिन्दु नाटक में उसी प्रकार फैला दिखायी पड़ता है जिस प्रकार पानी के ऊपर तेल'[1]—

(क) **अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्।**

—दश० १.१७, सा० द० ६.६६

(ख) **बिन्दुर्जले तैलबिन्दुवत् प्रसारित्वात्।** दश० १.१७ (वृत्ति)

(३) **पताका**—जो प्रासंगिक कथा दूर तक व्याप्त हो उसे पताका कहते हैं—

व्यापि प्रासंगिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते। सा० द० ६.६७

तात्पर्य यह कि मूल कथानक को फलोन्मुख करने में योग देने वाली वे बड़ी प्रासंगिक कथाएं जो दूर तक चली जाती हैं, 'पताका' कहाती हैं। जैसे—रामायण में सुग्रीव की कथा, वेणीसंहार में भीमसेन की कथा, तथा अभिज्ञानशाकुन्तल में विदूषक की कथा। यह उल्लेख्य है कि पताका-नायक का अपना कोई भिन्न फल नहीं होता, अर्थात् प्रधान नायक के फल को सिद्ध करने के लिए ही उसकी समस्त चेष्टाएं होती हैं—**पताकानायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम्।** (सा० द० ६.६७) 'पताका' का निर्वाह 'गर्भ' या विमर्श सन्धि में कर दिया जाता है। जैसे, सुग्रीव की राज्य-प्राप्ति, और कहीं-कहीं पताका तो निर्वहण सन्धि तक भी चली जाती है।

(सा० द० ६.६८-ख तथा वृत्ति)

---

१. जैसे रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता के द्वारा कामदेव की पूजा एक अवान्तर वृत्त है, इससे एक अर्थ समाप्त हो जाता है और कथा में विशृंखलता आ जाती है। इसे शृंखलाबद्ध करने के लिए वहां नेपथ्य से मागधों की उक्ति के द्वारा 'महाराज उदयन के चरणों की बाट लोग इस तरह देख रहे हैं जैसे चन्द्रमा की किरणों की'—यह सूचना देकर सागरिका के रूप में वहां रहती हुई रत्नावली के द्वारा 'क्या वह राजा उदयन है, जिसके लिए पिता जी ने मुझे दे दिया है' यह उक्ति कहलवा कर कथा का अच्छेद (सन्धान) कर दिया गया है। यह अच्छेद-करण-रूप 'बिन्दु' वृत्त में आगे जाकर ठीक वैसे ही प्रसरित होता है जैसे तेल की बूंद पानी में फैलती है। इसीलिए इसे 'बिन्दु' कहते हैं। (दशरूपक १.१७)

[डा० भोलाशंकर व्यास की 'चन्द्रकला' व्याख्या से उद्धृत।]

(४) **प्रकरी**—प्रसंगवश आगत तथा एक-देश-स्थित चरित (कथांश) को प्रकरी कहते हैं। प्रकरी-नायक का अपना कोई फलान्तर नहीं होता—

प्रासंगिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता ॥
प्रकरी-नायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् । सा० द० ६.६८-६९

जैसे रामायण में शबरी आदि की कथाएं।

(५) **कार्य**—वह साध्य जिसकी सिद्धि के लिए नाटक में सारी सामग्री एकत्र की जाती है, 'कार्य' कहलाता है—

अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः ।
समापने तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति संमतम् ॥ सा० द० ६.६९-७०

जैसे रामायण में रावण-वध।

सन्धि—किसी काव्य अथवा नाटक के कथांशों का सम्बन्ध एक ओर उपर्युक्त 'अर्थ-प्रकृति' के रूप में 'कार्य' से होता है, और दूसरी ओर 'अवस्था' के रूप में फलागम से। इन दोनों—अर्थप्रकृति और अवस्था—को सम्बद्ध करने पर सन्धि हो जाती है। सन्धि का लक्षण है—

अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति । दश० १.२३, सा० द० ६.७५

एक प्रयोजन में अन्वित अर्थों के अवान्तर सम्बन्ध को सन्धि कहते हैं। सन्धि के एक प्रयोजन से सम्बन्धित कथा-वस्तु को दूसरे प्रयोजन से सम्बन्धित कथा-वस्तु के अंश से सम्बद्ध करना सन्धि कहाता है :—'**एकेन प्रयोजनेनाऽन्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसंबंधः सन्धिः।**' इस प्रकार 'सन्धि' कथानक के विकास में विशिष्ट योग प्रदान करती है। पांच अवस्थाओं तथा पांच अर्थ-प्रकृतियों का संघात इसी के द्वारा निष्पन्न होता है। सन्धि के पांच उद्देश्य हैं—१. इष्टार्थ की रचना, २. गोपनीय अंश का गोपन, ३. प्रकाशनीय अंश का प्रकाश, ४. राग-प्रयोग, तथा ५. आश्चर्य उत्पन्न करना—

इष्टस्यार्थस्य रचना गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम् ।
रागः प्रयोगस्याऽऽश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ॥ द० रू० १.५५

सन्धियां पांच हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण।

(१) **मुख**—'बीज' तथा 'प्रारम्भ' को मिलाने वाली संधि मुख-संधि है। यह नाटक का वह स्थल है जहां विविध कथाओं, उपकथाओं, रसों और वस्तुओं की की उद्भावना होती है—

यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा ॥
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम् । सा० द० ६.७६-७७

जैसे कि 'रत्नावली' नाटिका में पहला अंक।[1]

(२) प्रतिमुख—'बिन्दु' तथा 'यत्न' को मिलाने वाली संधि 'प्रतिमुख' कहाती है। यह नाटक का वह अंश है जहां मुख-संधि में उत्पन्न बीज कभी लक्षित होता है और कभी अलक्षित रहता है'—

फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः ॥
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्‌भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत्। सा० द० ६.७७-७८

(३) गर्भ—जब बीज के दिखने के बाद फिर से नष्ट हो जाने पर उसका अन्वेषण बार-बार किया जाता है तो गर्भसन्धि होती है—

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः। दश० १.३६

साहित्यदर्पणकार के शब्दों में गर्भसन्धि वहां मानी जाती है जहां पूर्व सन्धियों में कुछ-कुछ प्रकट हुए फल-प्रधान उपाय का ह्रास और अन्वेषण से युक्त बार-बार विकास हो—

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्‌भिन्नस्य किंचन।
गर्भो यत्र समुद्‌भेदो ह्रासान्वेषणवान् मुहुः ॥ सा० द० ६. ७८

यहां यह उल्लेख्य है कि फल को भीतर रखने के कारण इसे 'गर्भ' कहते हैं—**फलगर्भीकरणाद् गर्भः** (सा० द० ६.७८, वृत्ति) जैसे—रत्नावली के दूसरे अंक में सुसंगता की इस उक्ति में 'उद्‌भेद' है—हे सखि! तू इस समय नादान बन गयी है कि भर्ता के इस प्रकार समीप आ जाने पर भी कोप को नहीं छोड़ती।[2] उसी समय वासवदत्ता के प्रवेश से 'ह्रास' हुआ है। तीसरे अंक में राजा की इस उक्ति में 'अन्वेषण' है कि 'वसन्तक यह ज्ञात करने के लिए गया है कि क्या बात हो गयी है—पर देर लगा रहा है।[3] किन्तु फिर विदूषक की इस उक्ति में 'उद्‌भेद' है[4]।

---

१. जैसे रत्नावली के प्रथम अंक में वत्सराज व सागरिका के भावी समागम के हेतुरूप जिस अनुराग-बीज को बोया गया है, उसे दूसरे अंक में सुसंगता तथा विदूषक जान जाते हैं, इसलिए वह कुछ-कुछ प्रकट हो जाता है, तथा चित्रफलक-वृत्तान्त के कारण वासवदत्ता के द्वारा कुछ-कुछ गृहीत हो जाता है। इस प्रकार बीज के अंकुर का कुछदृश्य और कुछ अदृश्य रूप में उद्‌भिन्न होना प्रतिमुख-सन्धि है।

(दशरूपक १.३०, डा० भोलाशंकर व्यास कृत चन्द्रकला-व्याख्या से उद्धृत)

२. **सखि, अदक्षिणा इदानीमसि त्वम्, या एवं भर्त्रा हस्तेन गृहीतापि कोपं न मुञ्चसि।**

३. **तद्वार्तान्वेषणाय गतः कथं चिरयति वसन्तकः।**

४. **आश्चर्यं भोः कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशः प्रियवयस्यस्य परितोषो यादृशो मम सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यति।**

'अहो आश्चर्य है, मेरे प्रिय मित्र को कौशाम्बी के राज्य की प्राप्ति से भी इतनी प्रसन्नता नहीं हुई होगी, जितनी कि मुझसे इस प्रिय वचन को सुनकर होगी।' फिर भी वासवदत्ता जान गयी, अतः 'ह्रास' हुआ है। सागरिका के संकेत-स्थान में जाने से 'अन्वेषण' हुआ है और लता-पाश बनाने में उसी अनुराग का उद्भेद हुआ है। अस्तु !

इस सम्बन्ध में उल्लेख्य है कि गर्भ-सन्धि में प्राप्त्याशा तथा पताका का योग होना चाहिए। इनमें से पताका की आवश्यकता सर्वत्र नहीं रहती, किन्तु प्राप्त्याशा का होना नितान्त आवश्यक है।

(४) **विमर्श या अवमर्श**—इसमें बीज के अधिक विस्तार होने से कथानक में फलोन्मुखता आती है। इस फलोन्मुखता में क्रोध, शाप, विपत्ति, लोभ, व्यसन आदि से बाधा उत्पन्न हो सकती है, किन्तु यहां गर्भ-सन्धि की अपेक्षा फल-प्राप्ति की आशा कुछ अधिक होती है—

यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ॥
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः । सा० द० ६.७९-८०

जैसे—अभिज्ञानशाकुन्तल के चौथे अंक में अनुसूया के इस कथन—'हे प्रियंवदे, यद्यपि गान्धर्व विधि से विवाहित होकर शकुन्तला [अपने] अनुकूल पति को प्राप्त हो गयी है, इसलिए मेरा मन सुखी है, फिर भी इतनी बात विचारणीय है।'[1]—से लेकर सातवें अंक में दिखाये हुए शकुन्तला के प्रत्यभिज्ञान तक जितनी कथा है वह सब शकुन्तला के विस्मरण-रूप विघ्न से युक्त है।

विमर्श सन्धि में नियताप्ति तथा प्रकरी का योग अपेक्षित होता है, परन्तु प्रकरी की स्थिति वैकल्पिक है।

(५) **निर्वहण**—जहां कार्य तथा फलागम मिलते है और प्रयोजन की पूर्ण सिद्धि हो जाती है, वहां 'निर्वहण-सन्धि' होती है। यह नाटक का उपसंहार होती है। साहित्यदर्पणकार के शब्दों में—'बीज से युक्त मुख आदि सन्धियों में बिखरे हुए अर्थों का जहां एक प्रधान प्रयोजन में यथावत् समन्वय साधित किया जाए उसे निर्वहण सन्धि कहते हैं—

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ॥ सा० द० ६.८०

---

१. **अनुसूया**—हला प्रियंवदे, यद्यपि गान्धर्वेण विधिना निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तलाऽनुरूपभर्तृगामिनी संवृत्ता इति निर्वृतं मे हृदयं, तथापि एतावच्चिन्तनीयम्। (अभिज्ञान० ४र्थ अंक का आरम्भ)

जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक के सातवें अंक में शकुन्तला के परिज्ञान के पीछे की सम्पूर्ण कथा निर्वहण सन्धि का उदाहरण है।

× × ×

आइए, अब उक्त अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं और सन्धियों के प्रायोगिक पक्ष पर विचार करें। वस्तुतः, किसी काव्य अथवा नाटक को लक्ष्य में रखकर उपर्युक्त अर्थप्रकृत्तियों, अवस्थाओं और सन्धियों का परीक्षण करके यह निर्धारित कर सकना सरल नहीं है कि अमुक अर्थप्रकृति अथवा अवस्था अथवा सन्धि किसी काव्य अथवा नाटक के अमुक स्थल से प्रारम्भ होकर अमुक स्थल पर समाप्त होती है, क्योंकि कोई भी कवि इनको लक्ष्य में रखकर किसी ग्रन्थ का प्रणयन नहीं करता, और न ही ऐसा कर सकना संभव है, क्योंकि मानव-मन की विचार-तरंगों को समुद्र की उच्छल तरंगों के समान किसी सीमा-रेखा में बांध कर माप सकना असंभव है, फिर भी, सुविधा के लिए टीकाकारों तथा काव्याचार्यों ने इस दिशा में यथेष्ट प्रयास किया है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के टीकाकार राघवभट्ट तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के निर्देशों के अनुसार अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं और सन्धियों के आधार पर इस नाटक का विभाजन इस प्रकार है—

१. अर्थप्रकृतियां—

(क) बीज—पहले अंक में वैखानस की यह उक्ति—[महर्षि कण्व] अतिथि-सत्कार का कार्य दुहिता शकुन्तला के ज़िम्मे लगाकर इसके विपरीत प्रतिकूल भाग्य को शान्त करने के लिए कुछ ही समय पूर्व सोमतीर्थ को चले गये हैं।[1]

(ख) बिन्दु—दूसरे अंक में राजा और विदूषक के ये कथन—

राजा—हे माधव्य, तेरी आंखें सफल नहीं हुई हैं, क्योंकि तूने देखने योग्य वस्तु तो देखी ही नहीं।

विदूषक—क्यों, आप तो मेरे सामने हैं ही।

राजा—सभी आत्मीय जनों को सुन्दर समझते हैं। मैं तो इस आश्रम की अलंकार-स्वरूप उस शकुन्तला को ही लक्ष्य में रखकर कह रहा हूं।[2]

---

१. इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलाम् अतिथिसत्काराय नियुज्य दैवम् अस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। (अभिज्ञान० प्रथम अंक)

२. राजा—माधव्य, अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि। येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम्।
विदूषक—ननु भवानग्रतो मे वर्तते।
राजा—सर्वं कान्तमात्मीयं पश्यति। अहं तु ताम् आश्रमललामभूतां शकुन्तलाम् अधिकृत्य ब्रवीमि। (द्वितीय अंक)।

यह स्थल मृगया-वृत्तान्त के कारण विच्छिन्न मूल कथा को पुनः जोड़ता है।

(ग) **पताका**—साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार अभिज्ञानशाकुन्तल में विदूषक का वृतान्त पताका है। यह वृत्तान्त दूसरे अंक से लेकर छठे अंक तक दिखायी देता है।

(घ) **प्रकरी**—किसी काव्य या नाटक में 'प्रकरी' अनेक स्थलों में हो सकती है। अभिज्ञानशाकुन्तल में निम्नोक्त तीन प्रसंग प्रकरी कहे जा सकते हैं—(१) मातलि का वृत्तान्त, (२) सानुमती अप्सरा का प्रसंग, (३) छठे अंक के आरम्भ में दो चेटियों के द्वारा वसन्त ऋतु का वर्णन।

(ङ) **कार्य**—दुष्यन्त और शकुन्तला का मिलन।

२. **अवस्थाएं**—

(क) **आरम्भ**—राजा की उत्सुकता पहले अंक में राजा के इस कथन से आरम्भ होती है—'अच्छी बात है, मैं उसी के दर्शन करूंगा। वह मेरी [महर्षि-विषयक] भक्ति को जानकर मेरे विषय में महर्षि से कह देगी।'[1]—और शकुन्तला की उत्सुकता पहले अंक में निम्नोक्त कथन से प्रकट होती है—'(मन में) क्या कारण है कि इस व्यक्ति को देखकर तपोवन के विरोधी विकार का पात्र हो गयी हूँ।'[2]

इस प्रकार पहले अंक में उपर्युक्त 'भवतु ! तामेव द्रक्ष्यामि......' (अच्छी बात है, मैं उसी का दर्शन करूंगा......' से लेकर इस अंक की समाप्ति तक नाटकीय कार्य का 'आरम्भ' माना जा सकता है।

(ख) **यत्न**—दूसरे अंक में राजा के इस कथन—'मित्र विदूषक ! कुछ तपस्वियों ने मुझे पहचान लिया है, तो कोई उपाय सोचो कि आश्रम में किस बहाने से प्रवेश किया जाए।'[3]—से लेकर तीसरे अंक की समाप्ति तक यत्न है। इसमें दुष्यन्त और शकुन्तला का एक-दूसरे की प्राप्ति के लिए प्रबल प्रयत्न है।

(ग) **प्राप्त्याशा**—चौथे और पांचवें अंक में प्राप्ति की आशा है। इन अंकों में फल-प्राप्ति की संभावना और शाप-रूपी विघ्न के कारण फल-प्राप्ति की असंभावना है।

---

१. राजा—भवतु ! तामेव द्रक्ष्यामि। सा खलु विदितभक्तिं मां महर्षेः कथयिष्यति।
(पहला अंक, वाक्य-संख्या ३१)

२. शकुन्तला—(आत्मगतम्) किंतु खलु इमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता। (पहला अंक, वाक्य-संख्या ८१)

३. राजा—सखे, तपस्विभिः कैश्चित् परिज्ञातोऽस्मि। चिन्तय तावत् केनाऽपदेशेन पुनराश्रमपदं गच्छामः।

(घ) नियताप्ति—छठे अंक में नियताप्ति है। अंगूठी मिलने के कारण विघ्न दूर हो गया है।

(ङ) फलागम—सातवें अंक में दुष्यन्त और शकुन्तला का स्थायी मिलन होता है—यह फलागम है।

३. सन्धियां—

(क) मुख—प्रथम अंक में प्रस्तावना के बाद इस वाक्य—'(इसके बाद रथ पर बैठे हुए, मृग का पीछा करते हुए, बाण और धनुष हाथ में लिये हुए राजा का सारथि के साथ प्रवेश)'[1] से लेकर दूसरे अंक के इस वाक्य तक मुख-सन्धि है—'दोनों चारों ओर घूमकर बैठ जाते हैं।'[2]

(ख) प्रतिमुख—दूसरे अंक में राजा के इस कथन—'माधव्य, तेरी आंखें सफल नहीं हुई हैं, क्योंकि तूने देखने योग्य वस्तु तो देखी ही नहीं।'[3]—से लेकर तीसरे अंक की समाप्ति तक।

(ग) गर्भ—चौथे अंक के आरम्भ से लेकर पांचवें अंक में '(वैसा करती है)'[4] तक।

(घ) विमर्श—पांचवें अंक में राजा के इस कथन—'शकुन्तला को ध्यान से देखकर...[5]',—से लेकर छठे अंक की समाप्ति तक।

(ङ) निर्वहण—सातवें अंक के आरम्भ से लेकर इस अंक की समाप्ति तक।

× × ×

अस्तु! 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक को सन्धियों के अनुसार सरल रूप में इस प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—

(क) मुख—प्रस्तावना से लेकर पहले अंक की समाप्ति तक।

(ख) प्रतिमुख—दूसरा और तीसरा अंक।

---

१. ततः प्रविशति मृगानुसारी सशर-चाप-हस्तो राजा रथेन सूतश्च।
(अभिज्ञान०, १म अंक, प्रस्तावना के बाद का वाक्य)

२. इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ। (अभिज्ञान०, २य अंक, वाक्य-संख्या ३७ के नीचे)

३. राजा—माधव्य, अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम्।
(अभिज्ञान०, २य अंक, वाक्य-संख्या ३८)

४. इति यथोक्तं करोति। (अभिज्ञान० ५म अंक, वाक्य-संख्या ६०)

५. शकुन्तलां निर्वण्य...। (अभिज्ञान० ५म अंक, वाक्य-संख्या ६१)

(ग) गर्भ—चौथा और पांचवा अंक।

(घ) विमर्श—छठा अंक।

(ङ) निर्वहण—सातवां अंक।

इस प्रकार सस्कृत-काव्यों का टीकाकार अपनी टीकाओं में मुक्तक और प्रबन्ध-काव्यों की व्याख्या के साथ-साथ काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के निर्देश द्वारा पाठकों को काव्यशास्त्र की वहुविध मान्यताओं से अवगत कराता चलता है। इसका एक सुपरिणाम यह होता है कि काव्यशास्त्र के विभिन्न तत्त्वों के उदाहरणों में वृद्धि होती जाती है, दूसरा यह कि पाठकों में प्रकारान्तर से इस शास्त्र के प्रति अभिरुचि उत्पन्न होती है, तीसरा यह कि उसकी समीक्षण-प्रतिभा की परिष्कृति एवं अभिवृद्धि होती जाती है, और किन्हीं स्थितियों में चौथा यह कि इस काव्यशास्त्रीय अभिरुचि के बल पर अनेक पाठक विविध काव्यों के अध्ययन के प्रति आकृष्ट होते हैं।

□ □ □

१४. भाषापरक समीक्षा

संस्कृत का समीक्षक मुख्यतः भाषा के आधार पर काव्य-सौन्दर्य का परीक्षण करता है। शब्द और अर्थ—ये दोनों भाषा के प्रमुख स्तम्भ हैं। यहां शब्द से 'वाचक शब्द' अभिप्रेत है और अर्थ से 'वाच्य अर्थ', न कि क्रमशः लक्षक शब्द और लक्ष्यार्थ और न ही व्यंजक शब्द और व्यंग्यार्थ, क्योंकि वाचक शब्द के वाच्यार्थ के बोध के बाद ही लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है। इसी कारण 'शब्द और अर्थ के समन्वित रूप' को जब काव्य का शरीर कहा जाता है,[1] तो इस प्रसंग में शब्द और अर्थ से क्रमशः वाचक शब्द और वाच्य अर्थ अभिप्रेत हैं। काव्य में इन दोनों का सम्बन्ध नित्य माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि वाचक शब्द वही कहाता है जो कि कवि के 'विशेष रूप से अभीष्ट अर्थ' को प्रकट करने की क्षमता रखता है—**कवि-विवक्षित-विशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्**। (व० जी० १.९ वृत्ति)। यहां यह उल्लेख्य है कि लौकिक व्यवहार में प्रयुक्त साधारण भाषा में भी शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है, पर इस नित्यता पर विशिष्ट बल नहीं दिया जाता, क्योंकि लोक-व्यवहार में यदि किसी अर्थ के लिए उपयुक्त शब्द का प्रयोग न भी किया जा सके तो यह क्षम्य है, किन्तु काव्य में तो कवि के प्रतिभा-कौशल की परख ही यही है कि वह विवक्षित अर्थ के लिए अनेक पर्यायवाची शब्दों के विद्यमान होने पर भी उपयुक्त शब्द का निर्वाचन करता है, और यही उपयुक्त शब्द ही वास्तव में [वाचक] शब्द है, और इस शब्द से निःसृत अर्थ, जो कि अपने स्पन्द (स्वभाव) से—नितान्त स्वाभाविक रूप में, न कि किसी प्रकार की खींचतान करने पर—सहृदय-जनों के लिए आह्लादकारी है वही अर्थ ही वास्तव में [वाच्य] अर्थ है—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥ व० जी० १.९

वाचक शब्द और वाच्य अर्थ ये दोनों मित्रों के समान एक-दूसरे का उपकार करते

---

१. **शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्।**

हुए एक दूसरे की शोभा को बढ़ाते हैं।[1] अभिप्राय यह कि कवि जिस अर्थ (अभिप्राय) को प्रकट करना चाहता है वह उसी के अनुरूप शब्द का प्रयोग करता है, और वह शब्द भी—शताब्दियों के बीत जाने पर भी—कवि द्वारा अभिप्रेत अर्थ को ही प्रकट करता है। शब्द और अर्थ के इस प्रकार के सहितभाव से जन्य इसी मनोहारिणी स्थिति को अन्यून और अनतिरिक्त कहा गया है।[2]

अस्तु ! शब्द और अर्थ के इसी अनिवार्य सम्बन्ध के आधार पर शब्दार्थ को काव्य का शरीर माना गया है। केवल इतना ही नहीं, इससे बढ़कर स्थिति यह कि स्वयं काव्य का लक्षण भी अनेक आचार्यों ने 'शब्दार्थों' पर आधारित किया है।[3] लक्षणा और व्यंजना शब्दशक्तियां शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध और उनसे जन्य सौन्दर्य पर प्रकाश डालती हैं। व्यंजना के दो प्रमुख भेद शाब्दी और आर्थी—क्रमशः शब्द और अर्थ के अपेक्षाकृत अधिक चमत्कार पर निर्धारित हुए हैं। ठीक यही स्थिति ध्वनि के पद-गत और अर्थगत भेदों, शब्दालंकारों और अर्थालंकारों, शब्दगुणों और अर्थगुणों आदि की भी है।

फिर, न केवल शब्दालंकारों अपितु अर्थालंकारों के भी अनेक भेदोपभेद विभिन्न भाषातत्त्वों से सम्बद्ध हैं। यथा—शब्द-श्लेष अलंकार के आठ भेद निम्नोक्त आठ भाषा-तत्त्वों पर आधारित हैं—वर्ण, प्रत्यय, लिंग, प्रवृत्ति, पद, विभक्ति, वचन और भाषा-भेद। इसी प्रकार अन्य अलंकारों के भेदोपभेदों में भी भाषा-तत्त्वों का आधार ग्रहण किया गया है। उदाहरणार्थ, उपमा अलंकार के श्रौती और आर्थी भेद तथा इन दोनों के तद्धित, समास और वाक्यगत उपभेद। विरोध अलंकार के चार भेद वाचक शब्द के निम्नोक्त चार भेदों—जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया पर आधारित हैं, तथा विषम अलंकार के दो भेद गुण और क्रिया से सम्बन्धित हैं। अस्तु !

---

१. समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदावेव संगतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ॥ व० जी० १.७ (वृत्ति)

२. साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनाऽनतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ व० जी० १.१७

३. भामह, रुद्रट, कुन्तक, मम्मट आदि द्वारा प्रस्तुत निम्नोक्त काव्यलक्षण इस कथन के पोषक हैं—

(१) भामह—ननु शब्दार्थौ काव्यम्। (काव्यालंकार १.१६)
(२) रुद्रट—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। (काव्यालंकार २.३)
(३) कुन्तक—शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि......व० जी० १.७),
(४) मम्मट—तददोषौ शब्दार्थौ...(काव्यप्रकाश १ म उ०)

समीक्षक किसी काव्य-तत्त्व में शब्दगतता का निर्णय 'अन्वय-व्यतिरेक' के आधार पर करता है। अन्वय कहते हैं जिसके न होने पर जो हो, और व्यतिरेक कहते हैं जिसके न होने पर जो न हो—**यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः। यदसत्त्वे यदसत्त्वं व्यतिरेकः।** जिस शब्द के कारण चमत्कार हो, उसका पर्यायवाची शब्द रख देने पर यदि चमत्कार नष्ट हो जाए तो वहां शब्दगतता मानी जाती है, और जहाँ चमत्कार नष्ट न हो वहाँ अर्थगतता।

अब भाषापरक समीक्षा के बहुविध उदाहरण लीजिए—

[१]

सर्वप्रथम निम्नोक्त पद्य लीजिए जिसके पढ़ते ही हम उसकी वर्ण-योजना अथवा पद-विन्यास से चमत्कृत हो उठते हैं—

मधुरया मधुबोधितमाधवी -
मधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकरांगनया मुहुरुन्मद-
ध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे।। शिशु० ६.२०

और जब इस पद्य के अर्थ से परिचित होते हैं तो वर्ण-योजना-जन्य उक्त चमत्कार पद्यार्थ के चमत्कार का सहायक बन उसे और भी सौन्दर्यपूर्ण बनाते हुए हमें आह्लाद प्रदान करता है। अर्थ का बोध होते ही मधुकरी की मधुर और मन्द गुंजार की ध्वनि उक्त पद्य के एक-एक वर्ण से निकलती-सी प्रतीत होने लगती है। इसी प्रकार का एक पद्य और लीजिए, जिसमें नाद-सौन्दर्य और पद्यार्थ दोनों का समन्वित रूप पाठक के लिए आह्लादक सिद्ध होता है—

सा पद्मरागं वसनं वसाना पद्मानना पद्मदलायताक्षी।
पद्मा विपद्मा पतितेव लक्ष्मीः शुशोष पद्मस्रगिवातपेन।। सौन्दरनन्द ६.२६

अपने प्रियतम 'नन्द' के वियोग में 'सुन्दरी' की अवस्था ऐसी हो गयी थी जैसी कि धूप में पड़ी रहने के कारण कमलों की माला की हो जाती है। यहां 'पद्म' शब्द का अनेक बार प्रयोग इस पद्य के सौन्दर्य का कारण है। पाठक इसी प्रयोग के कारण इस पद्य को बार-बार पढ़ना चाहता है, और अर्थावबोध हो जाने के बाद उक्त नाद-

---

१. मधुर स्वर वाली मधुकरी ने मधु (वसन्त) द्वारा उत्फुल्ल माधवी लता की मधु का भरपूर पान किया तो उसकी मेधा—मस्ती भरी बुद्धि—और भी अधिक मस्त हो उठी और उसने दबे-दबे अक्षरों में बार-बार गुनगुनाना आरम्भ कर दिया।

सौन्दर्य और कवि की यह कल्पना—कि 'नायिका विरह के कारण धूप में सुखायी गयी माला के समान हो गयी है'—ये दोनों मिलकर पाठक को आह्लादित करते हैं। उक्त पद्य में काव्य-समीक्षक पदों की लालित्य-योजना स्वीकार करते हैं। दशकुमारचरित-कार दण्डी इस प्रकार के पद-लालित्य का धनी है—**दण्डिनः पदलालित्यम्**। निम्नोक्त स्थल लीजिए—

—**कुमारा माराभिरामा रामाद्यपौरुषा रुषा भस्मीकृतारयो रयोपहसितसमीरणा रणाभियानेन यानेनाभ्युदयाशसं राजानमकार्षुः।**

—**तदनु मणिमयमण्डनमण्डलमण्डिता सकललोकललनाललामभूतकन्यका काचन**······ —दशकुमारचरित, २य उच्छ्वास

नैषधचरित में भी पद-लालित्य के प्रचुर उदाहरण मिल जाते हैं। एक प्रसिद्ध स्थल लीजिए—

एतस्य निष्कृपकृपाणसनाथपाणेः
पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम् ॥ नै० च० ११.६६

स्पष्ट है कि उक्त प्रकार के स्थलों के सम्बन्ध में काव्य-समीक्षक वर्णयोजना अथवा पद-विन्यास-जन्य-चमत्कार स्वीकार करता है, पर साथ ही उसे केवल वाह्य चमत्कार से सन्तुष्टि नहीं हो जाती, वह इसके अर्थ की ओर भी ध्यान देता है। वस्तुतः, अर्थ के विना कोई कथन काव्य कहाने का अधिकारी ही नहीं होता। 'इस पर्वत पर अग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित हो रही है और यह वह धूम है जो ऊपर उठता दिखायी दे रहा है'—इस काव्यत्व-हीन, इति-वृत्तात्मक कथन को भले ही निम्नोक्त रूप में ओज-गुण की अभिव्यंजक वर्णावली में कहा जाए, तो भी यहां काव्यत्व की स्वीकृति नहीं होगी—

अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुलसत्येष धूमः। का० प्र० ८. ३४७

और इसी प्रकार, अनुप्रास अथवा यमक अलंकार का ऐसा प्रयोग भी किस काम का जो अर्थ के स्तर पर सहृदय के चित्त को आह्लादित न करे और उसे ऐसा प्रतीत हो कि कवि ने अपने श्रम का अपव्यय ही किया है। उदाहरणार्थ, '**भण तरुणि**···' (पृष्ठ ११७) के '**परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते**' इस पाद में 'र ण' वर्णों की आवृत्ति अनुप्रास अलंकार की जनक तो है, पर इस पाद का अर्थ (कि 'हे लाल चरणों वाली सुन्दरी, तुम्हारी यह चाल मुझे क्यों व्यर्थ में सता रही है') कोई काव्य-चमत्कार उत्पन्न नहीं करता। इस प्रकार की अनुप्रास-व्यर्थता को मम्मट ने 'अपुष्टार्थ' नामक अर्थदोष माना है।[1]

---

१. काव्यप्रकाश १०. ५८२, ५८३

[२]

अब ऐसे स्थल लीजिए, जिनमें प्रयुक्त श्लिष्ट (अनेकार्थक) शब्दों के माध्यम से समीक्षक काव्य-सौन्दर्य का उद्‌घाटन करता है। श्लेष के माध्यम से चमत्कार-प्राप्ति दो रूपों में सम्भव है—शब्द के आधार पर और अर्थ के आधार पर, और इसी कारण 'श्लेष' को शब्दालंकारों में भी गिना गया है और अर्थालंकारों में भी।

शब्द-श्लेष में ऐसे शब्द प्राय: 'अभंग' रूप में ही प्रयुक्त होते हैं, किन्तु कहीं-कहीं सभंग-रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ पद्य प्रस्तुत हैं—पहले एक मार्मिक पद्य लीजिए, जिसमें शब्द-श्लेष का चमत्कार है। वाग्भट (वाग्भटालंकार ग्रन्थ) के प्रणेता की कन्या परम सुन्दरी और विदुषी थी। वाग्भट अनहिलपट्टन के राजा जयसिंह के महामात्य थे। राजा उक्त कन्या के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये और उसे तुरन्त राजप्रासाद में भेजने का आदेश दिया। न तो वाग्भट इस आज्ञा को मानने को तैयार थे, और न कन्या को यह स्वीकृत था। पर विवशता थी। कन्या विदा होने लगी तो वाग्भट फफक पड़े। पिता को रोता देख विदुषी कन्या ने 'गुण' शब्द के श्लेष के माध्यम से[1] पिता को सान्त्वना देनी चाही—

तात वाग्भट ! मा रोदी कर्मणां गतिरीदृशी।
दुष् धातोरिवास्माकं गुणो दोषाय केवलम् ।।[2]

पर क्या इस सान्त्वना से पिता को सान्त्वना मिली होगी? उक्त पद में 'गुण' शब्द श्लिष्ट है और इसके स्थान पर इसका पर्याय-शब्द रख देने से काव्य-चमत्कार नष्ट हो जाएगा।

एक उदाहरण और ! इसमें भी श्लेष के बल पर सौन्दर्य उत्पन्न किया गया है—

काले वारिधराणामपतितलया नैव शक्यते स्थातुम्।
उत्कण्ठितासि तरले, नहि नहि सखि पिच्छलः पन्थाः ॥

—सा० द० १०.३८ वृत्ति

---

१. गुण—(क) सौन्दर्य-गुण, (ख) व्याकरण की गुण-प्रक्रिया : जैसे दुष् धातु में उ को ओ गुण = दोष।

२. मेरे वाक्प्रवीण (अथवा वाग्भट नामक) पिता, मत रोइए। कर्मों की गति ही कुछ ऐसी है। जिस प्रकार दुष् धातु में 'गुण' होने से 'दोष' शब्द बनता है, उसी प्रकार मेरे सौन्दर्य-रूप 'गुण' के कारण ही हमें यह (दुःख-रूपी 'दोष') भोगना पड़ रहा है [कि ये लोग मुझे हमारी अनुमति के बिना बलात् ले जा रहे हैं।]

[बादलों को देख अपनी सखी के साथ कहीं जाती हुई एक विरहिणी नायिका अपनी सखी से बोली, 'वर्षा ऋतु में तो 'अपतिता' से रहना नहीं हो पाता।' (अपतिता, अर्थात् पति-रहितता, अथवा जो पतित—गिरी हुई—न हो।)[1] सखि ने पूछा, 'तरले! (हे चपला नारी!) क्या पति के लिए बहुत उत्कण्ठित हो गयी हो।' नायिका ने उत्तर दिया, 'न सखि, यह बात नहीं है, इस रास्ते में फिसलन बहुत है।']

इस पद्य में एक तो 'तरले' शब्द ध्यातव्य है। सखि ने इस शब्द के द्वारा नायिका को मीठी-मीठी फटकार दी है। और दूसरे, 'अपतिता' इस श्लिष्ट शब्द के प्रयोग से जहां उक्त दो अर्थ प्रतीत होते हैं, वहां एक अन्य अर्थ की भी कल्पना की जा सकती है कि इस वर्षा-काल में सच तो यह है कि एक विरहिणी' बिना पतित हुए भला कैसे रह सकती है? संस्कृत का काव्यशास्त्री 'अपतिता' में श्लेष नामक अलंकार का चमत्कार बताएगा और इसे शब्दगत इस आधार पर कहेगा कि 'अपतिता' शब्द को हटा कर उसके स्थान पर इसका पर्याय रख देने से यह चमत्कार नष्ट हो जाएगा।[2] निःसन्देह ऐसे प्रयोग सामान्य भाषा में स्थान नहीं पा सकते, यह काव्यभाषा ही है, जो उन्हें पचाकर काव्य-सौन्दर्य को उद्घाटित करती हुई पाठक के मनोवेगों को तरंगित करती है।

श्लेष के माध्यम से काव्यचमत्कार-प्राप्ति के प्रसंग में अब कुछ स्थल श्रीहर्ष-प्रणीत नैषधचरित से लीजिए—

इतीरिता पत्त्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी।
चेतो नलंकामयते मदीयं नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम्॥ नै० च० ३. ६७

[पक्षी के द्वारा इस प्रकार से प्रेरित दमयन्ती लज्जित तथा हर्षित होकर बोली कि मेरा मन नल को चाहता है, और किसी में तथा और कहीं भी अभिलाषा नहीं रखता।]

इस पद्य में **'चेतो नलं कामयते मदीयम्'** वाक्य के श्लेष के आधार पर तीन अर्थ हैं—

(१) **मदीयं चेतः नलं कामयते**—मेरा चित्त नल को चाहता है।

(२) **मदीयं चेतः लंकां न अयते** (प्राप्नोति, अभिलष्यतीत्यर्थः)—मेरा चित्त [राजा नल को छोड़कर धन का लोभी बनकर] लंका [जैसी स्वर्ण-नगरी] का अभिलाषी नहीं है।

---

१. 'न पतिर्यस्याः सा अपतिः, तस्य भावस्तत्ता, तया अपतितया।' अथवा 'न पतिता अपतिता, तया'।

२. शब्दस्य पर्यायपरिवृत्त्यसहत्वात्र शब्द-मूलत्वेन व्यपदेशः।

(३) **चेतः अनलं कामयते मदीयम्**—[राजा नल के न मिलने पर] मेरा चित अग्नि-दाह करना चाहता है—मैं सती होना चाहती हूँ।

शब्द-श्लेष का एक चमत्कार और—

दमयन्ती के मन में नल के साथ विवाह करने की उत्कट अभिलाषा है, पर वह ठहरी कुलीन कुमारी, वह भला अपनी इस भावना को जिह्वा पर कैसे ला सकती है। श्रीहर्ष के शब्दों में इसी आशय का कथन लीजिए जिसमें शब्द-श्लेष के बल पर चमत्कार उत्पन्न किया गया है—

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा॥ नै० च० ३.५१

[मन में संजोये जिस मनोरथ को मन नहीं छोड़ना चाहता उसे भला कण्ठपन्थ पर कैसे लाया जा सकता है? ऐसी कौन कुलीना बाला होगी जो राजा (नल) से पाणि-ग्रहण करने की अभिलाषा कहेगी—भला कौन समझदार बाला चन्द्रमा के 'पाणि-ग्रहण' की—उसे हाथ से पकड़ने की—इच्छा व्यक्त करेगी।]

नैषधचरित से एक और पद्य लीजिए। इसमें भी श्लेष के बल पर काव्य-चमत्कार उत्पन्न किया गया है। 'अवनिभृत्' नृप को भी कहते हैं और पर्वत को भी। 'कितनी पीड़ा होती है उस आदमी को, जिसके पैर में ज़रा सा कांटा चुभ जाता है, पर कोमलांगी दमयन्ती के हृदय में तो अवनिभृत् (पहाड़, पक्षे राजा नल) घुस गया था, फिर उसे भला असह्य पीड़ा क्यों न होती'—

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम्।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु प्रविश्य हृदि स्थितः॥ नैषधचरित ४.११

इस प्रसंग में नैषधचरित के उस प्रसिद्ध स्थल की चर्चा करना वाञ्छनीय होगा, जिसमें कवि ने त्रयोदश सर्ग के ३१ पद्यों (३-३४) में नल के अतिरिक्त इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम की स्तुति श्लेष के माध्यम से की है। पहले पांच पद्यों में इन्द्र और नल का वर्णन है,[1] फिर चार-चार पद्यों (बारह पद्यों) में क्रमशः अग्नि और नल, वरुण और नल तथा यम और नल का।[2] इसके बाद एक-एक पद्य (चार पद्यों) में फिर क्रमशः अग्नि आदि के साथ नल का वर्णन है,[3] और अंतिम पद्य में तो कवि ने अपने शब्द-कौशल की पराकाष्ठा ही कर दी है। इसी एक ही पद्य में कवि ने चारों देवताओं और नल का वर्णन एक-साथ कर दिया है, अर्थात् इस पद्य के पांच अर्थ हैं। वह पद्य लीजिए—

---

१. नैषधचरित १३. ३-७
२. वही १३. १०-१३, १६-१९, २२-२५
३. वही, १३. २८-३१.

देव पतितिदुषि ! नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते ॥[1]
—नै० च० १३. ३४

यहां यह उल्लेख्य है कि श्लिष्ट पदों का प्रयोग एक सीमा तक ही चमत्कारक एवं सह्य होता है। सीमा से बढ़ जाने पर वह विक्षोभकारी ही होता है। उदाहरणार्थ निम्नोक्त पद्य लीजिए—

खचरस्य सुतस्य सुतः खचरः,
खचरस्य सुतेन हतः खचरः।
खचरी प्ररोदति हा खचरः,
क्व गतः क्व गतः क्व गतः खचरः ॥ (अज्ञात)

पहले सामान्य अर्थ लीजिए—खचर के बेटे का बेटा खचर है। खचर के बेटे से खचर मारा गया। खचरी रोती है—'हा ! [मेरा] खचर, कहां गया, कहां गया, कहां चला गया [मेरा पुत्र] खचर।'

अब रचयिता का अभीष्ट अर्थ लीजिए—(खे आकाशे चरति इति खचरः, अर्थात् पक्षी, बादल, वायु, सूर्य और राक्षस।)—वायु के पुत्र (भीमसेन) का बेटा राक्षस (घटोत्कच) है। यह राक्षस सूर्य के पुत्र (कर्ण) द्वारा जब मारा गया तो उसकी माता विलाप करती है—'हा ! खचर, कहां गया, कहां गया, कहां चला गया [मेरा पुत्र] खचर !'

किन्तु इस प्रकार के इतिवृत्तात्मक स्थलों में हम थोड़ी देर के लिए रचयिता की पच्चीकारी की प्रशंसा अवश्य कर लें, पर ऐसे श्लिष्टात्मक प्रयोग फूहड़ हास्य की ही सृष्टि करते हैं, इनसे पाठक की सहृदयता को पोषण नहीं मिल पाता।

जैसा कि पहले संकेत किया गया है, 'शब्द-श्लेष' में चमत्कार-जनक 'शब्द' का पर्यायवाची शब्द रख देने से चमत्कार नष्ट हो जाता है, किन्तु 'अर्थ-श्लेष' में ऐसी स्थिति नहीं होती। इस अन्तर को समझने के लिए पहले शब्द-श्लेष का उदाहरण लीजिए, फिर अर्थ-श्लेष का—

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधना।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥
—साहित्यदर्पण १०.११ (वृत्ति)

---

१. सहृदय एवं श्लेष-प्रिय पाठकों से अपेक्षा की जाती है कि इस वाग्विलास के लिए नैषधचरित की किसी भी संस्कृत-टीका, विशेषतः नारायण-कृत टीका, का अवलोकन करें।

यहां 'विधौ' पद के कारण शब्द-श्लेष अलंकार है, जो कि विधु (चन्द्रमा) शब्द की सप्तमी विभक्ति है, तथा विधि (भाग्य) शब्द की भी सप्तमी विभक्ति है। इस पद का पर्यायवाची पद रख देने से उक्त अलंकार नहीं रहेगा। किंतु इसके विपरीत—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृत्तिः तुलाकोटेः खलस्य च ॥ का० प्र० ९. ३७९

—अर्थश्लेष अलंकार के इस उदाहरण में किसी भी शब्द का पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी उक्त अलंकार का चमत्कार नष्ट नहीं होता।

समीक्षक के सम्मुख ऐसे स्थलों के सम्बन्ध में यह एक प्रश्न उपस्थित होना नितान्त स्वाभाविक है कि जहां अर्थ के आधार पर काव्य-चमत्कार माना जाता है, वहां शब्द की, अथवा जहां शब्द के आधार पर काव्य-चमत्कार माना जाता है, वहां अर्थ की, स्थिति क्या होती है? इस प्रश्न का उत्तर काव्याचार्यों के मन्तव्यानुसार यह है—'अर्थ शब्द से बोधित होने पर अभिव्यंजन करता है, और शब्द भी अर्थ का आश्रय लेकर ही व्यंजन करता है। अतः जहां [इनमें से कोई] एक (शब्द अथवा अर्थ) व्यंजक (काव्य-चमत्कार का हेतु) होता है, वहां दूसरा [उसका] सहकारी कारण रहता है। अर्थात् एक ही व्यंजकता में दूसरे की सहकारिता अवश्य माननी पड़ेगी—'

शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।
एकस्य व्यंजकत्व तदन्यस्य सहकारिता ॥ साहित्यदर्पण २.१८

इस का अभिप्राय यह है कि जहां शब्द का चमत्कार रहता है वहां 'अर्थ' शब्द का सहायक (अंग) होता है, और जहां अर्थ का चमत्कार रहता है वहां 'शब्द' अर्थ का सहायक होता है।

शब्द और अर्थ—भाषा के दो इन प्रमुख स्तम्भों—के आधार पर ही वस्तुतः संस्कृत की समस्त काव्य-समीक्षण-पद्धति विभक्त है—वागर्थ का यह संयोजन कालिदास के शब्दों में पार्वती और परमेश्वर के समान परस्पर संश्लिष्ट है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ रघुवंश १.१

शब्द और अर्थ की इसी अन्विति की ओर माघ ने भी संकेत किया है—

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ॥[1] शिशु० २.८६

१. समझदार व्यक्ति न तो केवल भाग्य का अवलम्बन कर बैठ जाता है और न केवल परिश्रम का, अपितु वह सत्कवि के समान जो कि शब्द और अर्थ दोनों का आधार ग्रहण करता है, उक्त दोनों का ही अवलम्बन ग्रहण किए रहता है।

अभी ऊपर दो पद्य—'**प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ**...' तथा '**स्तोकेनोन्नतिमायाति**...' उद्धृत किये गये हैं। इनमें से प्रथम में शब्दगत श्लेष का चमत्कार है, और दूसरे में अर्थगत श्लेष का। अब श्लेष-विषयक एक अन्य प्रसंग लीजिए—

अभिधा शब्दशक्ति से मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) का बोध होता है। एकार्थक शब्दों के मुख्यार्थ-बोध के सम्बन्ध में तो अभिधा शक्ति की स्थिति स्पष्ट है, किन्तु श्लिष्ट अर्थात् अनेकार्थक शब्द के किस अर्थ का ग्रहण अभिधा शक्ति द्वारा किया जाए और किसका नहीं, इसके निर्णय के लिए निम्नोक्त 'विशेष-स्मृति-हेतु' अर्थात् निर्णायक तत्त्व स्वीकार किये गये हैं—संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर, आदि।

उदाहरणार्थ—'**मधुना मत्तः पिकः**' कथन में 'मधु' शब्द के अतिरिक्त शेष शब्दों के वाच्यार्थ का बोध अभिधा-शक्ति द्वारा होने में कोई बाधा नहीं है, किन्तु श्लिष्ट 'मधु' शब्द का वाच्यार्थ यहां 'वसन्त' ग्रहण किया जाए अथवा मद्य, अथवा मधु नामक दैत्य-विशेष, इसका निर्णय 'सामर्थ्य' नामक विशेष-स्मृति-हेतु (निर्णायक तत्त्व) के आधार पर किये जाने पर 'मधु' शब्द का वाच्यार्थ 'वसन्त ही लिया जाएगा, 'मद्य' आदि, नहीं। अब यह गृहीत अर्थ 'श्लेष' का विषय नहीं रहा, केवल अभिधा शब्दशक्ति का ही विषय बनकर रह गया है; क्योंकि श्लेष में सदैव एकाधिक अर्थों का ग्रहण किया जाना है। हाँ, जिन प्रसंगों में दो या दो से अधिक, अर्थ ग्रहण करना अभीष्ट रहता है वह श्लेष अलंकार का विषय है, और वहां सभी अर्थ 'वाच्यार्थ' ही होते हैं, अतः उन सब अर्थों का ग्रहण भी अभिधा शक्ति द्वारा ही होता है। उदाहरणार्थ, देखिए पीछे—'**इतीरिता पत्ररथेन**...।'[1] (पृष्ठ २५७)।

निष्कर्ष यह कि चाहे शब्द एकार्थक हो अथवा अनेकार्थक, उसका वाच्यार्थ अभिधा शक्ति द्वारा गृहीत होता है। अनेकार्थक शब्दों में जहां संयोग आदि के आधार पर केवल एक अर्थ का ग्रहण किया जाता है, अथवा श्लेष के आधार पर जहां कवि को दो या दो से अधिक अर्थ अभीष्ट रहते हैं ये सब वाच्यार्थ होने के कारण अभिधा शक्ति से ही गृहीत होते हैं।

जिन अनेकार्थक शब्दों का संयोग, विप्रयोग आदि उक्त नियामक हेतुओं द्वारा केवल एक अर्थ ही गृहीत रहता है वह अभिधा शक्ति का विषय है, यह ऊपर कह

---

१. इसी प्रकार '**येन ध्वस्तमनोभवेन**' (पृष्ठ २३०) में भी श्लेष अलंकार है, और यहां भी दोनों अर्थ वाच्यार्थ होने के कारण अभिधा शब्दशक्ति द्वारा ही गृहीत हैं। ठीक यही स्थिति '**देवः पतिर्विदुषि**...' (पृष्ठ २५९) पद्य की भी है।

आये हैं। किन्तु ऐसे स्थल भी होते हैं जहां उक्त नियामक हेतुओं द्वारा किसी एक अर्थ के गृहीत हो जाने पर भी दूसरा अर्थ प्रतीयमान रूप में, व्यंग्यार्थ रूप में, ज्ञात होता है, यह विषय न तो अभिधा शब्दशक्ति का है, और न श्लेष का, अपितु 'अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना शब्द-शक्ति' का है। उदाहरणार्थ—

असावुदयनारूढः कान्तिमान् रक्तमण्डलः।
राजा हरति लोकस्य हृदयं मृदुभिः करैः॥

[इस पद्य में किसी राजा का वर्णन किया गया है—'उन्नतशील सुन्दर राजा, जिसने देश को अनुरक्त किया हुआ है तथा थोड़ा 'कर' ग्रहण करने के कारण प्रजा के हृदय को आकृष्ट करता है।' किन्तु साथ ही इसी पद्य से चन्द्रमा-परक अर्थ भी द्योतित हो रहा है—'उदयाचल पर स्थित लाल-लाल रंग वाला सुन्दर चन्द्रमा कोमल किरणों से लोगों के हृदय को आकर्षित करता है।']

ऐसे पद्यों में संस्कृत का काव्य-समीक्षक श्लेष का चमत्कार नहीं मानता। श्लेष में कवि को दोनों—अथवा दो से अधिक सभी—अर्थ अभीष्ट रहते हैं, किन्तु उपर्युक्त पद्य में प्रस्तुत विषय 'राजा' का वर्णन है, न कि 'चन्द्रमा' का वर्णन। चन्द्रमा-पक्ष में दूसरा अर्थ श्लेष की सहायता से गृहीत है, अतः श्लेष यहां सहायक काव्य-तत्त्व है, न कि प्रमुख काव्य-तत्त्व। इसी प्रकार का एक पद्य और लीजिए—

दुर्गालंघितविग्रहो मनसिजं संमीलयंस्तेजसा,
प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः।
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्,
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः॥[1] सा० द० २.१४(वृत्ति)

यहां 'प्रकरण' नामक 'विशेष-स्मृति-हेतु' (निर्णायक तत्त्व) के आधार पर कवि को उमावल्लभ (उमा नामक महादेवी के वल्लभ अर्थात् पति—भानुदेव-नृपति) की स्तुति करना अभीष्ट है, और यह वाच्यार्थ अभिधा का ही क्षेत्र है, किन्तु इस पद्य में अनेक पद श्लिष्ट हैं, जिनके कारण यहां शंकर-(महादेव-) परक अर्थ भी भासित हो रहा है, और यह दूसरा अर्थ अभिधा शक्ति का क्षेत्र न होकर व्यंजना शक्ति (अभिधामूला शाब्दी व्यंजना) का क्षेत्र है। वे श्लिष्ट पद हैं—(१) 'दुर्गालंघित' में दुर्ग (किला, पक्षे दुर्गा = पार्वती)। (२) विग्रह (युद्ध, पक्षे शरीर), (३) राजकल (राजक—राजाओं के समूह को अनुचर रूप में 'ल' ग्रहण करने वाला, पक्षे राजा की—चन्द्रमा की—कला से युक्त), (४) भोगिभिः (सुख लूटने वालों से, पक्षे सर्पों से),

---

१. इस पद्य का विवरण साहित्यदर्पण २.१४ (वृत्ति) में देखिए।

(५) विभूति (ऐश्वर्य, पक्षे भस्म), (६) उमा (उमा नामक पटरानी, पक्षे पार्वती)।[1]

[३]

संस्कृत-काव्यसमीक्षक किसी रचना को—चाहे वह गद्यबद्ध हो अथवा पद्य-बद्ध—स्वयं पढ़ते समय अथवा किसी वाचक से सुनकर, ऐसे परखना और तोलना आरम्भ कर देता है, जैसे एक जौहरी किसी स्वर्णाभरण अथवा रत्न को हाथ में लेते ही परखने और तोलने लगता है। ज्यों ही समीक्षक किसी एक पद्य अथवा गद्यांश को पढ़ अथवा सुन चुकता है तो कभी-कभी उस पाठ के अर्थ-सौन्दर्य से चमत्कृत होते हुए अथवा न होते हुए भी वह पहले बाह्य रूप को सराहने लगता है, अथवा उसे कहीं किसी प्रकार की न्यूनता का आभास होने लगता है। मेरा यहां तात्पर्य किसी रचना के कोमल अथवा कठोर होने से तो है ही, साथ ही, इस प्रसंग में कतिपय अन्य तथ्यों पर भी विचार प्रकट किया जा रहा है—

संस्कृत का काव्य-समीक्षक जब किसी काव्य को स्वयं पढ़ता है अथवा किसी वाचक के मुख से सुनता है तो उसकी समीक्षण-वृत्ति में उसके कान भी मानों सहायक बनते हैं। ये उसे बताते हैं कि कौन-से वर्ण कोमल हैं और कौन से कठोर, कैसी रचना विरल-विरल होती है और कैसी सघन, और इस दो प्रकार की वर्गीकृत स्थिति को उसने क्रमशः माधुर्य और ओज गुण कहा है। कान की कसौटी पर काव्य की परख करते-करते उसे इतना अभ्यास हो गया कि उसने व्यंजनों की कोमलता और कठोरता के आधार पर इनमें से किन्हीं व्यंजनों को माधुर्य गुण के व्यंजक वर्ण कहा और किन्हीं को ओज गुण के व्यंजक वर्ण कहा, जिन की सूची इस प्रकार है—

१. माधुर्य गुण के व्यंजक वर्ण और इस गुण की रचना—

वर्ण—(१) क से म तक २५ स्पर्श वर्णों में से टवर्ग के ५ वर्णों को छोड़कर शेष वर्णों का अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ इस प्रकार संयुक्त रहना कि पंचम वर्ण पहले आये और शेष स्पर्श पीछे। जैसे—ङ्क, ञ्च, न्त, म्प, आदि। (जैसे मयङ्क, अञ्चल, तन्तु, पम्पा, आदि, शब्दों में।)

(२) रकार और णकार ह्रस्व स्वर से युक्त, जैसे अनुरणन आदि शब्दों में।

रचना—इस गुण में समास का सर्वथा अभाव होता है, या समास छोटा होता है तथा रचना मधुर होती है।

---

१. श्लेष अलंकार के सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ २२८-२३४

२. ओज गुण के व्यंजन वर्ण और इसकी रचना—

वर्ण—(१) वर्गों के पहले अक्षर के साथ मिला हुआ उसी वर्ग का दूसरा अक्षर, तीसरे अक्षर के साथ मिला हुआ वर्ग का चौथा अक्षर। जैसे—क्ख, त्थ, च्छ, ट्ठ, प्फ, ग्घ, ज्झ, ड्ढ, द्ध, ब्भ, आदि। जैसे स्वच्छ, वद्ध आदि शब्दों में।

(२) आगे या पीछे रकार से युक्त वर्ण। जैसे र्क, क्र, र्म, म्र आदि। जैसे अर्क, वक्र, चर्म, आम्र आदि शब्दों में।

(३) तुल्य वर्णों का योग। जैसे क्क, च्च, ट्ट, त्त, द्द, प्प आदि। जैसे उच्च, अट्टहास, प्रमत्त, उद्दाम, आदि, शब्दों में।

(४) टवर्ग वर्ण

(५) श, ष।

रचना—इस गुण में दीर्घ समास होते हैं तथा रचना उद्धत होती है।

यहां यह उल्लेख्य है कि उक्त रचना-विभाजन की पहचान संस्कृत के काव्य-समीक्षक ने इस दृष्टि से भी की कि किस प्रकार का पात्र कैसी स्थिति में कोमल अथवा कठोर वर्ण-योजना अथवा विरल अथवा सघन रचना का प्रयोग करता है, तथा यह भी निर्धारित किया कि कोमल अथवा कठोर रचना विषयानुरूप ही होनी चाहिए, अन्यथा वह सदोष होगी—उदाहरणार्थ, कोमल वर्णों का अनुप्रास शृंगार और करुण रसों में तो आह्लादक होता है, किन्तु रौद्र और भयानक रसों में वह सह्य नहीं होता। इसी प्रकार कठोर वर्णों के अनुप्रास की भी यही स्थिति है कि रौद्र और भयानक रसों में तो यह आह्लादक होता है किन्तु शृंगार और करुण रसों में सह्य नहीं होता। इसी प्रकार की कोमलता अथवा कठोरता की सह्यता अथवा असह्यता का प्रश्न वक्ता के स्वभाव के साथ भी जुड़ा हुआ है। काव्य का समीक्षक क्रुद्ध भीमसेन को तो कठोर, समास-बहुल और उद्धत वाणी में बोलता हुआ सुनना चाहता है, किन्तु सौम्य-स्वभाव युधिष्ठिर को वह कोमल, समास-सहित अथवा अल्पसमास-युक्त वाणी में बोलता हुआ सुनना चाहता है।

कभी-कभी स्थिति ऐसी भी आती है कि वक्ता को एक-साथ कठोर और कोमल शैली का प्रयोग करना पड़ता है। प्रियदर्शिका नाटिका में राजा एक ओर क्रुद्ध वासवदत्ता से भयभीत है, और दूसरी ओर आरण्यिका के सुन्दर मुख को देख उसके प्रति आकृष्ट हो उठा है—उसकी इस द्विविध संकट-स्थिति का वर्णन देखिए, जहां कवि ने राजा के मुख से द्विविध शैली का प्रयोग करते हुए पद्य की प्रथम दो पंक्तियों में

कठोर शैली (गौडी रीति) का प्रयोग किया है और अन्तिम दो पंक्तियों में कोमल शैली (वैदर्भी रीति) का, जो कि राजा की उपर्युक्त द्विविध अवस्था के अनुरूप हैं—

स्वेदाम्भःकणभिन्नभीषणतरभ्रूभंगमेकं रुषा
त्रासेनापरमुत्प्लुतोत्प्लुतमृगव्यालोलनेत्रोत्पलम् ।
उत्पश्यन्नहमग्रतो मुखमिदं देव्याः प्रियायास्तथा
भीतश्चोत्सुकमानसश्च महति क्षिप्तोऽस्म्यहं संकटे ।। प्रियदर्शिका ३.१५

[एक ओर तो मैं वासवदत्ता के नेत्र-कमल को देखता हूं, क्रोध के कारण जिसका एक भ्रू-भंग स्वेद के जल-कण के टूटने से अति भीषण हो गया है—और वह ऐसे प्रतीत हो रहा है, जैसे कि त्रास के कारण कूदते, और भी अधिक कूदते, मृग के नेत्र अति चपल हो उठते हैं, किन्तु साथ ही मैं अपने सामने इस प्रियदेवी (आरण्यिका) के मुख-मण्डल को भी देख रहा हूं—इस प्रकार एक ओर वासवदत्ता के क्रोध से भयभीत और दूसरी आरण्यिका को देखने को उत्सुक मैं अत्यन्त संकट के गर्त में जा पड़ा हूं ।]

[४]

अब कतिपय और तथ्य लीजिए। रचना को पढ़ते ही प्रबुद्ध काव्य-समीक्षक को रचना के बाह्य रूप की कुछ विशिष्टताएं अथवा शिथिलताएं आभासित होने लगती हैं। उदाहरणार्थ—

प्रसीद चण्डि त्यज मन्युमञ्जसा जनस्तवायं पुरतः कृताञ्जलिः ।
किमर्थमुत्कम्पितपीवरस्तनद्वयं त्वया लुप्तविलासमास्यते ।।[1]

—का० सू० वृ० ३.१.१२

इस श्लोक में प्रथम वाक्य ('त्वं मन्युं त्यज') कर्तृवाच्य-परक है, किन्तु अंतिम वाक्य (**'किमर्थं त्वया लुप्तविलासमास्यते'**) कर्मवाच्य-परक, और समीक्षक को यही विषमता अखरी कि यहां 'मार्ग का—लेखन-प्रकार का—अभेद' (साम्य) नहीं है। जिस वाच्य से कथन आरम्भ किया गया था, उसकी समाप्ति भी उसी वाच्य से करनी चाहिए थी, न कि अन्य वाच्य से। या तो दोनों वाक्य कर्तृवाच्य होते, या दोनों कर्मवाच्य। वामन के अनुसार यहां 'समता' (मार्गभेद) नामक गुण का अभाव है।

---

१. हे क्रोधशीले! तुम्हारा यह जन (दास) तुम्हारे सामने हाथ जोड़े खड़ा है। प्रसन्न होओ, और क्रोध को तुरन्त छोड़ दो। [क्रोध के कारण] हिलते हुए दोनों उरोजों वाली तुम [मुखमण्डल के] सौन्दर्य और विलास से रहित होकर [अब] क्यों बैठी हो?

अब कालिदास का निम्नोक्त पद्य लीजिए जिसमें बहुविध बाह्य विशेषताओं के आधार पर अनेक शब्द-गुणों की स्थिति स्वीकार की गयी है—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्यामिव मानदण्डः ॥[1] कु० सं० १.१

इस पद्य के आरम्भ में 'अस्ति' और अन्त में 'स्थितः' इन कर्तृवाचक प्रयोगों द्वारा आरम्भ से अन्त तक एक ही रचना-सरणि को अपनाया गया है, अतः यहां 'समता' नामक शब्दगुण है। इसके अतिरिक्त इस पद्य में 'पृथक्पदता' के कारण 'माधुर्य' नामक शब्दगुण भी माना गया है। 'पृथक्पदता' से तात्पर्य है—समासयुक्त पदों का, विशेषतः दीर्घ-समासयुक्त पदों का, न होना। साथ ही, यहां बन्ध में अजरठता (अकठोरता) के कारण 'सुकुमारता' नामक शब्द-गुण भी स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार संस्कृत-काव्य-समीक्षक रचना को पढ़ते-पढ़ते रचना का बाह्यपरक परीक्षण करता चलता है। उदाहरणार्थ—'विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्तयन्ति'[2] पाठ में तो उसे रचना-गत 'गाढता' प्रतीत होती है, वामन के अनुसार यहां 'ओज' नामक शब्द-गुण है। किन्तु उक्त पाठांश में 'मकरन्दाः' पद के स्थान पर 'मधुधाराः' पद रख देने से—'विलुलितमधुधारा मञ्जरीर्नर्तयन्ति'—में रचना-गत 'शिथिलता' प्रतीत होती है। इसी प्रकार—

स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनाम्
झणिति रणितमासीत् तत्र चित्रं कलञ्च ।[3] का० सू० वृ० ३.१.२३

इस रचना में समीक्षक को पद नाचते-से प्रतीत होते हैं। वामन के अनुसार यहां 'उदारता' नामक शब्द गुण है। किन्तु यदि इसके स्थान पर निम्नोक्त पाठ कर दिया जाए तो इसमें उक्त विशेषता नहीं रहेगी—

चरणकमललग्नैर्नूपुरैर्नर्तकीनाम्
झणिति रणितमासीन्मञ्जु चित्रञ्च तत्र। का० सू० ३.१.२३

---

१. [भारत की] उत्तर दिशा में देवता-सदृश हिमालय नामक पर्वतराज है। यह पूर्व और पश्चिम के समुद्रों तक विस्तीर्ण होकर ऐसे ठहरा है, मानो पृथ्वी को मापने का मापदण्ड हो।

२. [भौंरे] मकरन्द के कम्पित करते हुए [आम्र] की मंजरियों को हिलाते हैं।
(का० सू० वृ० ३.१.५)

३. वहां नर्तकियों के अपने पैरों में पहने हुए नूपरों का विचित्र और सुन्दर शब्द होने लगा।

कुछ ऐसी पद-नृत्यता निम्नोक्त ऋचा में भी प्रतीत होती है—इसे पढ़ते हुए ऐसे लगता है कि अग्निदेव की ज्वालाओं के साथ-साथ स्वयं हम भी कूद रहे हैं, उछल रहे हैं—

रयिर्न चित्रा सूरो न संदृग् आयुर्न प्राणो नित्यो न सूनुः।
तक्वा न भूर्णिर्वना सिषक्ति पयो न धेनुः शुचिर्विभावा ॥ ऋग्वेद १.६६.१

निम्नोक्त रचना को पढ़ते समय समीक्षक को क्रमशः आरोह (चढ़ाव) और अवरोह (उतार) की प्रतीति होने लगती है—

निरानन्दः कौन्दे मधुनि परिभुक्तोज्झितरसे।[1]

का० सू० वृ० ३.१.१३

तो निम्नोक्त रचना को पढ़ते समय क्रमशः अवरोह (उतार) और आरोह (चढ़ाव) की प्रतीति—

'नराः शीलभ्रष्टा व्यसन इव मज्जन्ति तरवः।'[2]

का० सू० वृ० ३.१.१३

उक्त तीनों पद्यों—'**स्वचरण**…', '**निरानन्द**…' और '**नराः शील-भ्रष्टाः**…'—को दृष्टि में रखकर यहां यह उल्लेख्य है कि संस्कृत का काव्य-समीक्षक 'पद-नृत्यता' अथवा 'आरोहावरोहक्रम' को पाठ का धर्म नहीं मानता।[3] अर्थात्, किसी पद्य अथवा गद्यांश में 'पद-नृत्यता' रूप उदारता नामक गुण न हो, किन्तु फिर भी, यदि कोई पाठक उसके प्रत्येक पद को नचाता हुआ सा पढ़ने लगे, तो वहां 'पद-नृत्यता' नहीं मानी जाएगी। वास्तविक पद-नृत्यता तो उपर्युक्त '**स्वचरणविनिविष्टैः**…' जैसे स्थलों में होती है। इसी प्रकार 'आरोहावरोहक्रम' रूप समाधि गुण भी '**निरानन्दः कौन्दे**…' जैसे स्थलों में होता है, न कि अपनी इच्छा से जिस भी किसी पद्य अथवा गद्यांश को 'चढ़ाव-उतार' के क्रम से पढ़ देने पर उक्त 'आरोहावरोह-क्रम' मान लिया जाएगा।

अब कुछ पद्य लीजिए, जिनमें वामन-सम्मत अर्थ-गुणों की स्थिति स्वीकार की गयी है—

नायक के नायिका को देखा और उसके रूप-सौन्दर्य को देख उसे भ्रम होने लगा कि यह कोई अप्सरा तो नहीं है, कि तभी उसने देखा कि इसने तो अपनी पलकें

---

१. रसास्वाद करके छोड़े हुए कुन्द (पुष्प) के मधु में रुचि न लेने वाला

२. [जल में] वृक्ष [ऐसे] डूब रहे हैं जैसे सदाचार-हीन पुरुष व्यसनों में डूब जाते हैं। इस आरोह-अवरोह अथवा अवरोह-आरोह के क्रम को वामन ने 'समाधि' गुण नाम दिया है।

३. **न पाठधर्माः, सर्वत्रादृष्टेः।** का० सू० वृ० ३.१.२८

झपकायी हैं और वह बोल उठा—यह तो पलकें झपकाती है—'निमिषति'। केवल इसी एक पद में यह अर्थ छिपा है कि यह कोई दिव्या नारी नहीं है, अपितु मानुषी है—**दिव्येयं न भवति किन्तु मानुषी**। वामन ने ऐसे स्थलों में ओज नामक अर्थ-गुण का पहला भेद—'वाक्यार्थ में पद का अभिधान' स्वीकार किया था, और आनन्दवर्धन की धारणानुकूल यहां 'पदगत वस्तु-ध्वनि' मान सकते हैं।

कथन वह जो दूसरे को लुभा ले, उसे आकृष्ट कर ले। कभी कोई अनभीष्ट बात कहनी हो, अथवा कोई कटु उक्ति कहनी हो तो इस रूप में कही जाए कि सुनने वाले को अखरे नहीं। 'मृत' व्यक्ति के विषय में 'यशःशेष' कहना, 'एकाकी' को 'देवता-द्वितीय' (भगवान् जिसका सहायक है) कहना, 'गच्छ' कहने के स्थान पर 'साधय' (अपने काम को 'सिद्ध करो') आदि कथन उपयुक्त धारणा के सुन्दर उदाहरण हैं—वामन के अनुसार गौणी लक्षणा के निर्देशक ऐसे स्थलों में 'सौकुमार्य' नामक अर्थ-गुण माना जाता है।[1]

× × ×

अब इस प्रकरण में एक पद्य लीजिए, जिसके प्रायः प्रत्येक वाक्य अथवा वाक्यांश में समीक्षकों ने शब्दगत सौन्दर्य माना है। इस पद्य को वामन ने **वैदर्भी रीति** के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है। वैदर्भी रीति में दसों गुण होते हैं—'समग्रगुणा वैदर्भी'। निम्नोक्त पद्य के प्रत्येक वाक्य अथवा वाक्यांश के सौन्दर्य के आधार पर टीकाकारों ने उसमें दसों शब्दगत काव्य-गुणों का निर्देश किया है—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृंगैर्मुहुस्ताडितम्,
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विस्रब्धं क्रियतां वराहविततिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः॥

—का० सू० वृ० १.२.११ (अभिज्ञान० २.६)

[सींगों से ताड़ित, पोखर-जल में भैंसे करें अवगाहन,
मृगकुल भी छाया में बैठा, करता रहे जुगाली,
लघु तालों में शूकर खोदें, जड़ें मोथा की निर्भय होकर,
और यह धनु भी मेरा, ले विश्रान्ति, ढीली प्रत्यञ्चा करके।]

इस पद्य में दस-शब्द-गुणों का सद्भाव टीकाकारों द्वारा इस प्रकार स्वीकार किया गया है—

---

१. का० सू० वृ० ३.२.१२

(१) 'छायाबद्धकदम्बकम्' और 'शिथिलज्याबन्धम्' इन दोनों पदों में बन्ध के विकट होने से ओज गुण।

(२) 'छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलम्' इस पद्य-भाग में बन्ध के गाढत्व और शैथिल्य के कारण प्रसाद गुण।

(३) 'महिषा निपानसलिलम्' इस पद्यांश में कोमल रचना के कारण श्लेष गुण।

(४) 'गाहन्तां महिषाः...' इस सम्पूर्ण पद्य में जिस मार्ग (शैली) से प्रारम्भ हुआ है, उसी मार्ग (शैली) से पद्य की समाप्ति भी हुई है, अतः समता गुण।

(५) 'गाहन्ताम्' पद में आरोह और 'महिषा' पद में अवरोह होने से समाधि गुण।

(६) 'शृंगैर्मुहुस्ताडितम्' में पृथक्पदता के कारण माधुर्य गुण।

(७) 'रोमन्थमभ्यस्यतु' में कोमल बन्ध के कारण सौकुमार्य गुण।

(८) 'शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः' में बन्ध की विकटता के कारण उदारता गुण।

(९) इस सम्पूर्ण पद्य में बन्ध के उज्ज्वल होने से कान्ति गुण, और

(१०) इस सम्पूर्ण पद्य में सभी पदों के स्पष्टार्थक होने के कारण अर्थव्यक्ति गुण।

इस प्रकार दस शब्द-गुणों की विद्यमानता के कारण उक्त पद्य में वैदर्भी रीति है। इस पद्य में टीकाकारों द्वारा निर्दिष्ट गुणों को दिखाने से हमारा आशय यह है कि भारतीय काव्याचार्यों अथवा समीक्षकों की एक दृष्टि यह भी थी कि रचना में प्रत्येक वाक्य अथवा वाक्यांश का सौन्दर्य दिखाया जाए।[1]

[५]

कुन्तक ने वक्रोक्ति-तत्त्व को जिन छः प्रमुख भेदों में विभक्त किया उनमें से निम्नोक्त भाषा से सम्बद्ध हैं—(१) वर्णविन्यासवक्रता, (२) पदपूर्वार्ध- (प्रातिपदिक-) वक्रता, (३) पदपरार्ध-(प्रत्यय-)वक्रता और वाक्यवक्रता। कुन्तक के दृष्टिकोण से काव्य का समीक्षक—

(१) शब्दालंकारों के चमत्कार को वर्णविन्यास-वक्रता का चमत्कार कहेगा।

(२) प्रातिपदिक-वक्रता निम्नोक्त भाषा-तत्त्वों पर आधारित की गयी है। पर्याय-शब्द, रूढि, उपचार, विशेषण, संवृति, प्रत्यय, आगम, भाव (क्रिया), लिंग, क्रिया और वृत्ति (समास, कृत्, तद्धित)।

(३) प्रत्यय-वक्रता निम्नोक्त भाषा-तत्त्वों पर आधारित है—काल, कारक, संख्या

१. इस सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिए देखिए १७वां अध्याय

(वचन), पुरुष, उपग्रह, (आत्मनेपद, परस्मैपद) और प्रत्यय-माला। इनके अतिरिक्त उपसर्ग और निपात से जन्य वक्रताएं भी मानी गयी है।

(४) वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत निम्नोक्त तीन काव्य-तत्त्वों को सम्मिलित किया गया है—(क) वस्तु अर्थात् वर्ण्यविषय अथवा स्वभावोक्ति (ख) अर्थालंकार (वाच्य और व्यंग्य) तथा (ग) रस।

कुछ उदाहरण लीजिए—

'यह पर्वत-तटी अत्यन्त संतप्त हो रही है, अतः मुझे लगता है कि कोई ऐसा मेघ आने वाला है जो शीघ्र ही चन्द्र-ज्योत्स्ना को तिरस्कृत करने वाला है, तथा समग्र संसार को व्याप्त कर लेने के कारण मनोहर रूप धारण कर लेगा—

तटी तारं ताम्यत्यतिशशियशाः कोऽपि जलद-
स्तथा मन्ये भावी भुवनवलयाक्रान्तसुभगः।। व० जी० २.७९

यद्यपि 'तट' शब्द का प्रयोग तीनों लिंगों में होता है, किन्तु यहां उसका स्त्रीलिंग में प्रयोग इस वक्रता का सूचक है कि 'तटी' रूपी यौवनोद्दीप्ता नायिका का उपभोग करने वाले मेघ-रूप नायक का आगमन शीघ्र होने वाला है। अतः यहां 'लिंगवक्रता' है।

लिंग के औचित्यपूर्ण प्रयोग के कारण काव्य-सौन्दर्य का एक और स्थल—यह विरहिणी नायिका निद्रा का स्पर्श तक नहीं करती, धृति को छोड़े बैठी है, कहीं स्थिरता को धारण नहीं कर पा रही, बस, लम्बी व्यथामय कथा को ही जानती है, तथा किसी भी रूप में शान्ति को नहीं प्राप्त कर रही—

निद्रां न स्पृशति त्यजत्यपि धृतिं धत्ते स्थितिं न क्वचित्।
दीर्घां वेत्ति कथां व्यथां न भजते सर्वात्मना निर्वृतिम्।।
—औचित्यविचारचर्चा, ललितरत्नमाला

कवि ने यहां जानबूझकर निम्नोक्त स्त्रीलिंग-वाची शब्दों का प्रयोग किया है—निद्रा, धृति, स्थिति, कथा, व्यथा और निर्वृति। किन्तु इन शब्दों के अर्थ-द्योतन के लिए स्त्रीलिंग-वाची शब्दों के साथ-साथ यदि कवि पुलिंग और नपुंसकलिंग-वाची शब्दों का भी प्रयोग करते तो इस प्रकार का कथन-प्रवाह एवं भाव-प्रवाह न उमड़ पाता, जैसे कि केवल स्त्रीलिंग-वाची शब्दों के एकत्र प्रयोग से उमड़ रहा है।

करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरम्।
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।। अभिज्ञान० १.२४

['हे मधुकर, यह कन्या हमारे योग्य भोग्या क्षत्रिया है अथवा नहीं—हम तो इसी तत्त्व के अन्वेषण में ही मारे गये, किन्तु तुम हाथों को फटकारती इसके रति-सर्वस्व अधरों का पान करके कृतार्थ हो गये।']

यहां 'वयम्' पद के प्रयोग से तात्पर्य है कि अकेला दुष्यन्त नहीं उस जैसे अनेक भाग्यहीन व्यक्ति तड़पते रह जाते हैं, जबकि उनके देखते-देखते दूसरे व्यक्ति उपभोग कर रहे होते हैं। इसके अतिरिक्त 'वयम्' पद से राजा की उदात्तता तथा 'त्वम्' पद से भ्रमर की निकृष्टता द्योतित होती है। अतः यहां **वचनवक्रता** है। इस प्रकार निम्नोक्त स्थल में भी बहुवचन-सूचक 'अंगेषु' पद के प्रयोग के कारण काव्य-चमत्कार है—

शकुन्तला के रूप-लावण्य पर मुग्ध दुष्यन्त उसके अधर और बाहुओं की उपमा क्रमशः किसलय-राग और कोमल शाखाओं से करके—मानो इस इच्छा से कि कहां तक किस-किस अंग का सौन्दर्य वर्णित करूं—अनायास कह उठा कि इसके 'अंगों में' तो पुष्प के समान लुभावना यौवन समाया हुआ है—

> अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
> कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु संनद्धम्॥ अभिज्ञान० १.१८

पर टीकाकार ने 'अंगों में' यह बहुवचनान्त प्रयोग देखा तो इसकी व्याख्या निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत करते हुए मानो दुष्यन्त के मन की बात प्रकट करके रख दी कि 'अंगों में यौवन भरा है' से तात्पर्य है—उसके मुख में कान्तिमत्ता है, नयनों में तरलता है, वक्षःस्थल में स्तनों का उभार है, नाभि में गंभीरता है, जघन, जंघा, जानु तथा ऊरुओं में मांसलता है, आदि, आदि। काव्य-भाषा का पारखी समीक्षक 'अंगेषु' पद की व्याख्या में यह सब लिखता चला गया है।

अब एक ऐसा पद्य लीजिए जिसमें लिंग और वचन दोनों के प्रयोग के कारण काव्य-सौन्दर्य निखर उठा है—

> कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता,
> निःपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः।
> मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति बाष्पः स्तनतटीं,
> प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्॥
> —अमरुकशतक ८१, व० जी० २.१०१

[हमारी प्रार्थनाओं को न मानने वाली प्रियतमे! तुम्हारे गालों पर बनी पत्र-लेखा को तुम्हारे हाथों ने मल डाला, अमृत के समान स्वाद वाले तुम्हारे अधरामृत को निःश्वासों ने पी डाला, यह अश्रु-प्रवाह बार-बार गले में लगकर (तुम्हारी) स्तन-तटी को हिला रहा है; तुम्हें तो बस क्रोध ही प्रिय हो गया है, 'हम नहीं'—अर्थात् हमारी तो तुम्हारे प्रियजनों में कोई गिनती ही नहीं है।]

इस पद्य में करतल और बाष्प शब्द पुल्लिंग हैं जो कि क्रमशः पत्राली और स्तन-तटी इन स्त्रीलिंगों पर अधिकार किये बैठे हैं। निःश्वास शब्द पुल्लिंग भी है और

बहुवचनान्त भी—एक नहीं, कई-कई पुलिगों (निःश्वासों) ने तेरे अधर-रस को पी डाला है। ('अधररस' इस पुलिग-वाची शब्द के स्थान पर यदि उक्त 'पत्राली' और 'स्तन-तटी' के समान 'अधर-सुधा' अथवा ऐसा कोई अन्य स्त्रीलिंग-वाची शब्द होता तो समुचित रहता।) उक्त शब्दों के अतिरिक्त 'अहम्' के स्थान पर 'वयम्' बहुवचन-वाचक शब्द का प्रयोग भी काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि कर रहा है। 'मैं' नहीं कहा गया—'हम' कहा गया है। 'मैं' कहा जाता तो इससे नायिका की नायक के साथ अन्तरंगता का बोध होता—अब उसकी यह अन्तरंगता इसके प्रति न होकर अन्य प्रियजनों के प्रति है। पर 'हम' कहने से नायिका की नायक के प्रति उदासीनता का बोध होता है कि इन प्रिय 'पुलिगों' की तुलना में अब 'हम' होते कौन हैं—तुम्हारा प्रिय बनने का दम भरने वाले!

अब कारक के औचित्यपूर्ण प्रयोग के कारण काव्यसौन्दर्य का द्योतक स्थल लीजिए—

स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम्॥ कादम्बरी (पूर्व), २१

हे राजन्! [आपसे रण में पराजित तथा विनष्ट] रिपुओं की [विरहिणी] स्त्रियों के स्तन-युगल मानो व्रत धारण किये हैं। सदा अश्रुओं से स्नात रहते हैं। (योगि-जन भी सदा स्नात रहते है।) शोक की अग्नि से सन्तप्त हृदय के समीप रहने के कारण ये [व्रतचारियों के अनुरूप] अग्नि के समीप रहते है। 'विमुक्ताहार' रहते हैं—पुष्पादि के हार को धारण नहीं करते। योगियों के पक्ष में वे आहार से रहित है।

कवि यदि कहते कि पतियों के मरण के पश्चात् ये नारियां सदा आँसू बहाती रहती है, विरह की आग में जल रही हैं, इन्होंने आहार खाना छोड़ दिया है तो यह कथन इतिवृत्त मात्र होता, पर 'स्तनयुगल' के संबंध में यह सब कहना—और वह भी श्लेप के माध्यम से—काव्य-चमत्कारोत्पादक है। यहां 'स्तनयुगल' पद कर्ता कारक में है, और क्षेमेन्द्र के अनुसार यहां इस कारक के औचित्यपूर्ण प्रयोग के कारण काव्य-सौन्दर्य है।

भापा का एक अंग है **पर्याय-शब्द**। एक ही वात को यदि किसी कवि ने एक ही शब्द से कह दिया तो यह उसके शब्द-दारिद्रच का सूचक है, पर महान् कवि तो पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करते हुए भी उसी एक वात को नूतन रूपों में प्रस्तुत करता चलता है। अश्वघोप का यह पद्य लीजिए—

संनिधानमिवार्थानामाधानमिव तेजसाम्।
निकेतमिव विद्यानां संकेतमिव संपदाम्॥ सौन्दरनन्द १.५३

कपिलवस्तु धन-सम्पत्ति का संनिधान है, तेजःपुंज का आधान है, विद्याओं का निकेत है, और सम्पदाओं का संकेत है। संविधान, आधान, निकेत और संकेत—ये चारों पर्याय-शब्द एक ही अर्थ 'घर' के वाचक सही, पर यहां ये विभिन्न अर्थच्छायाओं की ओर इंगित करते हैं। यह नगरी 'धनसम्पति का संनिधान' है—अपार धन-राशि इसमें हर जगह अटी पड़ी है। यह 'तेजःपुंज का आधान' है—इसमें जहां-तहां दीप्त पदार्थ रखे हुए हैं—यज्ञाग्नियों का आधान तो यह नगरी है ही। यह 'सकल विद्याओं का निकेत' है—घर-घर में विद्या-व्यसनी लोग रहते हैं इसमें। यह 'सम्पदाओं का संकेत' है—ऐश्वर्य के सभी साधनों ने तो यहां आकर अपना स्थायी अड्डा ही बना लिया है। 'पर्याय-प्रयोग' से एक और तात्पर्य भी है—विभिन्न पर्याय-वाची शब्दों में से किसी एक का चयन। उदाहृणार्थ, हमारे राजा के पास बहुत-से बाण हैं, जो वज्रधारी (अर्थात् इन्द्र) के पराक्रम की निधि हैं—

सन्ति भूभृति हि नः शराः परे। ये पराक्रमवसूनि वज्रिणः ।।

—किरातार्जुनीय १३.५८, वक्रोक्तिजीवित २. ३२

इन्द्रवाचक अनेक पर्याय-शब्दों में से यहां 'वज्रिन्' शब्द का प्रयोग वक्ता के निकटतम भाव को प्रकट करता है। इसी प्रकार श्लिष्ट पर्याय-शब्दों के प्रयोग के कारण भी काव्य में 'वक्रता' (आह्लाद-प्रदान-क्षमता) आ जाती है—

पन्थि सा एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे।
उण्णअ पओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ।। सा० द० ४.७ वृत्ति

[**पान्थ, नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।**
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस ।।] (संस्कृतच्छाया)

[रमणी बोली—हे पथिक, इस पहाड़ी गांव में न तो 'सत्थर' अर्थात् स्रस्तर (बिस्तर) है, और न ही 'सत्थर' अर्थात् पर-नारी-रमण-विषयक 'शास्त्र के नियमों का पालन) है। हाँ, यदि उठे हुए इन 'पयोधरों' (बादलों अथवा स्तनों) को देखकर यहां ठहरना चाहते हो तो ठहर जाओ।]

यहां 'सत्थर' और 'पयोधर' इन श्लिष्ट-शब्दों के प्रयोग के कारण उक्त पर्याय-वक्रता है। इन दोनों शब्दों के स्थान पर इनका पर्याय-शब्द रख देने से उक्त चमत्कार नष्ट हो जाएगा। इसी प्रसंग में कुन्तक का यह मन्तव्य भी उल्लेखनीय है कि अन्य अनेक पर्यायवाची शब्दों के होते हुए भी वस्तुतः वही शब्द 'वाचक' कहाने योग्य होता है जिसका प्रयोग कवि इसलिए करता है वह उसके अभीष्ट अर्थ का द्योतक होता है और

वह अर्थ सहृदयों को आह्लादित करने वाला तथा अपने स्वभाव से ही सुन्दर होता है'[1]— और इसका प्रमाण है **'द्वयं गतं सम्प्रति···'** (पृष्ठ२८७) पद्य में 'कपालिन्' शब्द का प्रयोग। शिव के अनेक पर्यायवाची शब्दों के होते हुए भी 'कपाली' (खोपड़ी धारण करने वाला) शब्द का प्रयोग इस अर्थ का द्योतक है कि शिव एक वीभत्सपूर्ण जन्तु है, और यह अर्थ वाच्यार्थ से अतिशय अर्थ है, अर्थात् व्यंग्यार्थ अथवा वक्रार्थ है।

अब सर्वनाम के विशिष्ट प्रयोग के कारण काव्य-सौन्दर्य देखिए—

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः।
वीक्ष्य बिम्बमनुबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया॥ कु० सं० ८.११

[पार्वती दर्पण में अपने मुख पर उन संभोग-चिह्नों को देख रही है, जो कि—कल रात उसके मुख पर—अंकित हो गये थे, कि इतने में ज्यों ही उसने अपने पीछे की ओर बैठे हुए प्रियतम (शिवजी) के प्रतिबिम्ब को अपने प्रतिबिम्ब के समीप देखा तो फिर उसने लज्जावश क्या-क्या चेष्टाएं नहीं कीं ?]

संस्कृत का समीक्षक ऐसे स्थलों में 'कानि-कानि' इस सर्वनाम के प्रयोग के कारण-चमत्कार मानता है, कि 'क्या-क्या' से अभिप्राय है—'अवर्णनीय' चेष्टाएं, जिनमें लज्जा, भाव-गोपन, हर्ष, उल्लास, उपालम्भ, शिकवे-शिकायत, इनकार और इकरार—आदि अनेक बहुविध मनोभाव छिपे पड़े हैं। कुन्तक ने ऐसे काव्य-चमत्कार को 'संवृति-वक्रता' नाम दिया है। 'संवृति' कहते हैं—गोपन को।

इसी प्रकार निम्नोक्त पद्य में भी सर्वनाम के प्रयोग के कारण काव्य-चमत्कार है—

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता,
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा,
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि॥ ध्वन्या० ३.४ वृत्ति

[वत्सराज उदयन ने वासवदत्ता के आग में जल मरने का समाचार सुना तो विलख पड़े—अग्नि के डर से कांपती हुई, अपने जलते हुए वस्त्रों को शरीर से उतारने की चेष्टा करती हुई, बचाये जाने की आशा में अपने कातर नयनों को चारों दिशाओं में फेंकती हुई तुझको अत्यन्त क्रूर और धूमान्ध अग्नि ने एक बार देखा तक नहीं और एकदम निर्दयता-पूर्वक भस्म कर डाला।

---

१. शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥ व० जी० १.९

इस पद्य में संस्कृत-समीक्षक 'ते' पद के प्रयोग में चमत्कार स्वीकार करता है[1]—'अरे, कितनी हृदय-हीन है यह अग्नि, जिसने तुझ जैसी अनिन्द्य सुन्दरी, कोमलांगी और सकलगुण-सम्पन्ना नारी को भस्मीभूत कर डाला।

निम्नोक्त स्थलों में क्रिया के विशिष्ट प्रयोगों के कारण काव्य-सौन्दर्य की उत्पत्ति की गयी है—

पार्वती ने लाड़-लाड़ में महादेव की चन्द्रलेखा अपने सिर पर धारण करके पूछा—क्या मैं इससे सुन्दर लगती हूं? उत्तर में महादेव ने उनका माथा चूम लिया—ऐसा उत्तर आप सब की रक्षा करे—

> किं शोभिताऽहमनयेति शशांकमौले:।
> पृष्ठस्य पातु परिचुम्बनमुत्तरं वः॥ कुमारसंभव ३.३३

'परिचुम्बन' क्रिया से बढ़कर भला और क्या बढ़िया उत्तर हो सकता था? अत: कुन्तक का अनुवर्ती काव्य-समीक्षक यहां 'क्रिया-वक्रता' मानेगा।

अब क्रिया के औचित्यपूर्ण प्रयोग के कारण उत्पन्न काव्य-सौन्दर्य की चर्चा करते हैं—

क्रिया-साध्य-रूपा होती है, अर्थात् किसी व्यापार का निष्पादन ही उसका ध्येय है, परन्तु कभी-कभी चमत्कार उत्पन्न करने के अभिप्राय से क्रिया के साध्य-रूप का तिरस्कार कर उसे सिद्ध-रूप में प्रदर्शित किया जाता है—

> नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा।
> पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा॥
>
> —भारतीय साहित्यशास्त्र (२), पृष्ठ ३६२

[पुष्पधनु कामदेव प्रत्येक मनुष्य पर बाण फेंक रहा है, और प्रत्येक नगर में मानिनी स्त्रियों के मान धारण करने की चर्चा समाप्त हो गयी है।]

सुवन्त पद सिद्ध होते हैं और तिङन्त पद साध्य। कृदन्त शब्द भी 'सिद्ध' माने जाते हैं। जब कोई क्रिया साध्य (तिङन्त) रूप में प्रयुक्त न की जाकर कृदन्त (सिद्ध) रूप में प्रयुक्त की जाती है तो वहां भाववक्रता मानी जाती है। उक्त पद्यांश में 'विन्यवर्तत्' इस साध्य (तिङन्त) के स्थान पर 'विनिवृत्ता' सिद्ध (कृदन्त) क्रिया का प्रयोग किया गया है। इस 'सिद्ध' क्रिया के प्रयोग से यह काव्य-चमत्कार उत्पन्न हो गया है कि

---

१. अत्र हि 'ते' इत्येतत् पदं रसमयत्वेन स्फुटमेवावभासते सहृदयानाम्।

—ध्वन्यालोक ३.४ (वृत्ति)

कामदेव तो अभी वाण चला रहा है (किरति), किन्तु मानिनियों का मान समाप्त भी हो गया है (विनिवृत्ता)।

इसी प्रसंग के अन्तर्गत अनेक क्रियापदों का प्राञ्जल प्रयोग भी दर्शनीय है—

तदा हि तज्जन्मनि तस्य राज्ञो मनोरिवादित्यसुतस्य राज्ये ।
चचार हर्षः प्रणणाश पाप्मा जज्वाल धर्मः कलुषः शशाम ॥[1] बुद्धचरित २.१६

उक्त पद्य में चचार, प्रणणाश, जज्वाल और शशाम जैसी 'लेट्-लकार' सूचक क्रियाओं का एक-साथ प्रयोग हमें अन्तिम दो पादों को बार-बार पढ़ने को प्रेरित करता है।

अब **निपात** के प्रयोग के कारण काव्य-चमत्कार का उदाहरण लीजिए—

मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चूम्बितं तु ।[2] अभिज्ञान० ३.७८

यहां 'तु' निपात के कारण काव्य-सौन्दर्य है।

इतना ही नहीं, भारतीय काव्यशास्त्री **परस्मैपद** के स्थान पर **आत्मनेपद** का (अर्थात् किन्हीं स्थितियों में **कर्तृवाच्य** के स्थान पर **कर्मवाच्य** का) प्रयोग करने में काव्य-सौन्दर्य स्वीकार करता है। उदाहरण लीजिए—

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान् मुमुक्षोः, कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः ।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरयत्सु नेत्रैः, प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥
—रघुवंश ९.५८, व० जी० २.१०६

[राजा दशरथ ने, मृगया खेलते समय, दूसरे हरिणों पर वाण चलाने के लिए वाण की चुटकी ज्यों ही कान तक खींची कि उन्होंने हरिणों की डरी हुई चंचल आंखों को देखा और तभी उन्हें अपनी प्रौढ़ प्रियतमा के चपल नेत्रों के विलासों का स्मरण हो आया, और उनकी ज़ोर से बंधी मुट्ठी खुल गयी।]

यहां 'बिभिदे' आत्मनेपदी प्रयोग है, जिसका अर्थ है—**'भिद्यते स्म'**—'खुल गयी।' **'मुष्टिः बिभिदे'** इस कर्मवाच्य के प्रयोग के कारण कवि को यह कहना अभीष्ट है कि राजा चाहते, तो भी वाण नहीं चला सकते थे, क्योंकि मुट्ठी स्वतः खुल गयी थी।

इस प्रकार कुन्तक के अनुसार उक्त पद्यों में काव्य-चमत्कार (वक्रता) विभिन्न भाषा-तत्त्वों—लिंग, वचन, कारक, पर्याय, सर्वनाम, क्रिया, निपात आदि के प्रयोग

---

१. उस राजा के राज्य में हर्ष का सर्वत्र संचार हो गया, पाप विनष्ट हो गया, धर्म प्रज्वलित हो उठा और मन का मैल शान्त हो गया—धुल गया।

२. देखिए पृष्ठ ९८

पर आधारित है। प्रश्न है कि यह चमत्कार क्या इन व्याकरणिक 'पदों' के वाच्यार्थ पर आधारित है, अथवा वाच्यार्थ से परवर्ती किसी इतर अर्थ पर? स्पष्ट है कि यह इतर अर्थ पर आधारित है। उदाहरणार्थ—'किं शोभिताऽहमनया···' (पृष्ठ १७७) पद्य में 'परिचुम्बन' शब्द के वाच्यार्थ में सौन्दर्य निहित नहीं है, अपितु इस अर्थ पर है कि महादेव का पार्वती के प्रति अप्रतिम प्रेम है। इसी अर्थ को आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' (व्यंग्यार्थ) कहा था और उनके अनुसार इसी पर काव्य-चमत्कार आधारित है। स्वयं आनन्दवर्धन ने ध्वनि के अनेक भेद भाषा-तत्त्वों पर आधारित किये थे, किन्तु उन्हें काव्य-सौन्दर्य इनके 'अंतरंग' से अभीष्ट था, न कि इनके वाह्य प्रयोग मात्र से। यथा—'संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि-काव्य' के तीन उपभेद हैं—'शब्दशक्त्युद्भव', 'अर्थशक्त्युद्भव' और 'शब्दार्थशक्त्युद्भव', जो कि क्रमशः शब्द, अर्थ और शब्दार्थ की शक्ति से उद्भूत हैं। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि-(रस-ध्वनि-) काव्य के कतिपय उपभेद वर्ण, पद, पदांश, प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग, निपात और वाक्य पर आधारित हैं। जो हो, कुन्तक को सिद्धान्ततः काव्य की 'वाह्यपरकता' पर वल देना भले ही अभीष्ट हो, पर मूलतः 'वक्रोक्ति' को 'विचित्रा अभिधा' कहते हुए प्रकारान्तर से वे इसे 'व्यंजना' ही कहते हैं।[1]

× × ×

इस प्रसंग में एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि काव्य-चमत्कार वाच्यार्थ से परवर्ती अर्थ पर आधारित है, तो फिर विभिन्न भाषा-तत्त्वों—व्याकरणिक प्रयोगों—का काव्य के सौन्दर्य-विधान में क्या योगदान है? इसका उत्तर यह है कि इस प्रकार के स्थलों में वाच्यार्थ-वोध के पश्चात् ये व्याकरणिक विशिष्ट प्रयोग व्यंग्यार्थ-प्रतीति में अनिवार्यतः सहायक वनते हैं। उदाहरणार्थ, 'तटी तारं ताम्यति···'(पृष्ठ १७२) पद्य में 'तटी' शब्द का वाच्यार्थ 'तट' चमत्कारोत्पादक नहीं है, अपितु इस शब्द की 'स्त्रीलिंगता' का वोध ही 'तटी' रूपी नायिका को व्यंजित करने में सहायक वनता है, और तभी सहृदय को काव्यानन्द की प्राप्ति होती है।

× × ×

आइए, अव भाषा और काव्य के पारस्परिक सम्वन्ध पर एक अन्य दृष्टि से विचार करें। कुछ काव्य-स्थल ऐसे होते हैं, जिनमें समीक्षक और पाठक सहृदयता के स्तर पर तो एक-समान होते हैं, अर्थात् किसी एक काव्यस्थल से ये दोनों एक-समान

---

१. वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाऽभिधा।

—व० जी० १.१० (वृत्ति)

ही काव्य-चमत्कार की अनुभूति करते हैं, पर समीक्षक जब काव्य-चमत्कार में किसी प्रकार के भाषाशास्त्रीय मानदण्ड का उल्लेख करने लगता है तो सहृदय उससे कुछ भी सरोकार रखना पसन्द नहीं करता। वस्तुतः, ऐसे स्थलों में समीक्षक की विवेचन-पद्धति से वह ऊब उठता है, उसकी सहृदयता को आघात पहुँचता है, और शास्त्रीय मानदण्डों से दूर बना रहकर वह सहृदयता के क्षणों को फिर-फिर पकड़ना चाहता है। उदाहरणार्थ, पूर्णोपमा के दो उदाहरण लीजिए। पूर्णोपमा के दो भेद हैं—आर्थी और श्रौती। पहले आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण लीजिए—

मधुरः सुधावदधरः पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः।
चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः॥
—सा० द० १०.१६ वृत्ति

[उस रमणी का अधर सुधावत् मधुर है, हाथ पत्ते के तुल्य अति कोमल हैं, और उसके नेत्र चकित मृग के नयनों के सदृश चपल हैं।]

उक्त पद्य को पढ़ते ही रूप-सौन्दर्य का चमत्कार किसी भी पाठक को सहृदयता के स्तर पर अभिभूत कर देता है, चाहे वह पाठक कोई सामान्य व्यक्ति हो अथवा कोई समीक्षक हो, किन्तु जब कोई समीक्षक किसी सामान्य पाठक को यह समझाने लगता है कि (१) 'सुधावत्' में तद्धितगत आर्थी उपमा है, (२) 'पल्लवतुल्य' में समासगत आर्थी उपमा है, और (३) 'मृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले' में वाक्यगत आर्थी उपमा है, तो व्याकरण के पूर्व-निर्धारित नियम पाठक की सहृदयता को जगाने में, अथवा यों कहिए उसे अर्थ-चमत्कार का अवबोध कराने में, किसी भी रूप में सहायक नहीं बनते। उक्त तीनों वाक्य 'वत्', 'तुल्य' और 'सदृश' के प्रयोग के कारण व्याकरण के आधार पर पूर्णोपमा के उक्त तीन भेदों के उदाहरण हैं—यह सब जाने बिना भी सहृदय उक्त पद्य से चमत्कृत हो उठता है। इसी प्रकार श्रौती पूर्णोपमा के निम्नोक्त उदाहरण की भी यही स्थिति है—

सौरभमम्बुरुहवन्मुखस्य कुम्भाविव स्तनौ पीनौ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले॥
—सा० द० १०.१६ वृत्ति

[हे बाले, तेरे मुख की सुगन्ध कमलवत् है, तेरे स्तन घट के समान पीन हैं, तथा तेरा मुख हृदय को आह्लादित करता है, जैसे शरद् ऋतु का चन्द्रमा।]

इस पद्य में 'अम्बुरुहवत्' में तद्धितगत श्रौती है, 'कुम्भाविव' में समासगत श्रौती है, और 'शरदिन्दुर्यथा' में वाक्यगत श्रौती है। इस पद्य में भी 'वत्', 'इव' और 'यथा' इन उपमावाचक शब्दों से सम्बद्ध व्याकरण के नियमों के ज्ञान के बिना ही सहृदय को काव्याह्लाद की प्राप्ति होती है।

उक्त दोनों उदाहरणों को उल्लिखित करने से हमारा प्रयोजन यह है कि जिस प्रकार ऊपर उद्धृत 'तटी ताम्यत्यतिशशियशाः' में 'तटी' शब्द की स्त्रीलिंगता का ज्ञान, और 'वयं तत्त्वान्वेषान् मधुकर' में 'वयम्' शब्द की बहुवचनता का ज्ञान तो पाठक की सहृदयता को उभारने में सहायक सिद्ध होता है, किन्तु पूर्णोपमा के उक्त दोनों उदाहरणों में 'तद्धित', 'समास' और 'वाक्य' का ज्ञान पाठक की सहृदयता को उभारने में सहायक सिद्ध नहीं होता। इसका कारण यह है कि लिंग' और 'वचन' नामक व्याकरणिक तत्त्व उन तत्त्वों में से हैं, जिनका ज्ञान मानव को अनिवार्यतः तथा सहज रूप से स्वतः हो जाता है पर तद्धित, समास और वाक्य—ये उस प्रकार के व्याकरणिक तत्त्व नहीं हैं कि जिनका ज्ञान सहज रूप से हो जाता हो, और न ही ये तत्त्व अनिवार्यतः ज्ञातव्य हैं कि इनके जाने बिना भाषा-सम्बन्धी व्यवहार न हो सकता हो, अथवा काव्य-सौन्दर्य का बोध संभव न हो।

अस्तु! इस प्रकार काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में 'भाषापरक समीक्षा' अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है।

□□□

१५. ऊहात्मक समीक्षा

'ऊह' शब्द से यहां हमारा तात्पर्य है—काव्य की भाषा के किसी पद, वाक्यांश अथवा वाक्य का वह अर्थ जो कि कवि अथवा सहृदय की कल्पना से प्रसूत हो। भारतीय काव्यशास्त्र इस प्रकार के अर्थ को 'व्यंग्य' अथवा 'प्रतीयमान अर्थ' की संज्ञा देता है। आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी में शब्द के प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न कुछ और ही वस्तु होती है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥ ध्वन्या० १.४

भाषा के प्रसिद्ध अर्थ (वाच्य अर्थ) और उसके प्रतीयमान अर्थ (ऊहात्मक अर्थ) की पारस्परिक विभिन्नता को समझाने के लिए आनन्दवर्धन ने तीन लौकिक उदाहरण दिये हैं—

(क) एक तो उपर्युक्त कारिका में प्रस्तुत किया गया है कि 'जिस प्रकार अंगना के सुन्दर अवयव और उनसे फूटता हुआ लावण्य भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, उसी प्रकार महाकवियों की वाणी में प्रसिद्ध अवयव (प्रसिद्धार्थ, वाच्यार्थ), औरउ नसे अभिव्यक्त प्रतीयमान अर्थ भी भिन्न-भिन्न होते हैं—'**प्रतीयमानं** × × ×**प्रसिद्धाऽवयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।**' यहां 'लावण्य' शब्द का अभिप्राय भी स्पष्ट कर देना अपेक्षित है—

मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥ (अज्ञात)

[सुन्दर अंगों से फूटते हुए लावण्य का स्वरूप कुछ इस प्रकार से कहा जा सकता है—जैसे मोती की छाया (आब) की तरलता उससे भिन्न रूप से आभासित होती रहती है।]

(ख) जिस प्रकार कोई व्यक्ति प्रकाश के लिए दीपशिखा को प्रज्वलित करने का प्रयास करता है, उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ का अभिलाषी पाठक वाच्यार्थ की अपेक्षा रखता है—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः ।
तदुपायतया तद्वद् अर्थे वाच्ये तदादृतः ॥ ध्वन्या० १.९

इससे यह आशय ले सकते हैं कि जिस प्रकार दीपशिखा और उससे निस्सृत प्रकाश अलग-अलग पदार्थ हैं, उसी प्रकार वाच्यार्थ और उससे व्यंजित प्रतीयमान अर्थ (ऊहात्मक अर्थ) अलग-अलग तत्त्व हैं।

(ग) प्रतीयमान अर्थ तो सुन्दरियों के [मुख से फूटती हुई] लज्जा की छाया के समान होता है—

मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥ ध्वन्या० ३.३८

निष्कर्षतः, भाषा का प्रसिद्धार्थ (वाच्यार्थ) उसके प्रतीयमान अर्थ से ऐसे भिन्न होता है जैसे अंगनाओं के अंग से फूटता हुआ लावण्य, मुक्ता से निस्सृत उसकी तरल छाया, दीपशिखा से निस्सृत प्रकाश और मुख से आभासित होती हुई लज्जा की आभा।

अब इस प्रकार के स्थल द्रष्टव्य हैं जिनमें समीक्षक भाषा के किसी पद, वाक्यांश अथवा वाक्य के प्रचलित अर्थ से अतिरिक्त अर्थ को दिखाते हुए काव्य-सौन्दर्य का उद्घाटन करता है—

—सर्वप्रथम कालिदास का पद्य लीजिए, जिसमें महादेव को वर-रूप में प्राप्त करने के लिए तपस्या में लीन पार्वती का स्वरूप चित्रित किया गया है—'तपस्या करती हुई पार्वती के ऊपर गिरी हुई पहली वर्षा की बूंदें क्षण भर पलकों पर रुकीं, फिर वहां से अधरोष्ठ पर गिरीं, और इसके अनन्तर उन्नत पयोधरों पर गिरकर चूर्ण-चूर्ण हो गयीं, फिर उदर-रेखाओं में फिसल पड़ीं, और बहुत देर में नाभि में जा पहुंचीं—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥ कुमारसम्भव ५.२४

इस पद्य की व्याख्या करते हुए मल्लिनाथ ने विभिन्न पदों के वाच्यार्थों से चमत्कारपूर्ण ध्वन्यर्थ प्रस्तुत किये हैं—

—बूंदे पलकों पर क्षण-भर के लिए ठहर गयीं—'क्षण-भर के लिए' इस पद से पलकों की स्निग्धता द्योतित होती है, और 'ठहर गयीं' इस पद से पलकों की घनता।

—बूंदों ने पार्वती के निम्नोष्ठ को ताड़ित किया—इससे निम्नोष्ठ का मार्दव लक्षित होता है।

—बूंदें पयोधरों के उपरिभाग पर गिरने से चूर्ण-चूर्ण हो गयीं—इससे पयोधरों की कठोरता का आभास मिलता है।

—पुनः बूंदें उदर-रेखाओं में फिसल पड़ीं—इससे रेखाओं की ऊंची-नीची स्थिति का ज्ञान होता है।

—फिर बूंदें बहुत देर में नाभि में जा पहुंचीं—'बहुत देर' पद से द्योतित होता है कि 'त्रिवली' ने इन्हें रोक रखा था।

—फिर बूंदें नाभि में पहुंच गयीं—'पहुंच गयीं' से तात्पर्य है कि नाभि में प्रवेश के अनन्तर फिर बाहर नहीं निकलीं—इससे नाभि की गम्भीरता की प्रतीति होती है।[1]

—और, इन सब गम्यार्थों से ज्ञात होता है कि तपस्या-लीन पार्वती बिल्कुल सीधी बैठी हुई थी।

इस प्रकार समीक्षक ने यहां प्रत्येक पद से व्यंग्यार्थ सूचित किया है।

अब कतिपय काव्य-स्थल और लीजिए—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।

'आपने बड़ा उपकार किया है, कहां तक आपकी प्रशंसा की जाए'—इस कथन से वस्तुतः वक्ता को श्रोता की निन्दा करना अभीष्ट है।[2]

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥ कुमारसम्भव ६. ८४

[सप्तर्षियों ने जब हिमालय पर्वत से महादेव के सम्बन्ध में बताया कि वह पार्वती के लिए अत्यन्त उपयुक्त वर है तो पास बैठी पार्वती कमल के पत्तों को गिनने लगी मानो कोई खेल खेल रही हो।]

यहां 'पत्ते गिनने' से कालिदास का वास्तविक अभिप्राय यह है कि पार्वती में

१.—मल्लिनाथ ने यहां परिकर अलंकार माना है—**अत्र प्रतिपदमर्थवत्त्वात् परिकरालंकारः**, क्योंकि यहां साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग हुआ है। विश्वनाथ के अनुसार यहां पर्याय अलंकार है, क्योंकि एक ही वस्तु (बिन्दु) अनेक [स्थलों] पर स्थित हुई है। (सा० द० १०.८०)

—ऐसे स्थलों में विपरीत-लक्षणा का चमत्कार माना जाता है।

महादेव के प्रति रति का संचार हुआ और वह सलज्ज हो उठी।[1]

भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुंजवासिना दृप्तसिंहेन॥ ध्वन्या० १.४ (वृत्ति)

['हे धार्मिक व्यक्ति! यहां (इस उपवन में) निश्शंक होकर घूमो, क्योंकि जिस कुत्ते से तुम कल तक डरा करते थे, उसे आज गोदावरी नदी के तीर के कुंज में रहने वाले खूंखार सिंह ने खा लिया है।'].

इस कथन में किसी कुलटा का कहना यह है कि यहां निश्शंक एवं निःसंकोच रूप से घूमो, किन्तु इस विधि-वाक्य का वास्तविक आशय निषेध-रूप में है कि यहां से शीघ्र ही चले जाओ।

पान्थ नात्र स्त्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस॥ का० प्र० ४. ५८

['हे पथिक! यहां इस पथरीली भूमि वाले ग्राम में—रात को सोते समय—बिछाने के लिए तनिक भी विस्तर नहीं मिल सकता। किन्तु फिर भी, यदि तुम उमड़ते-घुमड़ते पयोधरों (बादलों) को देखकर ठहरना चाहो तो ठहर सकते हो।']

यहां वक्त्री को वास्तविक अभिप्राय यह अभीष्ट है कि पत्थर के समान मूढ़ पुरुषों का यह ग्राम है—यहां पर नारी-सम्भोग को वर्जित करने वाला कोई भी व्यक्ति शास्त्र-नियम नहीं जानता। यदि तुम उपभोग-सक्षम हो तो मेरे इन उन्नत पयोधरों (वक्षःस्थलों) को देखकर आज रात यहाँ रुक जाओ।[2]

संस्कृत का टीकाकार रचना में प्रयुक्त पदों अथवा वाक्यांशों की व्याख्या अपनी विशिष्ट शैली में करता चलता है, और अन्ततः समग्र रचना का सौन्दर्य अपने पाठक के सम्मुख खोलकर रख देता है। उदाहरण-स्वरूप उत्तररामचरित के निम्नोक्त पद्य की वीर राघव द्वारा प्रस्तुत 'भावतलस्पर्शिनी' टीका द्रष्टव्य है—

राम :—अयि, कथं विस्मर्यते?

अलसललितमुग्धान्यध्वसंपातखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि।
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यंगकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता॥ उ०रा०च० १.२४

---

१. ऐसे स्थलों में भाव-ध्वनि का चमत्कार ('अवहित्था' नामक संचारिभाव से जन्य चमत्कार) माना जाता है।

२. ऐसे स्थलों में वस्तुध्वनि का चमत्कार माना जाता है। (विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ २७३)

[दण्डकारण्य के चित्र को देखकर राम सीता से कहते हैं—हे सीते ! अरे यह भी कोई भूलने की बात है ? यह वह स्थान है जहां तुम मार्ग में त्वरित गमन से उत्पन्न थकान के कारण अपने अंगों को मेरे वक्षःस्थल पर रखकर सो गयी थी। उस समय ये तेरे अंग आलस्यपूर्ण, कोमल और सुन्दर हो गये थे, जिन्हें मेरे दृढ़तर आलिंगनों से सहारा दिया गया था, तथा जो निष्पीड़ित कमलिनी के समान दुर्बल हो गये थे।]

अब इस पद्य के प्रत्येक वाक्य अथवा वाक्यांश के सम्बन्ध में टीकाकार की ऊहात्मक दृष्टि देखिए—

—**अध्वसंपातखेदात्**—अध्व (मार्ग) में संपात (मेरी और लक्ष्मण की अपेक्षा त्वरित गमन) के खेद (प्रयास) के कारण—इससे प्रतीत होता है कि चलते समय सीता उन दोनों की अपेक्षा अधिक श्रमशील थी, जैसा कि वाल्मीकि रामायण (२७.७) में कहा गया है कि मैं तो कुशों और कण्टकों को बुहारती हुई आपके आगे-आगे चलूंगी।[1]

अलस-ललित-मुग्धानि—तेरे अंग अलस (प्रसरण और आकुंचन में असमर्थ), ललित (कोमल) और मुग्ध (सुन्दर) हो गये थे। स्वाभाविक रूप से सुन्दर और सुकुमार होते हुए भी मार्ग में त्वरित-गमन के प्रयास के कारण कोमल और सुन्दर हो गये थे—यह कहकर कवि ने बताया है कि अब वे दुगने कोमल और दुगने सुन्दर हो गये हैं।[2]

—**अशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि**—अशिथिल (दृढ़तर) परिरम्भों (आलिगनों) से तेरे अंगों को, त्वरित गमन से उत्पन्न श्रम को दूर करने के लिए, संवाहन (दृढ़तम स्पर्श—सहारा) दिया गया था।[3] 'परिरम्भ' में बहुवचन से अभिप्राय है कि बार-बार आलिंगन किया गया था, अथवा कामशास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णित आलिंगन के अनेक भेदों से यहां तात्पर्य है।

---

१. **अध्वनि मार्गे संपातः** सम्यग् गमनम्। रामलक्ष्मणापेक्षया त्वरितगमनम् इति भावः। 'अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान् (अयोध्या० २७.७) इत्युक्तत्वात्। तेन यः खेद **आयासः** तस्माद्धेतोः—

२. अलसललितमुग्धानि अलसानि प्रसरणाकुंचनासमर्थानि **ललितानि मृदूनि मुग्धानि** सुन्दराणि। स्वभावतः सौन्दर्यसौकुमार्ययोः सत्त्वेऽपि अध्वसंपातखेदादलसललितमुग्धानि इत्युक्त्वा मार्गगमनायासेन तयोर्द्विगुणीभाव इति भावः। 'तथापि दृशोः प्रिया' इत्युक्तेः।

३. **अशिथिलपरिरम्भैः** दृढतरालिंगनैः। बहुवचनम् आलिंगनावृत्त्यभिप्रायकम्, कामतन्त्रप्रसिद्धालिंगनभेदबाहुल्याभिप्रायकं वा। दत्तानि **संवाहनानि येभ्य** इति चतुर्थीबहुव्रीहिः। संवाहनं नाम अंगनानां गमनादिजनितायासशमनौपयिकदृढतमस्पर्शविशेषः।

—परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यंगकानि—इस कारण जो तेरे अंग परिमृदित (सब ओर से निष्पीड़ित) होने के कारण कमलिनी के समान दुर्बल अर्थात् अपने आप को स्थिर रख सकने में असमर्थ हो गये हैं।[1]

—त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता—उन अपने अंगों को मेरे वक्षःस्थल पर रखकर जिस स्थान पर तू सो गयी थी, वह स्थान भला मुझ से कैसे भुलाया जा सकता है ?[2]

उक्त सब कुछ निर्दिष्ट करने के बाद टीकाकार उक्त पद्य का भाव फिर से समझाते हुए कहता है कि इसका भाव यह है कि मार्ग में त्वरित-गमन के लिए तुमने पहले श्रम किया, फिर तेरे अंगों में मृदुता और सुन्दरता दुगुनी हो गयी, फिर उन्हें इस स्थिति में देख लेने पर अनेक बार दृढ़ आलिंगन किये गये, फिर उन अंगों को दृढ़ सहारा दिया गया, और फिर उनमें इतनी दुर्बलता आ गयी कि वे अपने-आप स्थिर रहने में समर्थ नहीं रह गये थे। इसी कारण वे राम के वक्ष से संलग्न हो गये, फिर सीता वहीं निद्रा-मग्न हो गयी, क्योंकि इसके अंग इतने सुकुमार थे कि वक्ष का सहारा लेने पर भी उनकी विश्रान्ति दूर नहीं हुई थी।[3]

परकीया नायिका यदि अपने प्रियतम को इतना सन्देश भेजती कि मेरा पति, मेरी सपत्नियां, सास, देवरानी—ये सभी मेरे वैरी हो गये हैं, मैं विवश हो गयी हूं, तुमसे मिलन हो तो कैसे ?—तो यह कथन एक सन्देश मात्र होता, किन्तु कविमुख से भेजे गये निम्नोक्त सन्देश में प्रत्येक पद सार्थक एवं प्राणवान् है—

स्वामी निःश्वसिते ऽप्यसूयति मनोजिघ्रः सपत्नीजनः
श्वश्रूरिंगितदैवतं, नयनयोरीहालिहो यातरः।
तद् दूरादयमञ्जलिः, किमधुना दृग्भंगिभावेन ते,
वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिक, व्यर्थोऽयमत्र श्रमः॥ सा० द० ३.६६ (वृत्ति)

---

१. **परितः** साकल्येन **मृदिता** निष्पीडिता या **मृणाली** तद्वद् **दुर्बलानि** स्वस्वधारण-सामर्थ्यरहितानि **अंगकानि**। 'अनुकम्पायाम्' (पा० ५.३.३७) इति कन्प्रत्ययः।

२. त्वं मम उरसि कृत्वा यत्र यस्मिन् प्रदेशे निद्राम् अवाप्ता स कथं विस्मर्यते, इति योजना।

३. अयं भावः—पूर्वमध्वसंपातखेदः, ततो ललितत्व-सौकुमार्य-द्विगुणीभावः, ततः तद्दर्शनवशाद् अशिथिलालिंगनबाहुल्यम्, ततश्च तत्संवाहनता, ततः स्वधारण-सामर्थ्यविरहदौर्बल्यम्, ततो रामवक्षःस्थल एव लग्नता, ततस्तदीयसौकुमार्यपार-वश्यात् तत्रैव निद्रावाप्तिरिति।

[मेरा 'स्वामी' मेरे निःश्वास से भी खीज उठता है। मेरी सपत्नियां मेरे मन को सूंघती रहती हैं। सास इशारों की अधिष्ठात्री देवी है और जेठानी मेरे नेत्रों की चेष्टाओं को चाटती रहती है। इसलिए मेरा आपको दूर से नमस्कार ! अब तुम्हारे इन भावभरे चितवनों से क्या होना है ? मेरे रसिक प्रिय ! तुम हर प्रकार की काम-कलाओं में निपुण हो, पर अब तुम्हारा सभी श्रम व्यर्थ जाएगा।]

आइए, 'ऊहात्मकता' की दृष्टि से उक्त पद्य पर विचार करें—

—यहाँ 'स्वामी' और 'रसिक' शब्द का प्रयोग सटीक और सार्थक है। मेरे 'स्वामी' अर्थात् मेरे पति पर तो मुझे खिलाने-पिलाने और वस्त्र आदि की ही जिम्मेवारी है, तभी तो वह मेरा स्वामी (मालिक) है, किन्तु कामकलाओं में निपुण तुम ही तो मुझे चाहने वाले हो, मेरे रसिक !

—'निःश्वास' से भला कौन खीजता है ? पर यहां तात्पर्य ठण्डी आहों से है, जो विरह के कारण बार-बार निकल पड़ती हैं।

—सूंघना, किसी मूर्त वस्तु का नहीं, मन का—सपत्नियां हों, और मन की गहराइयों की टोह न लें !

—यही स्थिति जेठानी की भी है। वह मेरी आंखों की एक-एक चितवन को चाटती रहती है—किसी मूर्त वस्तु को नहीं; चितवन को, जेठानी अनुभवशीला जो हुई।

—मेरे इशारों की, मेरी हर चेष्टा की अधिष्ठात्री है सास मेरी ! कब्जा जो किये बैठी है वह मेरी हर हरकत पर।

जैसा कि ऊपर दिखाया है, 'ऊहात्मकता' को लक्ष्य में रखकर समीक्षण-पद्धति की प्रमुख विशेषता है—रचना में प्रयुक्त किसी एक विशिष्ट अथवा किन्हीं विशिष्ट शब्दों के प्रयोग की सार्थकता बताते हुए काव्य-सौन्दर्य का निर्देश करना। उदाहरणार्थ, निम्नोक्त श्लोक में 'जगत्', 'एकेन', 'गाम्' और 'निवारय' शब्दों की सार्थकता देखिए—

यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवादसस्येषु चरन्तीं गां निवारय ॥ (अज्ञात)

[चाहते यदि हो एक कर्म से, सकल जगत को वश में करना,
तो रोको 'गौ' को, जो चरना चाहे, पर-निन्दा-रूपी हरे-भरे खेतों में।]

'जगत्' को—किसी एक व्यक्ति, परिवार, समाज को नहीं, किसी एक नगर के वासियों को भी नहीं—सम्पूर्ण जगत् को। इसे वश में करने के लिए बहुत-से कर्म नहीं करने होंगे,

केवल 'एक'—बस एक ही—कर्म करना होगा, कि 'गौ' को (उस गाय को, पक्षे—अपनी उस वाणी को) रोकना होगा, जो पर-निन्दा रूपी हरे-भरे खेतों में चरने के लिए वार-वार, लालायित हो उठती है। 'द्व्यर्थक' 'गौ' शब्द के प्रयोग द्वारा ही पर-निन्दा को 'सस्य' से उपमित किया जाना संभव हो सका है। वाणी को—जो, पर-निन्दा-रस के आस्वाद के लिए सदा लपलपाती रहती है—रोक सकना, वैसा ही कठिन है, जैसे कि किसी हरे-भरे खेत को चरने के लिए रस्से तुड़ाकर भागने को उत्सुक गौ को रोकना कठिन हो जाता है। वस, केवल यही एक काम करना है सम्पूर्ण जगत् को वश में करने के लिए कि वाणी को पर-निन्दा-रूपी रस का आस्वाद नहीं चखने देना है।[1] देखा, कितना सरल उपाय है यह !

अब कुमारसंभव से एक पद्य लीजिए—

पार्वती महादेव को प्राप्त करने के लिए घोर तपस्या में लीन है, और महादेव ब्रह्मचारी के वेश में आकर उसकी परीक्षा के उद्देश्य से वहाँ आन पहुंचे, और वोले—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥

—कु० सं० ५.७१

[उस कपाली (महादेव) के साथ समागम के लिए प्रार्थना द्वारा अब दोनों ही शोचनीय स्थिति को पहुँच गयी हैं—एक तो चन्द्रमा की कान्तिमती कला, और दूसरी तुम, जो कि इस लोक के नयनों की चांदनी हो।]

—यहाँ महादेव के अन्य अनेक पर्यायवाची शब्दों के होते हुए 'कपाली' शब्द का प्रयोग उसके वीभत्स रूप का सूचक है, जिससे पार्वती का मन उससे हट जाए।

—'सम्प्रति' और 'द्वय' शब्दों के प्रयोग द्वारा यह सूचित किया गया है कि पहले तो अकेली चन्द्रकला ही शोचनीय थी, और अब तो तुम दोनों शोचनीय हो गयी हो।

—यहाँ 'प्रार्थना' शब्द भी द्रष्टव्य है। यों अकस्मात् तुम्हारा विवाह हो जाता उस कपाली के साथ, तो वह और वात थी, किन्तु तुम तो प्रार्थना किए जा रही हो उस कपाली के लिए। कहां तुम जैसी कुलीना नारी, और कहां तुम्हारी प्रार्थना उस जैसे वीभत्सपूर्ण जन्तु के लिए ?

---

१. भारतीय काव्यशास्त्री ऐसे स्थलों में परम्परित रूपक तथा परिकर अलंकार का चमत्कार मानता है।

—'कान्तिमती' और 'कलावत:' ये दोनों मत्वर्थीय पद 'कला' और 'चन्द्रमा' की प्रशंसा के द्योतक हैं।[1]

—'सा' और 'त्वम्' ये दोनों शब्द भी ध्यातव्य हैं। एक तो 'वह' और दूसरी 'तू'—अतिशय लावण्य के द्योतक हैं ये दोनों सर्वनाम।[2] पर सच तो यह है कि तुम दोनों को अपने लावण्य का बोध तक नहीं है।

इस प्रकार संस्कृत-काव्यों का टीकाकार (समीक्षक) पदों, वाक्यांशों अथवा वाक्यों की अनेक एवं बहुविध अर्थ-व्यंजनाओं के माध्यम से अपने पाठक को बताता है कि इन शब्दों के प्रयोग द्वारा कवि का अन्तर्जगत् हमारे सम्मुख कितना प्रकट हो गया है, और प्रकारान्तर से यह निर्दिष्ट करता है कि इन शब्दों को हटाकर इनके स्थान पर अन्य शब्दों को रखने के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। किन्तु साथ ही, उसकी दृष्टि दोष-दर्शन से भी नहीं चूकती। कवि को 'कला' के साथ 'त्वम्' का समुच्चय दिखाना अभीष्ट है, न कि लोक के साथ। अत: 'त्वम्' पद के आगे 'च' शब्द रखना अभीष्ट है, न कि लोक के साथ। अत: 'त्वम्' पद के आगे 'च' शब्द रखना चाहिए था, न कि 'लोकस्य' के आगे। अत: यहां अक्रमता दोष है। इस दोष को दूर करने के लिए पाठ इस प्रकार होना चाहिए—**'त्वञ्चास्य लोकस्य नेत्रकौमुदी।'** अस्तु !

इसी प्रसंग में नैषधचरित से एक पद्य लीजिए—

अपांगमप्याप दृशोर्न रश्मिर्नलस्य भैमीमभिलष्य यावत्।
स्मराशुग: सुभ्रुवि तावदस्यां प्रत्यंगमापुंखशिखं ममज्ज ॥ नैषध० ८.३

[दमयन्ती के प्रति मुग्ध नल की आंखों की ज्योति उसके (दमयन्ती के) अपांगों तक अभी पहुंच ही नहीं पायी थी कि मदन-बाण उस सुन्दरी के प्रत्येक अंग में सम्पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो गया।]

महाकवि श्री हर्ष को यह कहना अभीष्ट है कि वे दोनों एक दूसरे को अभी पूर्णत: देख भी नहीं पाये थे कि एक दूसरे के प्रति आसक्त हो गये—**'अपांग'** (आंख का कोना) शब्द का प्रयोग इसी तथ्य का द्योतक है। एक चमत्कृति और ! नल की आंखों की ज्योति ने तो केवल दमयन्ती के नयनों में ही प्रवेश करना था, किन्तु वह तो असफल रही, पर तुरन्त ही कामदेव का बाण उसके प्रत्यंग (एक-एक अंग) में समग्रत: प्रवेश कर गया। इस पद्य की वाक्य-रचना से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने कुछ इस प्रकार का चित्र उपस्थित किया है कि बेचारी दमयन्ती एक छोटी-सी मुसीबत से तो बच गयी, पर तुरन्त ही एक बहुत बड़ी मुसीबत में फंस गयी।

१, २. वक्रोक्तिजीवित १.६.२७ (वृत्ति)

—अब अभिज्ञानशाकुन्तल से यह प्रसिद्ध पद्य लीजिए—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥[1] अभिज्ञान० २.१०

[दुष्यन्त शकुन्तला के रूप के सम्बन्ध में कह रहा है कि इसका यह निर्दोष रूप एक ऐसा पुष्प है कि जिसे किसी ने नहीं सूंघा, एक ऐसा पत्ता है कि जो नखों से नहीं खुरचा गया, एक ऐसा हीरा है कि जिसे नहीं बींधा गया, एक ऐसी ताज़ी शहद है कि जिसका रस नहीं चखा गया। यह तो पुण्यों का एक समन्वित फल है। न जाने, इस फल का उपभोग करने के लिए विधाता इसे किसको सौंपेगा ?]

—यहां 'अनाघ्रात पुष्प' से आशय है—डाल से ताज़ा उतरा पुष्प, जो किसी से भी अभी तक सूंघा नहीं गया। सूंघे जाने पर उसकी सुगन्ध तो किंचित् कम हो ही जाती है। और फिर, ऐसा कौन कुरुचिपूर्ण व्यक्ति होगा जो सूंघे फूल को सूंघना चाहेगा।

'अनाविद्ध रत्न' से आशय है—जो डिबिया में बन्द रखा है कि समय आने पर माला में पिरोया जाने के लिए इसमें तनिक सा छेद कर दिया जाएगा। अथवा 'अनाविद्ध' से तात्पर्य है—गोल-गोल, न कि टेढ़ा-मेढ़ा।[2]

—'नव मधु' से आशय है—छत्ते से ताज़ी उतरी हुई शहद, न कि 'शराब'—शराब और नयी ! वह तो जितनी पुरानी हो उतनी ही अच्छी समझी जाती है[3], आदि।

इस प्रकार से संस्कृत का समीक्षक प्रत्येक पद की सार्थकता को द्योतित करता हुआ काव्य के शब्द और अर्थ में सामञ्जस्य दिखाता चलता है।

अन्त में इसी प्रकार का एक प्रसिद्ध पद्य और लीजिए—

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः,
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।

---

१. इसका रूप अछूता ऐसा, जैसे फूल अनसूँघा,
या हो जैसे पत्ता साबित, नख से भी अनखुरचा,
शहद है ताजा ऐसा यह कि, जिसका स्वादा चखन,
यह है ऐसा हीरा जो कि अब तक विद्ध हुआ न,
या यह रूप अखण्डित फल है, सारे शुभ कर्मों का—
न जाने किसको सौंपे विधना, भोग करेगा जो इसका ?

२. 'आविद्धं कुटिलं भुग्नम् इत्यमरः। ३. भावप्रकाश, पृष्ठ ३५६

धिग् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा,
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥ हनुमन्नाटक

—ध्वन्या० ३.२६ (वृत्ति) का० प्र० ७.१८३, सा० द० १म परि०

[श्री रामचन्द्र द्वारा राक्षसों के विनाश करने के अवसर पर रावण की अपने सैनिकों को उक्ति—'यही मेरा अपमान है कि मेरे शत्रु हों, और वह भी एक वेचारा तापस ! फिर वह भी यहीं, अर्थात् लंकापुरी में आकर राक्षसकुल का नाश कर रहा है, और रावण जी रहा है, कितना महान् आश्चर्य है ! इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद को धिक्कार है । मेघनाद को जगाने से भी क्या बना ? और मेरी इन भुजाओं से क्या लाभ ? जो कि स्वर्ग जैसे एक 'छोटे और तुच्छ-से' ग्राम (गऊँटिया) को लूटकर अभिमान के कारण व्यर्थ ही फूली हुई हैं ?]

आनन्दवर्धन तथा उनके ग्रन्थ ध्वन्या लोक के टीकाकारों के अनुसार इस पद्य में प्राय: सभी पद व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराते हैं[1], जिनका विवरण इस प्रकार है—

'मे अरयः' में 'मे' (सुवन्त पद) 'अस्मद्' शब्द की षष्ठी विभक्ति (सम्वन्ध कारक) का रूप है । 'मे' पद से वक्ता रावण के पूर्वकृत इन्द्र-विजय आदि लोकोत्तर चरितों का द्योतन होता है, और षष्ठी विभक्ति से शत्रुओं के साथ अपने सम्वन्ध का अनौचित्य द्योतित होता है । इस प्रकार 'मे अरयः' से यह सूचित होता है कि क्या 'मेरे' भी शत्रु हैं, जिसने इन्द्र जैसे देवों को कैद कर लिया हो और जिससे यमराज भी काँपता हो, कितना महान् अनौचित्य है यह ! 'अरयः' पद में अरि शब्द का वहुवचन भी उक्त सम्वन्ध के अनौचित्य की अधिकता का द्योतक है कि मेरे जैसे व्यक्ति के लिए यह कोई कम अपमान नहीं है ।

—'तत्राप्यसौ तापसः' इस वाक्य में 'तत्र', 'अपि' इन दो निपातों से असम्भवनीयता का वोध होता है । 'तापस' शब्द 'तपस्+अण्' से वना है, और यह 'अण्' मत्वर्थीय तद्धित है, जो कि शत्रु (राम) की पुरुषार्थ-हीनता, क्षीण-देहता आदि का द्योतक है कि इस वेचारे के पास सिवाय 'तप' के और रखा ही क्या है ? 'असौ' पद से शत्रु की विशेष हीन दशा द्योतित होती है—अरे 'वह' भिखमंगा मेरा शत्रु है, जिसे पिता ने घर से वाहर निकाल दिया, जो वनों की खाक छानता फिरता है, और अव पत्नी के वियोग में मारा-मारा फिर रहा है, आदि ।

---

१. ध्वन्यालोक ३.१६ (वृत्ति)

—**'सोप्यत्रैव**—वह भी यहीं, इसी नगरी में—यदि कहीं दूर छिपा होता तो भी कोई बात थी।

—**निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः**। यहां 'निहन्ति' और 'जीवति' पदों में तिङ् प्रत्ययों (क्रमशः 'झि' और 'तिप्' प्रत्ययों) का व्यञ्जकत्व है। 'निहन्ति' में व्यंग्यार्थ यह है कि राम यहां तक केवल आ नहीं पहुंचा, अपितु उसने संहार करना प्रारम्भ कर दिया है। 'जीवति, में व्यंग्यार्थ यह है कि रावण फिर भी जी रहा है। **'राक्षसकुलम्'** और **'रावणः'** पदों में क्रमशः कर्म तथा कर्ता-रूप कारक-शक्तियों का व्यंजकत्व है। वह अकेला किसी एक राक्षस को नहीं मार रहा, अपितु राक्षसों के कुल को मार रहा है। 'रावण' शब्द से अभिप्रेत है—'रावयति इति रावणः'—देव, असुर, मानव आदि सब को रुलाने वाला। 'अहो' से तात्पर्य है कि कितना महान् आश्चर्य है कि रावण के जीते-जी यह सब कुछ घटित हो रहा है।

'धिग् धिक् शक्र-जितं…भुजैः' इस श्लोकार्ध में **'शक्रजितम्'** पद के 'शक्रम् इन्द्रं जितवान् यः तम्' इस अर्थ में भूतकालिक 'क्विप्' प्रत्यय (कृत्प्रत्यय) से मेघनाद के इन्द्र-विजय में अनास्था सूचित होती है कि कभी जीता होगा उसने इन्द्र को, किन्तु अब तो क्षुद्र से जीव को नहीं जीत सका।

'स्वर्ग-ग्रामटिका' इस समस्त पद में कर्मधारय समास तथा **'ग्रामटिका'** (ग्राम भी नहीं; एक तुच्छ से ग्राम—बस गऊंटिया) में 'क' प्रत्यय (तद्धित प्रत्यय) से स्वर्ग जैसी महान् एवं मनोहारी नगरी की अत्यन्त तुच्छता व्यंजित होती है।

'विलुण्ठन' पद में 'वि' उपसर्ग के प्रयोग से यह अभिप्रेत है कि लूट-मार मामूली-सी थी।

'एभिः' पद से यह भाव ध्वनित होता है कि जिन बाहुओं के शौर्य की ख्याति जग-विख्यात है, वही अब व्यर्थ-सी हो गयी हैं। इसी प्रकार **'उच्छून'** (सूजी हुई) पद भी बाहुओं की अनादरता का सूचक है।

इस प्रकार उपर्युक्त पद्य में टीकाकारों ने पद-पद पर व्यंजकता द्योतित की है, किन्तु साथ ही इस पद्य में अविमृष्ट-विधेयांश (विधेयामर्ष) दोष भी उन्होंने दिखाया है।[1]

इस प्रकार 'ऊहात्मक' समीक्षा रचना के मर्म को समझने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होती है, शब्द-प्रयोग के औचित्य को स्पष्ट करती है, पाठक को काव्य-सौन्दर्य के

---

१. देखिए दोष-प्रकरण।

पथ पर अग्रसर करने के माध्यम से उसकी कल्पना-शक्ति को उर्वर करती है, और इस प्रकार पाठक में समीक्षण-कार्य करने की प्रज्ञा को भी किसी सीमा तक जगाने में समर्थ होती है। परन्तु साथ ही, इस प्रकार की समीक्षा में यह शैथिल्य भी आ जाता है कि कभी-कभी समीक्षक रचना के पदों अथवा वाक्यों से इस तरह के अर्थ निकालने का प्रयास करने लगता है जो शायद रचयिता को भी अभीष्ट नहीं रहे होंगे, और इस प्रकार पाठक के मन में कवि के प्रति या तो अतिरिक्त श्रद्धा जगा देता है, या फिर अतिरिक्त अश्रद्धा का उदय कर देता है। समीक्षक को इस प्रकार की अतिरिक्त कल्पनाओं से तो अवश्य वचना होगा।

× × ×

इस अध्याय के अन्त में एक प्रसंग और! पाश्चात्य काव्यसमीक्षा-क्षेत्र में अपेक्षाकृत एक नूतन समीक्षा-विधा का प्रारम्भ हुआ है जिसे शैलीवैज्ञानिक समीक्षा कहा जाता है, जिसमें काव्य की भाषा के विभिन्न अंगों की पारस्परिक अन्विति को लक्ष्य में रखकर रचना का सौन्दर्य निर्दिष्ट किया जाता है। भारवि कवि के निम्नोक्त पद्य की इसी ढंग पर की गयी समीक्षा को मैं यहां उद्धृत करना चाहूंगा—

उन्मज्जन्मकर इवामरापगाया वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः।
गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः॥

—किरातार्जुनीय १७.६३

[अर्जुन वाणों की नदी के सामने से तेज़ी से निकलकर उसी प्रकार बाहर निकल आया, जैसे मगरमच्छ गंगा के पानी को चीरकर बाहर निकल आता है, और आते ही उसने त्रिनेत्र शिव के विस्तीर्ण और स्वर्ण-शिला के समान दृढ़ वक्षःस्थल पर दोनों हाथों से ज़ोर से प्रहार किया।]

अब उक्त पद्य की शैलीवैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा लीजिए—

(१) 'उन्मज्जन्' के उच्चारण से उछलने का भाव, स्वतः व्यक्त होता है। इस पद्य में 'वेगेन' तक पानी को चीरकर आते मगरमच्छ की चित्रमत्ता है, तो 'न' का गुरुत्व (वेगेन प्रतिमुखमेत्य, नद्याः) का उच्चारण ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे अर्जुन उछलकर एकदम शिव के समक्ष कूद पड़ा है। उत्तरार्ध के 'भुजाभ्यां', 'आजघ्ने', 'नस्य' और पद्य के अन्त का (वक्षः) ऐसा समाँ बांधता है, जैसे सचमुच 'विषमविलोचन' की छाती पर प्रहार हुआ है। 'क्षः' के अन्तिम का विसर्ग जो उच्चारण में 'अह्ह्'

जैसा सुनाई देता है, ऐसा मालूम होता है, जैसे चोट की गूंज अभी घण्टी के अनुस्वान की तरह कुछ देर चलती रहती है। एक और मार्के की बात यह है कि 'जाभ्यां' के बाद एक अक्षर रुककर 'जघ्ने' का उच्चारण, उसके बाद थोड़ा अधिक रुककर, 'नस्य' का उच्चारण, और फिर 'वक्षः' का उच्चारण इस बात की विवमत्ता देता है, जैसे अर्जुन ने शिव के वक्ष पर एक ही चोट नहीं की है, थोड़ा रुक-रुक कर, तीन-चार बार प्रहार किया है और 'वक्षः' के विसर्ग की गम्भीरता शायद अंतिम चोट का संकेत करती है, जिसके उच्चारण में उतना ही पूरा ज़ोर लगाना पड़ता है, जितना पूरा ज़ोर अर्जुन ने आखिरी प्रहार में लगाया था। उपर्युक्त पद्य भारवि का उत्कृष्ट 'रिदिमिक' (rhythmic) पद्य है तथा भारवि के कवित्व का सफल प्रमाण है।[1]

× × ×

इस प्रकार की समीक्षा निस्सन्देह समीक्षा के नये आयाम प्रस्तुत करती है, परन्तु इस पद्धति में एक बहुत बड़ा शैथिल्य भी दिखायी देता है कि प्रत्येक समीक्षक की मानसिक स्थिति की भिन्नता के कारण रचना के पाठक का प्रभाव भी प्रत्येक समीक्षक पर भिन्न-भिन्न ही पड़ेगा, और इस अनियन्त्रित विविधता के कारण उस रचना की शैलीवैज्ञानिक समीक्षा भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होगी। परिणामतः, समीक्षा के क्षेत्र में एक प्रकार की अव्यवस्था-सी आ जाएगी। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की समीक्षा-पद्धति के प्रचलित हो जाने पर समर्थ समीक्षकों द्वारा अपनायी गयी शैलियां धीरे-धीरे प्रचार पा जाएंगी, और फिर उनके आधार पर इस समीक्षा-शैली के भी सिद्धान्त (norms) स्थिर हो जाएंगे, और फिर उनको लक्ष्य में रखकर रूढ़िबद्ध समीक्षाएं होने लगेंगी। यही स्थिति संस्कृत की समीक्षा-क्षेत्र की भी रही होगी—पहले पदों, वाक्यांशों, वाक्यों, प्रकरणों और प्रबन्धों के सौन्दर्य पर ध्यान दिया गया होगा, फिर उस सौन्दर्य का नामकरण किया गया होगा—जैसे अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और इनके भेदोपभेद आदि, और फिर इन्हीं बने-बनाये काव्य-तत्त्वों के आधार पर शताब्दियों से टीकाकार समीक्षा-कार्य करते चले आ रहे हैं, जिन पर हम पिछले अध्यायों में यथास्थान प्रकाश डाल आए हैं। अस्तु ! जो हो, उपर्युक्त शैलीवैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति को अपनाने में समीक्षा के बहुविध तथा नूतन आयामों का उदय होगा, जिससे इस क्षेत्र की और भी श्रीवृद्धि होगी। हम चाहें तो भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से इस प्रकार की समीक्षा-पद्धति को भी 'भाषापरक' अथवा 'ऊहात्मक' समीक्षाओं का ही एक रूप मान सकते हैं।

□□□

---

१. संस्कृत-कविदर्शन (डा० भोलाशंकर व्यास), पृष्ठ १२८

१६. दोष-निर्देशन

[१]

'समीक्षा' शब्द से सामान्यतः जो अर्थ लिया जाता है, वह है—किसी काव्य-कृति का गुण-दोष-विवेचन। संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य-दोष का प्रतिपादन भरत के समय से प्रारम्भ हो गया था। भरत ने दोष का स्पष्ट लक्षण कहीं प्रस्तुत नहीं किया। हाँ, उनके गुण-स्वरूप से दोष-स्वरूप के सम्बन्ध में संकेत अवश्य मिल जाता है। उनके कथनानुसार 'गुण दोषों से विपर्यस्त है।'[1] सम्भवतः यहीं से प्रेरणा प्राप्त कर वामन ने दोष का निम्नोक्त लक्षण प्रस्तुत किया—'दोष गुण से विपर्यय-युक्त होते हैं।'[2]

'विपर्यय' शब्द का अर्थ अभाव भी है और विपरीतता भी। किसी व्यक्ति में दुर्बलता का अभाव उसकी शूरता का परिचायक नहीं होता, और न शूरता का अभाव उसकी दुर्बलता का परिचायक होता है। सुन्दरता का अभाव अलग बात है और कुरूपता अलग बात है। अतः कह सकते हैं कि शूरता और दुर्बलता, अथवा सुन्दरता और कुरूपता परस्पर अभावात्मक न होकर विपरीत भाव से स्थित हैं, और उनकी सत्ता स्वतन्त्र है। किन्तु फिर भी, कुछ दोष ऐसे हैं, जो गुण के विपरीत न होकर गुण के अभाव के रूप में स्वीकृत किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, 'कायरता' साहस के अभाव का ही दूसरा नाम है। अतः वामन द्वारा प्रतिपादित दोष के उक्त लक्षण से यह अभिप्राय ले सकते हैं कि दोष को प्रमुखतः गुण से विपरीत मानना संगत है, और गौण रूप से गुण का अभावात्मक भी किसी सीमा तक मान सकते हैं।

उधर भरत और वामन के बीच दण्डी ने विपरीत भाव की ही ओर स्पष्ट संकेत किया था—'गुण काव्य की सम्पति अर्थात् सौन्दर्य-विधायक तत्त्व है, तो दोष काव्य की विपत्ति अर्थात् सौन्दर्यविघातक तत्त्व है।'[3]

---

१. एते दोषास्तु विज्ञेयाः···एत एव विपर्यस्ताः गुणाः। ना० शा १७.९५

२. गुणविपर्ययात्मनो दोषाः। का० सू० २.१.१

३. दोषाः विपत्तये तत्र गुणाः सम्पत्तये तथा। का० आ० ३.१२४

आगे चलकर रस-सिद्धान्त की स्थापना ने दोष-स्वरूप को एक नयी दिशा की ओर मोड़ दिया। आनन्दवर्धन ने रस के अपकर्ष और अनपकर्ष के ही आधार पर दोषों के नित्य और अनित्य रूप को प्रथम वार स्थिर किया तथा रस-दोषों की गणना की।[1] आनन्दवर्धन की उक्त धारणाओं से प्रेरणा प्राप्त कर मम्मट ने दोष का लक्षण प्रस्तुत किया है—**मुख्यार्थहतिर्दोषः, रसश्च मुख्यः**। यहां 'हति' शब्द अपकर्ष का वाचक है—**हतिरपकर्षः**।[2] अपकर्ष का अर्थ है—सरस रचना का विघात। मम्मट की उक्त धारणा को विश्वनाथ ने स्पष्ट करते हुए कहा—**रसापकर्षकाः दोषाः** (सा० द० ७ म परि०), अर्थात् दोष उसे कहते हैं जो रस का अपकर्ष करते हैं।

दोष की निन्दा और उसकी हेयता से सम्बन्ध में आचार्यो के दो वर्ग हैं—एक वे जो दोष को नितान्त हेय समझते हैं; दूसरे वे जिनका दृष्टिकोण थोड़ा उदार है। प्रथम वर्ग में भामह, दण्डी, रुद्रट, केशवमिश्र और वाग्भट उल्लेख्य हैं, तथा दूसरे वर्ग में भरत और विश्वनाथ।

भामह के अनुसार काव्य में एक पद भी सदोष नहीं होना चाहिए। सदोष काव्य कुपुत्र के समान निन्दाजनक है। काव्य-रचना न करना कोई अधर्मजनक, अहित-कारक अथवा दण्डनीय कार्य नहीं है, पर दोषपूर्ण रचना तो साक्षात् मृत्यु है।[3]

दण्डी के शब्दों में—'सम्यक्-प्रयुक्ता' अर्थात् दोष-शून्य और गुणालंकार-युक्त वाणी कामधेनु के समान है; पर सदोष वाणी कवि की मूर्खता को प्रकट करती है। काव्य में दोष का लेशमात्र भी सह्य नहीं है। श्वेत कुष्ठ के एक छोटे-से चिह्न के कारण सुन्दर शरीर भी अपनी कान्ति खो बैठता है।[4]

रुद्रट निरलंकृत काव्य को भी मध्यम काव्य मानने को तभी उद्यत है जब वह

---

१. ध्वन्या० २.११, ३.१८,१९

२. का० प्र० ७.४९ तथा वृत्ति

३. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते॥
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः॥ का० अ० १.११,१२

४. गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ का० आ० १.६,७

दोष रहित हो।[1] केशवमिश्र द्वारा उद्धृत एक पद्य में दोष को रस का हानिकारक और पूर्ण रूप से त्याज्य कहा गया है,[2] और वाग्भट ने तो दोषाभाव को स्वर्ग का सोपान और दोष को विष के समान कहा है।[3]

किन्तु उधर भरत का दृष्टिकोण उदार और क्षमापूर्ण है। सदोष नाटक (काव्य) के सम्बन्ध में उनका कथन है कि दोषों के सम्बन्ध में किसी (आलोचक) को अधिक संवेदनशील नहीं हो जाना चाहिए, क्योंकि संसार का कोई भी पदार्थ गुणहीन अथवा दोष-हीन नहीं है।[4] और आगे चलकर विश्वनाथ भी—चाहे उनका लक्ष्य मम्मट के काव्यलक्षण का जानबूझकर बुरी तरह से खण्डन करना था—सदोष काव्य को सर्वथा अग्राह्य नहीं मानते। अनार के दो चार गले-सड़े दानों से सारा अनार फेंक नहीं दिया जाता। उनके कथनानुसार यदि निर्दोषता को काव्य का आवश्यक तत्त्व ठहराया जाएगा, तो काव्य या तो विरल-विषय बन जाएगा या निर्विषय।[5]

निस्सन्देह कोई भी अनतिवादी एवं उदारचेता व्यक्ति भरत और विश्वनाथ की उक्त धारणाओं से असहमत नहीं होगा; और किसी अज्ञात आचार्य के इस कथन से भी शायद सहमत न होगा कि—

अन्यो गुणोऽस्तु वा माऽस्तु, महान् निर्दोषता गुणः।[6]

क्योंकि एक तो निर्दोषता का निर्वाह असम्भव-सा है, और दूसरे शास्त्रीय दृष्टि से किसी रस-युक्त रचना में गुण के अभाव का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि रस और गुण में नित्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया है।

काव्य में दोष की स्थिति चार प्रकार की होती है—

१. कहीं दोष सहृदय का उद्वेगजनक—रस का विघातक—होता है।

२. कहीं दोष विषयानुकूल गुण बन जाता है।

---

१. यत्पुनरनलंकारं निर्दोषं चेति तन्मध्यमम्। का० अ० ६.४०

२. दोषः सर्वात्मना त्याज्यो रसहानिकरो हि सः। अलं० शे० पृष्ठ १४

३. वा० अ० २.५, २६

४. न च किंचित् गुणहीनं दोषैः परिवर्जितं न वा किंचित्।
तस्मान्नाट्यप्रकृतौ दोषा नात्यर्थतो ग्राह्याः॥ ना० शा० १७.४७

५. किंचैवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसम्भवात्। —सा० द० १म परि०, पृष्ठ २१

६. अ० शे० पृष्ठ १४

३. कहीं दोष का परिहार हो जाता है, अर्थात् दोष दोष नहीं रहता।

४. कहीं दोष न तो दोष रहता है और न गुण बनता है।

इस प्रकार पहली, तीसरी और चौथी स्थितियों से, विशेषतः पहली स्थिति से, कवि को बचने का प्रयास करना चाहिए। पहली स्थिति निस्सन्देह निन्द्य है, तीसरी और चौथी स्थिति उपेक्षणीय है। वस्तुतः, इनके सम्बन्ध में ही भरत की यह उक्ति यथार्थ सिद्ध होती है---'**दोषाः न अत्यर्थतो ग्राह्याः।**' शेष रही दूसरी स्थिति, जहां दोष गुण बन जाता है---यह स्थिति निस्सन्देह उपादेय है। इसमें कवि को जानबूझकर दोष को अपनाना पड़ता है। क्रुद्ध भीमसेन के वचन श्रुतिकटु होने चाहिएं---इसी में ही कवि का सुकवित्व निहित है।

निष्कर्ष यह कि दोष का स्वरूप रस के अपकर्ष पर आधृत है, और दोष तभी हेय है जब वह रस का अपकर्ष करे, अन्यथा कभी वह उपेक्षणीय है, और कभी तो उपादेय भी बन जाता है। उदाहरणार्थ---शृंगार, करुण और शान्त जैसे कोमल रसों में कठोर वर्णो का प्रयोग देखकर काव्य-समीक्षक यदि श्रुतिकटु (दुःश्रवता) दोष की स्वीकृति करता है तो वीर, रौद्र और भयानक रसों में ऐसा प्रयोग न केवल दोष नहीं रहता, अपितु गुण बन जाता है। संस्कृत-काव्यों के टीकाकारों ने इसी दृष्टि को सम्मुख रखकर काव्य-समीक्षा में दोषों की ओर संकेत किया है।

मम्मट के सम्बन्ध में एक घटना प्रसिद्ध है कि उन्होंने 'नैषधचरित' काव्य को पढ़ने के पश्चात् इसके प्रणेता श्री हर्ष को यह उत्तर दिया था[1] कि यदि तुम कुछ दिन पूर्व यह महाकाव्य मुझे पढ़ने को देते तो मैंने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास के लिए (जो कि 'काव्यदोष' से सम्बन्धित है) विभिन्न काव्य-ग्रन्थों से दोष ढूंढ-ढूंढ कर दोषों के उदाहरण (लगभग २००) प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है उससे मैं बच जाता---इसके लिए यही अकेला काव्य-ग्रन्थ ही पर्याप्त था।[2] यदि यह घटना सत्य है[3] तो इससे एक तो यह तथ्य प्रकारान्तर से प्रमाणित होता है कि साहित्यकारों में एक वर्ग काव्य-समीक्षकों का होगा, जिन्हें कविजन (आधुनिक युग के समान) अपने ग्रन्थ समीक्षार्थ

---

१. मम्मट श्री हर्ष के मामा कहे जाते हैं।

२. इसके लिए यह श्लोक मुख्य रूप से प्रस्तुत किया जाता है---'तव वर्त्मनि वर्ततां शिवम्'''(देखिए पृष्ठ ३०६) किन्तु यह श्लोक मम्मट के काव्यप्रकाश में उपलब्ध नहीं है।

३. किन्तु यह घटना किंवदन्ती मात्र है, क्योंकि मम्मट और श्रीहर्ष के समय में लगभग २०० वर्ष का अन्तर है।

समर्पित करते होंगे। दूसरा तथ्य यह कि 'दोष-निर्देश' भी काव्य-समीक्षा का एक आवश्यक अंग था। संस्कृत-काव्यशास्त्र में दोषों की वर्द्धमान संख्या भी इस तथ्य का प्रमाण है। भरत और दण्डी ने दस-दस दोष माने तो वामन ने बीस, रुद्रट ने छब्बीस और मम्मट ने लगभग सत्तर। मम्मट द्वारा प्रस्तुत दोषों का वर्गीकरण पांच वर्गों में विभक्त है, जिनमें से निम्नोक्त चार वर्ग भाषा-तत्त्वों से सम्बन्धित हैं—पद, पदांश, वाक्य और अर्थ। अंतिम वर्ग रसगत दोषों का है जिसे दोष की दृष्टि से पांचों वर्गों में प्रमुख स्थान प्राप्त है।

[२]

आइए, अब कुछ दोषों के उदाहरण लें। संस्कृत-काव्यसमीक्षक के अनुसार—

'गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्याजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः।'

—सा० द० ७.४ (वृत्ति)

—इस पद्यांश में प्रयुक्त 'आजघ्ने' पद व्याकरण-सम्मत होते हुए भी यहां सदोष है, क्योंकि 'आजघ्ने' (आत्मनेपद) का प्रयोग तभी होता है जब वाक्य में प्रयुक्त मारने वाले का कर्म स्वयं अपना अंग हो, न कि दूसरे का अंग। अतः यहां च्युतसंस्कृति (व्याकरणासम्मतता) दोष है। उक्त पद्यांश में 'आजघान' (परस्मैपद) प्रयुक्त होना चाहिए था, क्योंकि यहां मारने वाला अर्जुन है, और अंग शंकर का है, न कि अर्जुन का अपना।

'क्लिष्टता' काव्य-समीक्षक को बहुत अखरती है—ऐसा भी क्या प्रयोग जिसमें सिर खुजाना पड़े, अथवा टीकाओं एवं कोषों की सहायता लेनी पड़े, तब कहीं अर्थ समझ में आये—**'क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः प्रसन्नाः'**। (सा० द० ७.४ वृत्ति), अर्थात् 'जल स्वच्छ हैं'[1], किन्तु जब तक यह अर्थ प्रतीत होगा तब तक काव्य का पूर्व-प्रसंग उखड़ जाएगा और इस स्थिति में रस में व्याघात पड़ना तो नितान्त स्वाभाविक है ही। इसी प्रसंग में उल्लेख्य है कि शब्दालंकारों को, विशेपतः चित्र अलंकार को,[2]

---

१. 'क्षीरोद (क्षीरसागर) की 'जा' (कन्या) अर्थात् 'लक्ष्मी', उसकी की 'वसति' (निवास-स्थान) अर्थात् कमल, उसकी जन्मभूमि अर्थात् जल प्रसन्न (स्वच्छ) हैं।

२. (क) **दुष्करत्वात् कठोरत्वाद् दुर्बोधत्वाद्विनावधेः।**
दिङ्मात्रं दर्शितं चित्रे शेषमूलां महात्मभिः॥ सरस्वतीकण्ठाभरण २.१३०

(ख) दण्डी ने चित्र अलंकार को दुष्कर, मम्मट ने 'कष्टकाव्य', विद्याधर और विश्वनाथ ने 'काव्यान्तर्गडुभूत', और केशवमिश्र ने 'कौतुकविशेषकारी' कहा है। (काव्यादर्श ३.७८, काव्यप्रकाश ९.८५, वृत्ति, साहित्यदर्पण १०.१५, वृत्ति, अलंकारशेखर, पृष्ठ २९)

तथा सामान्यतः यमक और श्लेष अलंकारों को,[1] इसी आधार पर गर्हित एवं यथासम्भव त्याज्य घोषित किया गया है कि वे अत्यन्त दुष्कर हैं—ऐसा भी क्या काव्य कि जिसका अर्थ अत्यन्त कठिनता से ज्ञात हो जाने पर भी ऐसा प्रतीत होने लगे कि एक बोझ सिर से उतर गया, और फिर उसे दूसरी बार पढ़ने को जी न चाहे—उससे मन ऊब जाए।

अब पुनः दोष-प्रसंग पर आते हैं—

'वन्द्याम्' पद 'वन्द्या' शब्द की द्वितीया विभक्ति का एकवचनान्त रूप है, तथा वन्दी (वन्दी : बवयोरभेदः) शब्द की सप्तमी का एकवचनान्त रूप भी। स्पष्टतः, ये दोनों रूप व्याकरण के अनुसार शुद्ध हैं, किन्तु समीक्षक को इस पद के प्रयोग में वहां आपत्ति है जहां वह 'सन्देह' उत्पन्न करता है। जैसे—**'आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु'** (सा० द० ७.४ वृत्ति) पद्यांश का प्रस्तुत अभिप्राय तो यह है कि 'इस वन्दनीय आशीःपरम्परा को सुनकर हे राजन् ! कृपा करें'। किन्तु साथ ही, इससे निम्नोक्त अर्थ का भी सन्देह होता है—'इस आशीःपरम्परा को सुनकर हे राजन् ! इस वन्दी महिला पर कृपा करें।' अतः ऐसे प्रयोग त्याज्य हैं।

एक कथन और लीजिए—**'आसमुद्र-क्षितीशानाम्** (समुद्र-पर्यन्त पृथ्वीपतियों का)। इस पद में यद्यपि 'आसमुद्र' का 'क्षितीश' के साथ समासबद्ध प्रयोग व्याकरण-संगत है, किन्तु 'आसमुद्रम्' कहने में भाषा में जो बल आ जाता है वह समास करने से नष्ट हो जाता है। ऐसे स्थलों में 'अविमृष्टविधेयांश' दोष माना जाता है। यही स्थिति **'यत्र ते पतति सुभ्रु कटाक्षः षष्ठबाण इव पञ्चशरस्य'** में भी है। 'षष्ठबाण' प्रयोग व्याकरण-संगत है, किन्तु 'षष्ठो बाणः', प्रयोग में कहीं अधिक बल है।

सन्धि-नियमों के अनुसार निम्नोक्त स्थल में विसर्गों का लोप संगत है—**'गता निशा इमा बाले'**, और निम्नोक्त स्थल में विसर्गों का 'ओ' हो जाना—**'धीरो वरो नरो याति'**, किन्तु काव्यशास्त्री को यह स्थिति सह्य नहीं है। वह इनमें काव्य-दोष स्वीकार करता है। और फिर, वह सन्धि भी क्या जो व्याकरण-संगत तो है, पर जिससे जुगुप्सा-व्यंजक अश्लीलता की दुर्गन्ध की लपटें उठने लगें—**'चलण्डामरचेष्टितः,'**[2]

---

१. **प्रायशो यमके चित्रे रसपुष्टिर्न दृश्यते। (एकावली)**

२. चलन् और डामर पदों की सन्धि करने से जुगुप्सा या व्रीडा की व्यंजक अश्लीलता प्रतीत होती है, क्योंकि अपभ्रंश भाषा में 'लण्ड' शब्द पुरीष (विष्ठा) का वाचक है।

अथवा जो अत्यन्त क्लिष्ट वन जाए—'**उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः**'।[१]

इस प्रकार उक्त उदाहरणों से यह भी सिद्ध होता है कि काव्य-दोषों के निर्धारण में संस्कृत-समीक्षाशास्त्रों में व्याकरण के नियमों के परिपालन पर वल तो दिया गया है, पर वहाँ तक, जहाँ तक वे सहृदय के रसास्वाद में वाधक नहीं वनते। अव एक पद्य और—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां
निषेदुषीमासनवन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां
छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥[२] रघु० २,६

यहाँ राजा की तुलना छाया से की गयी है, पर राजा पुलिंग है, और छाया स्त्रीलिंग, और इस प्रकार के सादृश्य सदोष माने जाने चाहिएं, पर वामन और दण्डी ऐसे स्थलों में दोष स्वीकार नहीं करते, विशेषतः उन स्थलों में जहाँ ये स्थल सहृदयों के लिए उद्वेगजनक नहीं होते,[३] पर फिर भी, इस प्रकार के लिंग-भेद से वचने का प्रयास तो कवि को करना ही चाहिए।

ऊपर कतिपय पददोषों पर प्रकाश डाला गया है। अव कुछ वाक्यदोष लीजिए। एक वाक्य के पद का दूसरे वाक्य में प्रयोग करना 'संकीर्ण' दोष कहाता है—

चन्द्रं मुञ्च कुरंगाक्षि पश्य मानं नभोऽङ्गने। सा० द० ७.८ वृत्ति

—किन्तु इसका अन्वय इस प्रकार होगा—'कुरंगाक्षि, नभोऽङ्गने चन्द्रं पश्य मानं मुञ्च।' इसी प्रकार वाक्य के वीच किसी दूसरे वाक्य का प्रवेश भी समीक्षक को अखरता है—

---

१. ऊर्वी+असौ+अत्र, तरु+आली, मरु+अन्ते, चारु+अवस्थितिः।
(अर्थात् यहां मरुस्थल के अन्त में यह विस्तीर्ण और रमणीय स्थिति वाले वृक्षों की पंक्ति है।)

२. नन्दिनी गाय ठहर गयी तो राजा दिलीप भी ठहर गये, यह चलने लगी तो वह भी चल पड़े, वैठी, तो वह भी टिक कर वैठ गये, उसने जल पिया तो इन्होंने भी पी लिया—राजा मानो परछाई की भांति उस गाय के पीछे-पीछे चले जा रहे थे।

३. (क) उपमानोपमेययोर्लिंगव्यत्यासो लिंगभेदः।
(ख) लौकिक्यां समासाभिहितायामुपमाप्रपञ्चे। का० सू० वृ० ४.२.१२,१४
(ग) न लिंगवचने भिन्ने न हीनाधिकताऽपि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥ काव्यादर्श २.५२

परोपकारनिरतैर्दुर्जनैः सह संगतिः ।

वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन ।। का० प्र० ७.२४१

इस पद्य में 'वदामि भवतत्त्वम्' वाक्य का अन्तःप्रवेश गर्भित दोष कहाता है। एक वाक्य समाप्त करके पुनः वाक्य का प्रारम्भ कर देना 'समाप्तपुनरात्तता' दोष कहाता है। जैसे—

नाशयन्तो घनध्वान्तं तापयन्तो वियोगिनः ।

पतन्ति शशिनः पादाः भासयन्तः क्षमातलम् ।।[1] सा०द० ७.८ वृत्ति

—पद्य में तीसरे चरण तक वाक्य पूर्णतः समाप्त हो चुकने पर भी चौथे चरण में पुनः प्रारम्भ कर दिया गया है।

अब एक पद्य लीजिए, जो काव्य का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करते हुए भी सदोष है। इसमें ऐसे पद प्रयुक्त हुए हैं जो कि अनावश्यक हैं, और प्रकारान्तर से भाषा के सौन्दर्य में व्याघात उत्पन्न करते हैं—

पल्लवोपमितिसाम्यसपक्षं दष्टवत्यधरबिम्बमभीष्टे ।

पर्यकूजि सरुजेव तरुण्यास्तारलोलवलयेन करेण ।। शिशुपालवध १०.५३

[अभीष्ट (प्रियतम) द्वारा पल्लव-तुल्य अधर-बिम्ब के दष्ट होने पर तरुणी का मणिकंकण-युक्त चंचल हाथ मारे पीड़ा के झनझना उठा।]

इस पद्य में **उपमिति, साम्य** और **सपक्ष** ये शब्द ध्यातव्य हैं। इन तीनों शब्दों में से कोई भी एक शब्द रख देने से कवि का आशय समझ में आ सकता था। शेष किन्हीं दो शब्दों के प्रयोग में पुनरुक्ति दोष है। टीकाकारों का कहना है कि महाकवि माघ इन तीनों शब्दों के प्रयोग से यह कहना चाहते हैं कि 'अधर' और 'कर' (हाथ) —ये दोनों 'उपमिति' (उपमा) के क्षेत्र में 'साम्य' (समता) रखने के कारण सपक्ष हैं—एक ही पक्ष (बिरादरी) के हैं—**पल्लवोपमित्या यत्साम्यं तेन सपक्षे**, क्योंकि 'अधर' और 'कर' दोनों की उपमा पल्लव से दी जाती है। 'अधर पल्लव' और 'कर-पल्लव'। उक्त तीनों शब्दों के एक-साथ रखने से कवि को वह कहना अभीष्ट है कि 'अधर' और 'कर' उक्त आधार पर एक पक्ष (बिरादरी) के हैं, अतः ज्यों ही अधर को पीड़ा पहुंची, त्यों ही हाथ भी उसकी पीड़ा से झनझना उठा। माना कि माघ को यह सब निर्दिष्ट करना अभीष्ट होगा, किन्तु फिर भी, माघ का यह आशय अति क्लिष्ट तो है ही। यदि इन तीनों शब्दों में से कोई एक शब्द रखना हो तो 'सपक्ष' समुचित है, यद्यपि वह भी व्याख्यापेक्ष्य है।

---

१. अर्थात् चन्द्रमा की किरणें बादलों के अन्धकार को नाश करती हुई, वियोगियों को सन्तप्त करती हुई तथा पृथ्वी-तल को चमकाती हुई गिर रही हैं।

—और फिर, 'बिम्ब' शब्द में भी अधिकपदता दोष है। 'पल्लव' से उपमा 'अधर' की दी जाती है न कि अधर-बिम्ब की। इसके अतिरिक्त 'अधर' और 'कर' में सपक्ष-धर्मता है, न कि 'अधरबिम्ब' और 'कर' में।

—'अभीष्ट' द्वारा अधर के दष्ट किये जाने पर' इस वाक्यांश में 'अभीष्ट' शब्द विचाराधीन है। टीकाकारों ने 'अभीष्ट' शब्द को इस आधार पर अनुचित समझा है कि क्या कभी ओष्ठ को काट खाने वाले व्यक्ति को भी अभीष्ट कहा जाता है। उसे तो 'निष्ठुर' कहना चाहिए। किन्तु हमारे विचार में माना कि नायिका द्वारा नायक को—मीठी शिकायत के रूप में (व्याजनिन्दा के रूप में—न कि निन्दा के रूप में)—'निष्ठुर' कहने में भी काव्य-चमत्कार है, पर उसे 'अभीष्ट' कहने में तो कहीं अधिक चमत्कार है कि उसकी यह प्रणयावेश-जन्य 'क्षतता' नायिका को शत-शत बार अभीष्ट है, और तभी तो वह उसे 'अभीष्ट' कहती है।

किसी भी भाषा के काव्य का प्रबुद्ध समीक्षक रचना में प्रयुक्त पदों का माप-तोल सहृदयता के स्तर पर ऐसे करता है जैसे कोई जौहरी धर्मकांटे पर एक-एक मुक्ता को तोल रहा हो। इसी सम्बन्ध में अभिज्ञानशाकुन्तल के निम्नोक्त श्लोक पर काव्य-मर्मज्ञ टीकाकार राघवभट्ट की टिप्पणी द्रष्टव्य है—

आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥[1] अभिज्ञान० १.२

[मैं अपने अभिनय से विशिष्ट ज्ञान को तब तक सफल नहीं मानता जब तक इससे विद्वज्जन सन्तुष्ट न हो जाएं, क्योंकि कला-कोविदों का चित्त, चाहे कितना दृढ़ हो, अपने ऊपर अविश्वस्त रहता है।]

उक्त श्लोक में टीकाकर राघवभट्ट को पहली आपत्ति यह है कि 'प्रत्यय' अर्थात् 'विश्वास' तो चित्त का धर्म है, अतः 'प्रत्यय' और 'चेतः' के एक-साथ प्रयोग में अर्थगत पुनरुक्ति दोष है,[2] क्योंकि प्रत्यय (विश्वास) और चित्त में धर्म-धर्मी सम्बन्ध है। दूसरी आपत्ति यह कि 'अप्रत्ययम्' में 'नञ् समास' के प्रयोग के कारण 'अविमृष्टविधेयांश' दोष है, क्योंकि 'विश्वास के न होने' को—जो कि कवि का विधेय है—नञ् समास द्वारा गौण बना दिया गया है।[3] इन दोनों दोषों को दूर करने के लिए

---

१. नहीं समझता प्रयोग को अपने सफल मैं तब तक,
मर्मज्ञ कला के तोष न पाएं इससे जब तक,
कितना भी चाहे कोई कोविद हो जाता है,
विश्वास नहीं उसका फिर भी अपने पर जम पाता है॥ (हिन्दी-रूपान्तर)

२. विश्वासस्य चेतोधर्मत्वेनार्थपौनरुक्त्यम्।

३. विश्वासाभावस्य विधेयत्वाद् अविमृष्टविधेयांशता च। (अर्थद्योतनिका टीका)।

टीकाकार ने यह संशोधन उपस्थित किया है—'स्वस्मिन् प्रत्येति नो चेतः', अर्थात् चित्त अपने ऊपर विश्वास नहीं करता।

जहां तक नञ् समास को हटा देने का प्रश्न है हम टीकाकार से सहमत हैं कि 'नो प्रत्येति' के प्रयोग द्वारा उक्त दोष दूर हो गया है। किन्तु 'चेतः प्रत्येति' प्रयोग पर अब भी वही आपत्ति की जा सकती है, जो कि टीकाकार को थी कि 'प्रत्यय' और 'चेतः' में (धर्म और धर्मी में) अर्थगत पुनरुक्ति दोष है। अन्तर इतना है कि कालिदास के 'अप्रत्ययं चेतः' प्रयोग में ये दोनों शब्द क्रमशः विशेषण और विशेष्य थे, और इधर राघवभट्ट के 'प्रत्येति चेतः' प्रयोग में ये दोनों शब्द क्रमशः क्रिया और कर्ता हैं, किन्तु प्रत्यय-(विश्वास-) सूचक 'प्रति उपसर्ग-पूर्वक ईङ् गतौ' धातु का प्रयोग उक्त दोनों पद्यों में एक-सा ही है।

वस्तुतः देखा जाए तो 'अप्रत्ययं चेतः' में अर्थगत पुनरुक्ति दोष है ही नहीं। यह दोष तब माना जाता है, जब एक कथन की पुनरुक्ति दूसरे कथन द्वारा कर दी जाती है। यथा—'अविवेक बड़ी-बड़ी आपत्तियों का कारण है।' यह कहकर यह कहना कि 'विवेकपूर्वक कार्य करने वाले व्यक्ति का वरण करने के लिए सम्पत्तियां स्वयमेव आ पहुंचती हैं।'[1] हमारे विचार में तो 'अप्रत्ययं चेतः' प्रयोग में उक्त 'तथाकथित' पुनरुक्तता के कारण कहीं अधिक स्पष्टता आ गयी है।

अस्तु, जो हो! संस्कृत का समीक्षक काव्य की भाषा के एक-एक पद के प्रयोग के प्रति सचेत रहकर उसकी उपयुक्तता अथवा अनुपयुक्तता का समीक्षण करता है। इसी प्रकार इसी टीकाकार को ही निम्नोक्त पद्य के तृतीय और चतुर्थ पाद का पाठान्तर ही अपेक्षाकृत अधिक अभीष्ट है, क्योंकि तृतीय पाद में 'कथितपदता' दोष है—

> तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
> र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
> विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
> स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि॥[2] अभिज्ञान० ३.३

---

१. सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥ किराता० २.३०

२. हे कामदेव हो पुष्पबाण तुम और शशी शीतांशु है—
पर लगती मुझ जैसों को हैं, ये दोनों बातें मिथ्या।
है शशि बरसाता अग्नि को, शीतल किरणों से भी,
और तुम भी बनाते वज्र-सरीखे पुष्प के बाणों को रे॥ (हिन्दी-रूपान्तर)

इस पद्य में 'इन्दु' शब्द का प्रयोग प्रथम पाद में किये जाने के बाद तृतीय पाद में फिर किया गया है, अतः यहां कथितपदता दोष माना गया है। तृतीय पाद में इन्द्र के स्थान पर 'सा' अथवा 'असौ' सर्वनाम का प्रयोग किया जाना चाहिए। अतः तृतीय और चतुर्थ पाद के स्थान पर राघवभट्ट को निम्नोक्त पाठ कहीं अधिक स्वीकृत है—

त्वमिह कुसुमबाणान् वज्रसारान् विधत्से,
विसृजति स च वह्निं शीतगर्भैर्मयूखैः ॥

इस पाठ में 'इन्दुः' के स्थान पर 'सः' सर्वनाम-पद के प्रयोग से उक्त दोष दूर हो गया है। इस प्रकार काव्य-सौन्दर्य के पारखी समीक्षक राघवभट्ट को यह अभीष्ट है कि काव्य की भाषा हर दृष्टि से दोष-रहित होनी चाहिए।

इस प्रकार संस्कृतकाव्य-समीक्षक किसी रचना की बहुविध विशिष्टताओं का उल्लेख करने के साथ-साथ उसमें निहित दोषों की भी चर्चा करता चलता है।

इस सम्बन्ध में अभिज्ञानशाकुन्तल से निम्नोक्त पद्य लीजिए—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥[1] अभिज्ञान० १.१७

[दुष्यन्त ने देखा कि शकुन्तला का शरीर रेशमी वस्त्रों के स्थान पर वल्कल से ढपा है, तो वह बोल उठा—यह कृशांगी शकुन्तला वल्कल से भी अधिक सुन्दर दिखायी देती है। कमल शैवल से भी घिरा हुआ हो, तो वह अधिक सुन्दर दिखायी देता है चन्द्रमा का मैला भी कलंक चन्द्रमा की शोभा को बढ़ाता है। सच है कि मधुर आकृतिवान् व्यक्तियों को कौन-सा पदार्थ शोभाकारक नहीं होता।]

उक्त पद्य के विषय में सर्वप्रथम यह उल्लेख्य है कि इसमें प्रथम और द्वितीय पाद उपमान-वाक्य हैं तथा तृतीय पाद उपमेय-वाक्य है,[2] और चौथे पाद में 'अर्थान्तरन्यास'

---

१. वल्कल से ढँपी होने पर भी यह और भी सुन्दर लगती है,
है कलंक यह काला चन्दा में, पर शोभा उसकी इससे बढ़ती है।
शैवल से घिर जाए कमल तो, वह बहुत ही प्यारा दिखता है,
मधुर-मनोहर रूप है जिनका, भला उन पर क्या नहीं फबता है ? (हिन्दी-रूपान्तर)

२. अतः उक्त हिन्दी-रूपान्तर में हमने तीसरे वाक्य—उपमान वाक्य—का रूपान्तर पहले प्रस्तुत किया है और शेष दो वाक्यों—उपमान-वाक्यों—का बाद में।

अलंकार है। अस्तु ! इस पद्य पर संस्कृत के समीक्षक ने विभिन्न टिप्पणियां प्रस्तुत की हैं, जिनका अभिप्राय इस प्रकार है—

१. **'अनुविद्धम्'** शब्द से तात्पर्य है कि शैवल कमल के चारों ओर इसे नितान्त व्याप्त किये हुए हैं। 'अनु' उपसर्ग से यहां अभिप्रेत है—'सतत' अर्थात् निरन्तर अथवा स्पष्टतः कहें तो नितान्त। उधर वल्कल भी तो शकुन्तला के शरीर को नितान्त व्याप्त किये हुए है।

२. पहले उपमान-वाक्य के प्रस्तुत किये जाने पर दूसरा उपमान-वाक्य निरर्थक है—क्योंकि ये दोनों वाक्य एक ही धर्म को प्रकट करते हैं। पहले वाक्य में श्यामवर्णीय शैवल यदि सरसिज को व्याप्त किये हैं तो दूसरे वाक्य में काला कलंक चन्द्रमा को। अतः दूसरा उपमान-वाक्य पहले उपमान की आवृत्ति मात्र है, किन्तु टीकाकार ने इस दोष का स्वयं ही समाधान कर दिया है कि दोनों वाक्यों के धर्म अलग-अलग हैं—शैवल यदि कमल को व्याप्त किये रहता है, तो कलंक चन्द्रमा के शरीर में अन्तर्गत होकर रहता है।[3] अतः ये दोनों वाक्य अलग-अलग अर्थच्छायाओं के द्योतक होने के कारण एक-समान नहीं हैं।

किन्तु हमारा विचार है कि पहला उपमान-वाक्य ही कहीं अधिक सटीक है, क्योंकि उपमेय 'वल्कल' शकुन्तला के शरीर को उस प्रकार व्याप्त किये है, जैसे कि उपमान 'शैवल' सरसिज को, न कि उस प्रकार, जैसे कि कलंक चन्द्रमा में अन्तर्भूत होकर रहता है।

३. (क) **'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति'** अर्थात् 'चन्द्रमा का काला भी कलंक शोभा को बढ़ाता है' इस वाक्य के सम्बन्ध में टीकाकार का कहना है कि इसमें यह स्पष्टतः नहीं बताया गया कि कलंक चन्द्रमा की शोभा को बढ़ाता है। माना कि यह स्वतःगृहीत है कि कलंक जिसका है शोभा भी वह उसकी ही बढ़ा रहा है, जैसे कि 'मुख का तिल शोभा बढ़ा रहा है' इस वाक्य में यह स्वतःगृहीत है कि तिल मुख की शोभा को बढ़ा रहा है, किन्तु फिर भी, सर्वनाम के प्रयोग द्वारा स्पष्टतः निर्दिष्ट कर देना चाहिए था कि चन्द्रमा का कलंक उसकी शोभा को बढ़ाता है। दोष तो आखिर दोष है ही।

(ख) पहले और तीसरे वाक्य में किसी क्रिया का प्रयोग नहीं किया गया, इनमें **'भवति'**, **'अस्ति'**, **'विद्यते'** आदि क्रियाएं स्वतःस्पष्ट हैं, किन्तु दूसरे वाक्य में **'तनोति'** क्रिया का प्रयोग कर दिया गया है। क्रिया का प्रयोग या तो किसी वाक्य में न होता, यदि होता तो तीनों वाक्यों में होता।

(ग) इसके अतिरिक्त पहले और तीसरे वाक्य में तो कर्मवाच्य का प्रयोग है और दूसरे वाक्य में कर्तृवाच्य का—यह एक अन्य दोष है।

(घ) एक दोष और भी है कि 'शैवल' का तो विशेषण प्रस्तुत नहीं किया गया, पर 'लक्ष्म' (कलंक) का विशेषण 'मलिन' (काला) प्रस्तुत किया गया है जो कि व्यर्थ है—कलंक, को काला कहने की भला आवश्यकता क्या है, यह तो स्पष्ट ही दीखता है।

अतः टीकाकार ने उक्त चारों दोषों को दूर करने के लिए निम्नोक्त पाठ प्रस्तुत किया है—

'शिशिरकिरणमाली सुन्दरो लक्ष्मणापि ।'

अर्थात्, 'शरद् ऋतु का चन्द्रमा कलंक से भी सुन्दर दीखता है।' टीकाकार ने इस पाठान्तर के द्वारा उक्त चारों दोष दूर कर दिये हैं—(क) चन्द्रमा सुन्दर है—यह स्पष्टतः निर्दिष्ट हो गया है। (ख) अन्य दो वाक्यों के समान यहां भी क्रिया का प्रयोग नहीं हुआ। (ग) यह रचना भी कर्तृवाच्यपरक है (घ) 'लक्ष्म' का विशेषण भी नहीं दिया गया। परन्तु **'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति'** में जो प्रवाह है, और विशेषतः 'लक्ष्म लक्ष्मीम्' में अनुप्रास-जन्य जो वाणी का (जिह्वा का नहीं) चटखारा है, वह टीकाकार द्वारा परिवर्तित पाठ में नहीं है। यदि स्वयं कालिदास उक्त सभी दोषों को दूर करने के लिए जो पाठ प्रस्तुत करता—वह शायद टीकाकार के पाठ की अपेक्षा कुछ और ही सौन्दर्य उत्पन्न करता—समीक्षक और कवि में यह अन्तर तो प्रायः सदा से रहा है कि जैसे किसी चित्र-दीर्घिका में ठहरा एक प्रबुद्ध चित्र-समीक्षक चित्र में दोष तो निकाल सकता है, पर प्रयत्न करने पर भी उसे दूर कर सकने में प्रायः समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार एक काव्य-समीक्षक किसी काव्य में दोष भले ही ढूंढ निकाले, पर उसे दूर कर सकने में वह प्रायः असमर्थ ही रहता है।

संस्कृत के काव्य-समीक्षक को ऐसे स्थल भी खटकते हैं कि जिनके पदों के अन्तिम अथवा आदि वर्णों को अपने से परवर्ती अथवा पूर्ववर्ती शब्दों के साथ जोड़कर पढ़ने से अर्थ का अनर्थ हो जाए। ऐसा एक पद्य नैषधचरित से लीजिए—

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः ।
अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः ॥ नैषध० २.६२

इस पद्य का स्पष्ट-सा अर्थ तो यह है—'हे पक्षि ! तुम्हारा मार्ग कल्याणमय हो। शीघ्र ही हम फिर मिलेंगे। अरे जाओ, हमारा अभीष्ट सिद्ध करो। दमयन्ती से मिलते समय हमें याद कर लेना।' किन्तु यदि उपर्युक्त स्थिति के अनुसार इस पद्य के पदों को पढ़ें तो इस का अर्थ भिन्न प्रकार से होगा। पहले परिवर्तित स्थिति में उक्त पद्य लीजिए—

तव वर्त्म निवर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं स मागमः ।
अयि सावे असाधयेसिप्तं स्मरणीयाः समये वयं वयः ॥

हे पक्षि ! तुम्हारे मार्ग का कल्याण हट जाए,[1] वह 'तुम' फिर शीघ्र लौट कर न आओ ।[2] हे रोगग्रस्त ! हमारी इच्छा को पूरा न करना,[3] और हमें हमारे बाद याद करना ।[4]

पर वस्तुतः, जैसा कि उक्त पद्य के दूसरे रूपान्तर से स्पष्ट है, ऐसे पद्यों को सदोष सिद्ध करने के लिए, तथा साथ ही, अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करने के लिए पण्डितों को पर्याप्त खींचतान करनी पड़ती है, और इस प्रकार वे मूल लेखक के प्रति बहुत बड़ा अन्याय ही करते हैं।

अब इस प्रसंग के अन्त में एक प्रसिद्ध पद्य लीजिए, जिसमें दो दोष बताये जाते हैं—

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः तत्राप्यसौ तापसः,
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
धिग् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा,
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥[5] हनुमन्नाटक

'न्यक्कारो ह्ययमेव' इस वाक्य में 'अयम्' (यह) उद्देश्य (अनुवाद) है, और 'न्यक्कार' विधेय है । उद्देश्य और विधेय में से विधेय को प्रधान रूप से निर्दिष्ट करना चाहिए, और इसी कारण उद्देश्य को पहले कहना चाहिए और विधेय को बाद में—**अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत् । न हि अलब्धास्पदं किंचिद् कुत्रचित् प्रतितिष्ठति ।** अतः इन दोनों पदों को इस क्रम से रखना चाहिए था—'अयमेव न्यक्कारः'। 'न्यक्कारोऽयमेव' इस क्रम में रखने से विधेय (न्यक्कार) में अविमर्श (गौणभाव अथवा शैथिल्य) आ गया है । अतः यहां विधेयाविमर्श दोष है ।[6]

किन्तु विमला-टीकाकार ने 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे' में यह दोष नहीं माना। इनके अनुसार माना कि 'अयम्' उद्देश्य है, और न्यक्कार' विधेय है, और उद्देश्य को कहकर ही विधेय कहना चाहिए, किन्तु जहां विधेय को प्रधान रूप से

---

१. अयि वयः ! तव वर्त्म निवर्ततां शिवम् ।

२. सः [त्वं] त्वरितं मा अगमः ।

३. अयि सावे वयः ! (हे आधि-सहित पक्षि !) ईप्सितम् असाधय ।

४. वयं समये स्मरणीयाः ।

५. इस पद्य के अर्थ के लिए देखिए पृष्ठ २९०

६. सा० द० ७.४ वृत्ति (विमला टीका, पृ० २३२, तथा परिशिष्ट, पृ०७-९)

कहना अभीष्ट होता है, वहां विधेय को पहले रख देने से वाक्य में दृढ़ता आ जाती है। जैसे—'तिरस्कार है यह मेरा' कहने में जितनी दृढ़ता है, उतनी दृढ़ता यह कहने में नहीं है कि 'यह मेरा तिरस्कार है।'

अब उक्त पद्य के चौथे चरण 'स्वर्ग-ग्रामटिका···' को लीजिए—'स्वर्ग-रूपी ग्रामटिका (क्षुद्र और तुच्छ गांव) को लूटकर [अभिमान के कारण] फूली हुई ये भुजाएं व्यर्थ, हैं, अब इनसे क्या प्रयोजन !' चौथे चरण का इस प्रकार अर्थ करके इसमें एक तो पुनरुक्ति दोष है—'इन भुजाओं से क्या [प्रयोजन] ?' यह कहकर यही आशय इस प्रकार से फिर कह दिया गया है कि इन भुजाओं का 'उच्छूनत्व' (फूलना) व्यर्थ है। दूसरा दोष यह है कि 'वृथा' यहां विधेय है, जो कि कवि को कहना अभीष्ट है, और 'उच्छूनत्व' उद्देश्य है। इसलिए 'उच्छून' पद का प्रयोग पहले होना चाहिए था, और 'वृथा' पद का बाद में, किन्तु 'वृथा' का प्रयोग पहले होने से 'वृथात्व' की अप्रधानता (गौणता, उपसर्जनता) प्रतीत होने लगती है। अतः यहां भी 'विधेया-विमर्श' दोष है।[1]

किन्तु विमला-टीकाकार ने यहां भी यह दोष नहीं माना। इनके अनुसार यहां 'वृथा' उच्छून का विशेषण है कि 'इन वृथा (बेकार) फूली हुई भुजाओं से क्या प्रयोजन ?' अतः वृथा (विशेषण) को उच्छून से पहले रखने में कोई दोष नहीं है, और इस प्रकार उक्त पुनरुक्ति दोष भी दूर हो जाता है। हम टीकाकार की इस मान्यता से सहमत हैं कि यहां उक्त दोनों दोष नहीं हैं।

[३]

जिन रचनाओं में किसी एक शास्त्र में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द के आधार पर अथवा उसके किसी सिद्धान्त के आधार पर काव्य-चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है, वहां **'अप्रतीतत्व'** नामक काव्य-दोष स्वीकार किया जाता है।[2] कारण, इस प्रकार के स्थल उस शास्त्र से परिचित पाठक का ही किसी सीमा तक रसास्वादन करने में सक्षम हो सकते है, सामान्य पाठक का नहीं—उस शास्त्र का ज्ञानाभाव सामान्य पाठक के रसास्वादन में व्याघात उत्पन्न करता है, और फिर, जब वह उस शास्त्र के उस विशेष शब्द अथवा सिद्धान्त से परिचित हो जाता है, तब कहीं जाकर उसे रसास्वादन प्राप्त होता है। यद्यपि संस्कृत-काव्यशास्त्र में पारिभाषिक

---

१. उक्त दोनों दोषों को दूर करने के लिए अन्तिम पाद को इस प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है—**'स्वर्ग-ग्रामटिका-विलण्ठुनपरैः किमेभिर्भुजैः।'**

२. अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम्। का०प्र० ७म (११)

शब्दों के प्रयोग (अथवा अप्रतीतत्व) को एक दोष माना गया है, किन्तु टीकाकारों ने इस दोष की उपेक्षा की है। उपेक्षा ही नहीं की, अपितु उन्होंने ऐसे स्थलों से रचयिता को बहुशास्त्रज्ञ घोषित किया है। ऐसे स्थलों से रचयिता की बहुशास्त्रज्ञता निस्सन्देह लक्षित होती है, पर दोष तो आखिर दोष ही है। सर्वप्रथम एक पद्य लीजिए जिसमें श्लेष के बल पर राजनीति की समता व्याकरणशास्त्र से की गयी है—

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥ शिशुपालवध २.११२

जिस राजनीति में एक भी 'पद का न्यास' अर्थात् स्वल्प भी व्यवहार शास्त्र-विरुद्ध नहीं होता, जो कि 'सद्वृत्ति है', अर्थात् जहां भृत्य आदि की आजीविका के लिए सुन्दर व्यवस्था है, जहां 'निबन्धन' (पुरस्कार आदि) सत्पात्रों को दिये जाते हैं— किन्तु यदि ऐसी राजनीति 'पस्पश' (गुप्तचर विभाग) के बिना है तो वह ऐसे शोभित नहीं होती, ठीक ऐसे—जैसे व्याकरण-विद्या जिनेन्द्रबुद्धिकृत 'न्यास' ग्रन्थ, सती (काशिका) वृत्ति, 'निबन्धन' (महाभाष्य ग्रन्थ) तथा 'पस्पश' आह्निक के बिना शोभित नहीं होती।[1]

ऐसा एक पद्य और—

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि॥ नैषधचरित १७.७०

पाणिनि का एक सूत्र है—'अपवर्गे तृतीया' (अष्टाध्यायी २.३.६), जिसका अर्थ है कि अपवर्ग अर्थात् फल-प्राप्ति में 'काल' अथवा 'मार्ग' के अत्यन्त संयोग में तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ—(क) 'अह्ना अनुवाकोऽधीतः', (ख) 'क्रोशेन अनुवाकोऽधीतः', अर्थात् (क) दिन भर अनुवाक पढ़ा गया और वह समझ में आ गया, (ख) कोसभर चलते-चलते अनुवाक पढ़ा गया और वह समझ में आ गया—अर्थात् फल-प्राप्ति हो गयी। किन्तु यदि अपवर्ग अर्थात् फल की प्रप्ति नहीं होती, तो फिर द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होगा, न कि तृतीया विभक्ति का, जैसे—'मासमधीतो नायातः'—मास भर [अनुवाक] पढ़ा गया, पर समझ में न आया।[2]

अब इसी सूत्र के आधार पर श्रीहर्ष की कल्पना लीजिए, जिसमें उन्होंने उक्त

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए सर्वंकषा व्याख्या (मल्लिनाथ)।

२. **'अपवर्गे तृतीया' (२.३.६) अपवर्गः फलप्राप्तिः तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात्। अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः। अपवर्गे किम् मासमधीतो नायातः।** (सिद्धान्तकौमुदी, कारकप्रकरण, सूत्र-संख्या ५६३)

सूत्र में प्रयुक्त 'अपवर्ग' शब्द का 'मोक्ष' अर्थ, तथा 'तृतीया' शब्द का 'नपुंसक' अर्थ ग्रहण करते हुए निम्नोक्त रूप में चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयास किया है—

'मुनि पाणिनी ने 'अपवर्गे तृतीया' [इस सूत्र को] कहते हुए यह अभिप्राय प्रकट किया है कि [संसार की तीन प्रकृतियों—पुरुष, स्त्री और नपुंसक[1] में से प्रथम] दो प्रकृतियां—अर्थात् पुरुष और स्त्री—तो 'काम' में निमज्जित रहनी चाहिएं, और शेष तीसरी प्रकृति अर्थात् नपुंसक लोगों को ही 'अपवर्ग' (मोक्ष) की [प्राप्ति के लिए] प्रयास करना चाहिए।

माना कि इस प्रकार के स्थलों से व्याकरणविद् अति चमत्कृत होंगे, किन्तु हमारे विचार में ऐसे स्थल सामान्य पाठकों की सहृदयता को उभारने में सफल नहीं हो सकते। हाँ, प्रसंगवश एक पद्य लीजिए, जो कि उक्त पद्य की भांति शुष्क न होकर किसी भी स्तर के पाठक को—केवल इतना मात्र बता देने पर कि 'मनस्' शब्द नपुंसक-लिंग में प्रयुक्त होता है—चमत्कृत करने के लिए पर्याप्त है—

नपुंसकमिति ज्ञात्वा प्रियायै प्रेषितं मनः।
तत्तु तत्रैव रमते हताः पाणिनिना वयम् ॥[2]

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है संस्कृत के प्रायः सभी प्रख्यात कवि बहु-शास्त्रज्ञ थे, और अपनी इस बहुज्ञता को वे कहीं-कहीं अपने काव्य में किसी-न-किसी रूप में अनुस्यूत भी कर देते थे। इनके समीक्षक इस दृष्टि से भी इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे, पर साथ ही, ऐसे स्थलों में 'अप्रतीत' दोष का संकेत भी कर देते थे। निस्सन्देह ऐसे स्थल काव्य चमत्कार-विघातक होते हैं। पारिभाषिक शब्दावलियों से परिपूर्ण निम्नोक्त स्थल लीजिए—

सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वांगस्कन्धपञ्चकम्।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम् ॥ शिशुपालवध २.२८

अर्थात्, जिस प्रकार बौद्धों के मत में [रूप, वेदना आदि] पांच स्कन्धों[3] के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं है, उसी प्रकार राजाओं के लिए भी समस्त कार्यों

१. 'तृतीया प्रकृतिः षण्ढः' (अमरकोश)
२. मन 'नपुंसक' है यह जानकर इसे हमने प्रिया के पास भेज दिया था, किन्तु अब वह तो वहीं रम गया है—और हमें पाणिन ने मार डाला।
३. रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराःपञ्च स्कन्धाः। तत्र विषयप्रपञ्चो रूपस्कन्धः, तज्ज्ञानप्रपञ्चो वेदनास्कन्धः, आलयविज्ञानसंतानो विज्ञानस्कन्धः, नामप्रपञ्चः संज्ञास्कन्धः, वासनाप्रपंचः संस्कारस्कन्धः। एवं पंचधा परिवर्तमानो ज्ञानसंतान एवात्मा इति बौद्धाः। —(सर्वंकषा व्याख्या (मल्लिनाथ)

की सिद्धि के लिए [आरम्भोपाय, पुरुषद्रव्यसंपत् आदि] पांच अंगों[1] के अतिरिक्त अन्य कोई मन्त्र नहीं रहता।

स्पष्ट है कि इस प्रकार के पारिभाषिक प्रयोग कवि के पाण्डित्य का परिचय भले ही दे देते हैं, पर ये काव्याह्लाद के प्रवाह में बाधा अवश्य उपस्थित कर देते हैं।

विजयस्त्वयि सेनायाः साक्षिमात्रेऽपदिश्यताम्।
फलभाजि समीक्ष्योक्ते बुद्धेर्भोग इवात्मनि॥ शिशुपालवध २.५९

[श्रीकृष्ण के प्रति श्री बलराम का कथन—आप केवल साक्षी रहकर विजय का फल पाइए, जैसे बुद्धि के भोग को आत्मा प्राप्त करता है। इसका तात्पर्य यह है कि शत्रु (शिशुपाल) को परास्त तो करेंगे यादव-गण, किन्तु विजेता आप माने जाएंगे, ठीक ऐसे—जैसे, सांख्यामतानुसार भोग होता तो वास्तव में प्रकृति के आदिम परिणाम महान् अथवा बुद्धि-तत्त्व को है, किन्तु फल इसका मिलता है आत्मा को, जोकि यथार्थ में कुछ भी करता तथा भोगता नहीं है।[2]]

पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्दिष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति॥ रघुवंश १३.६०

[पुण्यजनों (यक्षों) की रमणियां अपने स्तनों (स्तन-बिम्बों) पर जिस [सरयू] नदी के स्वर्णिम कमलों की रेणु को सजाती हैं—वह सरयू नदी ब्राह्मसर (मानसरोवर) से ऐसे निकली हुई है, जैसे बुद्धि (अर्थात् महत्तत्त्व अथवा अहंकार) का जन्म अव्यक्त तत्त्व (अर्थात् प्रधान या प्रकृति) से होता है।[3]]

---

१. कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसंपत्, देशकालविभागाः, विपत्तिप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति पंचांगानि। यथाह कामन्दकः—

सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः।
विपत्तेश्च प्रतीकारः सिद्धि पंचांगमिष्यते॥ सर्वंकषा व्याख्या (मल्लिनाथ)

२. आत्मनि बुद्धेर्महत्तत्त्वस्य मूलप्रकृतेः प्रथमविकारस्य कर्त्र्याः भोगः सुखदुःखानुभव इवापदिश्यतां व्यवह्रियताम्। भृत्यजयपराजययोः स्वामिगम्यत्वाद् इति भावः। सांख्या अप्याहुः कर्तेव भवत्युदासीनः इति, 'सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः इति च। —सर्वंकषा व्याख्या (मल्लिनाथ)

३. ब्राह्मं सरो मानसाख्यं यस्याः सरय्वाः। बुद्धेर्महत्तत्त्वस्याऽव्यक्तं प्रधानमिव कारणम्। —संजीविनी टीका (मल्लिनाथ)।

इसी प्रकार और भी अनेक पद्य काव्य-ग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाते

इस सादृश्य से माना कि कालिदास को यह सिद्ध करना अभीष्ट है कि सरयू नदी कोई सामान्य अथवा भौतिक नदी न होकर दिव्य नदी है, पर सांख्यशास्त्र के उक्त सिद्धान्त को हृदयंगम करते-करते काव्य-चमत्कृति में तो व्याघात उत्पन्न होता ही है। किन्तु कुछ स्थल ऐसे भी होते हैं—और इनकी संख्या निस्सन्देह बहुत ही कम है—जो कि पारिभाषिक शब्दावली से ओतप्रोत होते हुए भी—अर्थात् 'अप्रतीत' दोष से दूषित होते हुए भी—इतने चमत्कारपूर्ण होते हैं कि सुबुद्ध कवि पाठक की शास्त्रज्ञता की, और शब्दावली की प्रयोग-कुशलता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते नहीं अघाते, किन्तु फिर भी, ऐसे प्रयोगों से कुछ देर के लिए सही कथा-प्रवाह के आनन्द में विघ्न तो पड़ता ही है। एक पद्य लीजिए—

तदीशितारं चेदीनां भवाँस्तमवमंस्त मा।
निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव॥ शिशुपालवध २.९५

हैं जो कि प्रायः श्लेष के माध्यम से दर्शन-ग्रन्थों के विविध तत्त्वों की ओर संकेत करते हैं। कुछ स्थल लीजिए—

१. न्यायदर्शन से सम्बद्ध—

साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत् सपक्षे स्थितिम्,
व्यावृत्तञ्च विपक्षतो भवति यत्, तत् साधनं सिद्धये।
यत्साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयोः पक्षे विरुद्धं च यत्,
तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात् स्वामिनो निग्रहः॥ मुद्रा० ५.१०

२. योगदर्शन से सम्बद्ध—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ,
ज्ञानोद्रेकाद् विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।
यं वीक्ष्यन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्,
तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्तु देवं पुराणम्॥ वेणीसंहार १.२३

३. वेदान्तदर्शन से सम्बद्ध—

नास्य द्विजेन्द्रस्य बभूव पश्य दारान् गुरोर्यातवतोऽपि पातः।
प्रवृत्तयोऽप्यात्ममयप्रकाशान् नघ्नन्ति न घ्नन्तिमदेहमाप्तान्॥ नैषध० २२.११८

४. सांख्यदर्शन और वेदान्तदर्शन से सम्बद्ध—

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥
—कुमार० २.१३ (सा० द० ७.१८ वृत्ति)

[हे कृष्ण, उस चेदिराज की आप उपेक्षा मत करें, क्योंकि वह तो इतना उदात्त (शक्ति-सम्पन्न) है कि 'एक पद' अर्थात् एक बार में ही शत्रुओं का विनाश ऐसे कर देता है, जैसे 'एक पद' में उदात्त स्वर अन्य स्वरों को निदाघ-युक्त (अनुदात्त-युक्त अथवा उदात्त-रहित) कर देता है।[1]]

उक्त पद्य में काव्य-चमत्कार 'उपमा' में नहीं है, अपितु 'निहन्ति' पद के श्लिष्टार्थक प्रयोग में है। इस पद का अर्थ शिशुपाल के पक्ष में है—'हिनस्ति', 'नीचैः करोति', और उदात्त स्वर के पक्ष में है—'निदाघ-युक्तान् (अनुदात्त-युक्तान्, उदात्त-रहितान् वा) करोति'। फिर भी, ऐसे स्थल सामान्य पाठक को एक बार तो द्राविड़-प्राणायाम—बौद्धिक व्यायाम—करा ही देते हैं।[2]

---

१. **यश्चैद्य उदात्तः स्वरान् अनुदात्तान् इव अरीन् एकपदे एकस्मिन् पदन्यासे, सुप्तिङन्तलक्षणे च निहन्ति हिनस्ति, नीचैः करोति च। अतिशूरत्वात्। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'** (अष्टाध्यायी ६.१.१५८) **इति परिभाषाबलाच्च इति भावः।**

—सर्वंकषा व्याख्या (मल्लिनाथ)

२. मैं इस प्रसंग में यह उल्लिखित करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा कि कवि-हृदय व्यक्ति चाहे किसी शास्त्र की भी रचना कर रहा हो, वह कहीं-कहीं अपनी सहृदयता का सुपरिचय दे ही जाता है। याज्ञवल्क्य-शिक्षा में ग्रन्थकार ने पहले यह समझाया है कि यदि किसी एक-पद में पंचम अक्षर अपने से पूर्व किसी अपंचम वर्ण से युक्त हो तो उस अपंचम वर्ण का उच्चारण 'यम' (जुड़वां) हो जाता है, अर्थात् उसकी ध्वनि किंचित् अधिक सुनायी देती है, तथा वह 'यम' पूर्व अक्षर का अंग बन जाता है—

अपंचमैश्चैकपदे संयुक्तं पंचमाक्षरम्।
उत्पद्यते यमस्तत्र सोऽङ्गं पूर्वाक्षरस्य हि॥ याज्ञवक्य-शिक्षा २२०

किन्तु उक्त स्थिति में पंचम वर्ण के उपरान्त यदि 'श, ष, स, य, र, ल, व' में से कोई एक वर्ण हो तो 'यम' की निवृत्ति ऐसे हो जाती है जैसे श्मशान से बान्धव जन निवृत्त हो जाते हैं—

पंचमाः शषसैर्युक्ता अन्तस्थैर्वापि संयुताः।
यमास्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादिव बान्धवाः॥ याज्ञवल्य-शिक्षा २२१

उदाहरणार्थ, 'रुक्म' और 'रुक्म्य' ये दो शब्द लीजिए। इन में से 'रुक्म' शब्द को लिखेंगे तो इसी रूप में ही, किन्तु इसका उच्चारण 'रुक्क्म' रूप में होगा, और इसमें यम 'क्' (अर्थात् जुड़वाँ 'क्क्') पूर्ववर्ती 'रु' के 'उ' स्वर का अंग बन जाता है, और इस प्रकार 'रुक्म' शब्द के उच्चारण 'रुक्क्म' का 'आक्षरिक विभाजन' (Syllabic

[४]

आइए, अब दोष-विषयक एक अन्य प्रसंग पर विचार करें, जिसपर 'संस्कृत के टीकाकारों—काव्यसमीक्षकों—ने सम्भवतः प्रकाश नहीं डाला।' काव्य में 'अतिशयोक्ति' एक आवश्यक तत्त्व है और इसी तत्त्व के ही कारण काव्य को 'लोकोक्ति'—कुन्तक के शब्दों में कहें तो, 'स्वभावोक्ति'—से पृथक् स्वीकार किया जाता है। इसी 'अतिशयोक्ति' नामक काव्य-तत्त्व को ही 'वक्रोक्ति' नाम भी दिया गया,[१] तथा जिस पर

---

division) करें तो 'रुक्क्' एक अक्षर (Syllable) है और 'म' दूसरा अक्षर है। यह स्मरण रहे कि यहाँ 'रुक्क्म' इस उच्चारण में 'क्क्' को द्वित्व न समझकर इससे काफ़ी कम समझना चाहिए। 'रुक्क्म' शब्द में 'रुक्क्' अक्षर का उच्चारण करते समय यह भी नहीं समझना चाहिए कि 'क्क्' व्यंजन अब स्वर-रहित हो गया। यह तो लिखने की परिपाटी मात्र है कि इसे 'क्क्' (अथवा 'क्क') लिखा जाता है, स्वर का अंश तो इसमें रहता ही है, विना स्वर के व्यंजन को वोल सकना संभव नहीं माना जाता।

किन्तु 'रुक्म्य' शब्द के उच्चारण में 'क्' का उच्चारण यम (जुड़वां) रूप में न होकर सामान्य रूप में होता है, और 'रुक्म्य' शब्द का आक्षरिक विभाजन इस प्रकार होगा—'रुक्' पहला अक्षर होगा और 'म्य' दूसरा अक्षर। परन्तु जैसा कि ऊपर कह आये हैं, यहां हमारा विवेच्य विषय यह नहीं है कि 'यम' का प्रयोग कहां होता है और कहां नहीं होता, वलिक यह है कि शिक्षाकार ने इस तथ्य को एक उपमा द्वारा समझाया है कि 'रुक्म्य' शब्द में 'क्' का यमत्व इस प्रकार लौट जाता है—'क्' वेचारा पूर्ववत् ऐसे खामोश-खामोश-सा उच्चरित होता है—जैसे 'श्मशान' से लौटते समय वान्धव जन गुमसुम से गुप-चुप वोलते चले आ रहे होते हैं।

१. इस सम्बन्ध में निम्नोक्त स्थल उद्धरणीय हैं—

(क) वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। का० अ० (भा०) १.३६

(ख) निमितत्तो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा॥ वही, २.८१

(ग) सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यो कोऽलंकारोऽनया विना॥ वही, २.८५

(घ) भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥ काव्यादर्श २.३६३

(ङ) अतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया। ध्वन्यालोक ३.३७ वृत्ति

[यहां 'अतिशयोक्ति', 'स्वभावोक्ति और 'वक्रोक्ति' शब्दों से तात्पर्य क्रमशः अतिशयोक्ति अलंकार, स्वभावोक्ति अलंकार और वक्रोक्ति अलंकार अभीष्ट नहीं हैं।]

'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' को प्रतिष्ठापित किया गया। सामान्य अथवा साधारण अथवा लौकिक वचन जब कल्पना के बल पर एक अन्य रूप धारण कर लेता है, तो वही कथन अतिशयोक्तिपूर्ण माना जाकर 'काव्य' कहाने लगता है—अतिशयोक्ति का मूल है कवि की कल्पना, भारतीय शब्दावली में कहें तो कवि की शक्ति, अर्थात् काव्य-निर्माण-सक्षम प्रज्ञा अथवा प्रतिभा। कल्पना के बल पर कवि सहृदय को काव्य के प्रति आकृष्ट करता है। उसमें सुरुचि जगाता है। उसे सामान्य लोक से ऊपर उठाकर कुछ क्षणों के लिए भाव-लोक में विचरण कराने में समर्थ होता है, पर कभी-कभी कवि कल्पना का आधार इतना अधिक ले लेता है कि सहृदय वर्ण्य विषय के प्रति आकृष्ट होने के स्थान पर उससे विमुख होने लगता है, उसकी सुरुचि को एक प्रकार की ठेस पहुँचती है।

यहां यह ध्यातव्य है कि संस्कृत के कवि की कल्पना-शक्ति राजा, नगरी, वनस्थली, तपोवन, प्रातः, सायं, निशा, ग्रीष्म, वसन्त आदि के वर्णन में अत्यन्त उर्वर हो उठी है। यही स्थिति रूप-सौन्दर्य, संयोग और वियोग शृंगार आदि वर्णनों की भी है, किन्तु जब वह ऐसे स्थलोंमें बने-बनाये साधनों का उपयोग अतिशयता से करने लगता है तो सहृदय के मन में कवि-कल्पना के प्रति अवहेलना-मूलक हास्य की उत्पत्ति होती है। इन साधनों में से एक साधन है—श्लेष, विरोधाभास, परिसंख्या, आदि अलंकारों अथवा अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का आधार-ग्रहण, तथा एक अन्य साधन है 'कवि-समय' का आधार-ग्रहण। कभी-कभी तो वह पौराणिक गाथा-संकेतों को भी उपमा अथवा उत्प्रेक्षा के माध्यम से अनुस्यूत कर देता है। कतिपय उदाहरण लीजिए—

—चन्द्रमा ने घने अन्धकार को चमकते-दमकते मूंगे के समान अपनी कला से इस तरह से दूर फेंक दिया, जैसे शूकरावतार भगवान् विष्णु ने अपने दांत से, जोकि सुवर्ण को काटने वाले अस्त्र के समान लोहित-वर्ण थे, पृथ्वी-मण्डल को उठा कर फेंक दिया था—

लेखया विमलविद्रुमभासा संततं तिमिरमिन्दुरुदासे।
द्रंष्ट्रया कनकटङ्कपिशङ्गचा मण्डलं भुव इवादिवराहः॥ किरात० ९.२१

—ब्रह्मा ने दमयन्ती के मुख के निर्माण के लिए चन्द्रमा का सार ले लिया, तभी तो उसमें छिद्र हो गया है और उसके मध्य में से आकाश की नीलिमा दिखायी देती है—[वस्तुतः यह कलंक नहीं है।]

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीर-खनी-ख-नीलिम॥ नैषधचरित २.२५

श्रीहर्ष शशिकलंक की कल्पना अन्यत्र इस प्रकार से भी करते हैं—राजा नल की

दिग्विजय-यात्राओं में जो धूलि-राशि समुद्र में जा गिरी थी, वह कीचड़ बन गयी, और जब समुद्र से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई तो यही कीचड़ कलंक-रूप में चन्द्रमा में विद्यमान है—

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूमञ्जिमः।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पंकीभवदंकतां विधौ॥ नैषधचरित १.८

एक अतिशयित कल्पना और लीजिए—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्॥

—शिशुपालवध ४.२०

[रैवातक पर्वत के इधर एक ओर सूर्य, फैली हुई किरणों के सहारे, उदित हो रहा है, तो उधर दूसरी ओर चन्द्रमा अस्त हो रहा है। इस प्रकार यह पर्वत उस हाथी के समान प्रतीत हो रहा है, जिसके दोनों ओर दो चमकते हुए घण्टे लटक रहे हों।[1]]

इसी प्रकार की दूरूह कल्पना का एक उदाहरण और लीजिए—पूर्ण चन्द्रमा की रात्रि में एक मदपायी व्यक्ति ने अपने चषक में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को देखा तो उससे बोला— हे चन्द्र! इससे पूर्व कि मैं तुम्हें अपनी प्रिया का मुख समझकर अपने दांतों से काट लूं, तुम यहां से चल दो। और यदि तुम न गये और मैंने काट लिया तो फिर तो तुम मेरे दांतों के चिह्नों से अंकित होकर अपनी प्रिया रोहणी को अपना चिह्नित मुख न दिखा सकने के भय से आकाश को भी नहीं जा सकोगे—

आश्वपेहि मम शीधुभाजनाद् यावदग्रदशनैर्न दश्यसे।
चन्द्र मद्दशनमण्डलांकितः खं न यास्यसि हि रोहिणीभयात्॥

—का० अ० सू० वृ० ३.२.८ वृत्ति

इस प्रकार के स्थलों में वामन ने समाधि नामक गुण माना है—**'अर्थदृष्टिः समाधिः,'** अर्थात् जहां पाठक को अर्थ के अवबोध के लिए चित की एकाग्रता की आवश्यकता पड़े, दूसरे शब्दों में कहें तो कवि की कल्पना को समझने के लिए उसे सिर धुनना पड़े। पर सच तो यह है कि सिर धुनने के बाद भी ऐसा अर्थ पल्ले पड़े कि जिस में 'काव्यसत्य' कवि की अतिरंजित कल्पना तथा निराधार अतिशयोक्ति के बल पर हास्यास्पद बन जाए तो ऐसे स्थलों को आदर्श काव्य नहीं कह सकते। उक्त

---

१. यहां यह ज्ञातव्य है कि के इस पद्य में उक्त कल्पना के बल पर संस्कृत के पण्डितों ने माघ को 'घण्टामाघ' कहना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु हमारे विचार में इस प्रकार की कल्पनाएँ आधुनिक पाठकों की रुचि के अनुकूल नहीं हैं।

पद्य की भी यही स्थिति है। वामन ने 'समाधि' अर्थगुण के दो भेद माने हैं—अयोनि और अन्यच्छाया-योनि। अयोनि से तात्पर्य है जहां कवि किसी अन्य के वर्णन से प्रेरित होकर अथवा स्फूर्ति पाकर नहीं, अपितु स्वयं अपनी नूतन कल्पना के बल पर किसी विषय को प्रकट करे। उक्त पद्य में वामनानुसार 'अयोनि' समाधि है, क्योंकि ऐसी कल्पना अन्यत्र शायद ही मिले।[1]

अस्तु! उक्त प्रकार की दुरूह और हास्यास्पद व्यंजना के द्योतक दो प्राकृत-पद्य लीजिए—

तइआ मह गंडत्थलणिमिअं दिट्ठिं ण णेसि अण्णत्तो।
एण्हि सच्चेअ अहं ते अ कवाला ण सा दिट्ठी॥ का० प्र० ३.१६

[तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टिः॥] संस्कृत-रूपान्तर

अर्थात्, उस समय मेरे कपोल पर गड़ायी हुई [अपनी] दृष्टि को कहीं और नहीं ले जा रहे थे। अब मैं वही हूं, मेरे कपोल भी वही हैं, किन्तु तुम्हारी वह [मेरे कपोल पर गड़ी रहने वाली] दृष्टि नहीं है।

इस कथन से बेचारी नायिका को यह कहना अभीष्ट है कि जब तक मेरी सखी मेरे साथ बैठी रही और उसका प्रतिबिम्ब मेरे कपोल पर पड़ता रहा, तब तक तुम उस प्रतिबिम्ब को देखने के लिए मेरे कपोल पर अपनी दृष्टि गड़ाये—जमाये—रहे, किन्तु ज्यों ही वह उठकर चली गयी, तूने मेरी ओर देखना छोड़ दिया। इससे यह द्योतित होता है कि तुम मेरे सौन्दर्य पर रीझकर नहीं, अपितु मेरी सखी के सौन्दर्य पर रीझकर मेरे कपोल को निरन्तर देखते चले जा रहे थे। कितनी दुरूह कल्पना है यह! नायिका के कपोल पर सखी का प्रतिबिम्ब पड़ना कि जिसे नायक निरन्तर देखे चला जा रहा है—कितनी हास्यास्पद अतिशयोक्ति है! चलिए इस अतिशयोक्ति को सह्य मान लेते हैं, किन्तु क्या इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि स्वयं नायिका का मुख-मण्डल सौन्दर्य की आभा से इतना अधिक दीप्त है कि दर्पण के समान किसी अन्य पदार्थ के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सकने में सक्षम है। जो हो, उक्त कल्पना सुरुचिपूर्ण प्रतीत नहीं होती।

विपरीअरए लच्छी बम्हं दट्ठूण णाहिकमलट्ठं।
हरिणो दाहिणणअणं रसाउला झत्ति ढक्केइ॥ का० प्र० ५.१३७

---

१. 'अन्यच्छायायोनि' से तात्पर्य है जो विषय अन्य कवियों की रचना पर आधारित होते हुए भी नूतन रूप ग्रहण कर ले।

[विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम् ।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति ॥] संस्कृत-रूपान्तर

[विपरीत-रति के समय लक्ष्मी ने विष्णु के नाभि-कमल पर स्थित ब्रह्मा को देखा तो रति-रस में डूबी उसने विष्णु के दाएं नेत्र को तुरन्त बन्द कर दिया ।]

विष्णु के नाभिकमल में ब्रह्मा जी रहते हैं । लक्ष्मी ने रति-विलास के समय जब यह देखा कि ब्रह्माजी उन दोनों को इस स्थिति में देख रहे हैं तो ब्रह्मा जी को वहां से अनुपस्थित करने का एक उपाय उसे सुझ गया । वह जानती थी कि विष्णु का दायां नेत्र सूर्य है तो उसने तुरन्त उनका यह नेत्र बन्द कर दिया । परिणाम यह हुआ कि उनका नाभिकमल संकुचित हो गया, और अब ब्रह्माजी उसमें बन्द हो गये—लक्ष्मी का यह उपाय सफल सिद्ध हो गया ।

होगा कभी समय ऐसा, जब ऐसे पद्यों से रसिक-समुदाय आह्लादित एवं चमत्कृत होता होगा । पर आज कितने लोग ऐसे होंगे जो इस तथ्य पर विश्वास करते हैं कि विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा जी उदित होते हैं, अथवा विष्णु का दायां नेत्र सूर्य है, और फिर यदि विश्वास करें भी तो उनमें से कितने ऐसे होंगे जो विपरीत-रति को काव्य का सुरुचिपूर्ण विषय मानेंगे । चलिए, वादि-तोष-न्याय से स्वीकार कर लेते हैं ऐसे प्रसंगों को भी काव्य का विषय बनाना सह्य होगा, पर इतनी दूर तक की कल्पना को तो शायद ही कोई पाठक सहृदयता के साथ स्वीकार करेगा कि नेत्र-रूपी सूर्य बन्द किया तो नाभिकमल संकुचित हो गया और नाभिकमल संकुचित हुआ तो ब्रह्मा जी आंखों से ओझल हो गये—इसे कहते हैं 'दूर की कौड़ी लाना ।' संस्कृत-साहित्य में अशिष्ट हास्य के और फूहड़ ठिठोली के ऐसे प्रसंग न जाने कितने मिल जाएंगे, जो कि आज के पाठक को रास नहीं आते ।

× × ×

अब श्लेष तथा इससे सम्बद्ध काव्य-तत्त्वों पर आधारित कल्पनाएं लीजिए—

अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः ।
सन्त्येके बहुलालापाः कवयः बालका इव ॥[1] नलचम्पू १.६

[अपरिपक्व (कच्चे) कवि शिशुओं के समान हैं । शिशु जब पग धरते हैं तो उनकी माताओं में उनके प्रति वात्सल्य उमड़ आता है, और उनके मुख से बहुत सी लार (बहु-

---

१. पद = चरण, शब्द । जननीराग = जननी-राग, जन-नीराग, बहुलालाप = बहु-लालाप, बहुल आलाप ।

लालाप) टपकती रहती है, और उधर कच्चे कवि भी जब पद-न्यास (शब्द-रचना) करते हैं तो वे जनों (पाठकों) में नीराग (नीरसता) का कारण बन जाते हैं, और वे व्यर्थ ही बहुत प्रकार के आलाप करते रहते हैं।]

वस्तुतः, इस प्रकार के स्थलों में श्लेष के माध्यम से प्रस्तुत किया गया सादृश्य पाठक में काव्य-चमत्कार के स्थान पर एक प्रकार की ऊबभरी वितृष्णा सी उत्पन्न कर जाता है।

अब बाणभट्ट-प्रणीत कादम्बरी में शुक द्वारा बोला गया यह 'आर्या' छन्द लीजिए, जिसमें श्लेष के माध्यम से स्तन-युगल और व्रती व्यक्ति में साम्य निर्दिष्ट करने की असफल चेष्टा की गयी है—

स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम्॥ कादम्बरी (कथामुख)

तोता राजा से बोला—आपकी शत्रु-स्त्रियों के स्तनयुगल मानो व्रत-पालन में लगे हुए हैं—जिस प्रकार व्रती व्यक्ति तीनों समय स्नान करता है, होमाग्नि के समीप रहता है, तथा 'विमुक्ताहार' रहता है, अर्थात् उपवास करता है, उसी प्रकार यह स्तन-युगल भी पतियों के विनाश के कारण उदित शोकाग्नि के समीप रहता है, निरन्तर बढ़ते हुए अश्रुओं से स्नात रहता है, तथा 'विमुक्त हार' रहता है, अर्थात् मौक्तिक माला का त्याग किये हुए है।[1]

देखा आपने, इस पद्य की द्व्यर्थकता क्या कभी सहृदय के मन में शत्रु-नारियों की दुर्दशा के प्रति—जो कि इस पद्य का वर्ण्य विषय है—करुणा का भाव जगा सकती है? या फिर, राजा के शौर्य के प्रति—जो कि इस पद्य का प्रकारान्तर से वर्ण्य विषय है—प्रशंसा के भाव जगा सकती हैं? शायद कभी कहीं। 'शायद' भी क्यों? कभी नहीं जगा सकती।

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम्।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु प्रविश्य हृदि स्थितः॥
—नैषध० ४. ११

[किसी के पैर में यदि छोटा-सा कांटा भी घुस जाए तो वह कितना दुःखदायी होता है? तो फिर, इस कोमलांगी दमयन्ती के हृदय में घुसा हुआ अवनिभृत् (पहाड़) उसे क्यों न दुःख देता?]

'हृदय में पहाड़ का घुस जाना' यह एक असम्भव बात है, लोक-विरुद्ध है,

१. देखिए पृष्ठ २७२

और यह कोई प्रचलित मुहावरा भी नहीं है कि इसे लाक्षणिक प्रयोग (रूढा लक्षणा) समझ लिया जाए। इस विरोध का परिहार यह है कि उसके हृदय में 'अवनिभृत्' (पृथ्वी-पालक राजा) ने प्रवेश किया हुआ था और वह उससे मिलने को आतुर थी। किन्तु इस प्रकार के काव्य-स्थलों से सहृदय के मन में दमयन्ती की वियोगावस्था का स्पष्ट चित्र नहीं उभरता—पाठक 'अवनिभृत्' इस श्लिष्ट शब्द के चमत्कार तक ही अपने आप को सीमित पाता है।

विरहिभिर्बहुमानमवापि यः स बहुलः खलु पक्ष इहाजनि।
तदमितिः सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथिः किममाकृता:॥

—नैषधचरित ४.६३

इस श्लोक का अभिप्राय लीजिए—चन्द्रमा विरहियों के लिए अति दुःखदायी होता है, अतः विरहीजन कृष्णपक्ष को बहुत मान देते हैं। तभी तो कृष्णपक्ष को 'बहुल' (बहु-मान-सम्पन्न) कहा जाता है। इस पक्ष में चन्द्रमा की कलाएं धीरे-धीरे घटती जाती हैं, और अन्ततः, एक रात्रि ऐसी आ जाती है कि सर्वत्र घोर अन्धकार छा जाता है और इस रात्रि के प्रति विरही जनों का मान (सत्कार) 'अमित' (सीमा-रहित) हो जाता है, क्या इसी कारण तो कृष्ण-पक्ष की अन्तिम तिथि का नाम 'अमा' नहीं पड़ गया ?

कल्पना का इतना अधिक आधार ग्रहण कर लेना कि काव्य का अर्थ समझने के लिए एक सुधी पाठक को भी कई-कई बार माथे पर हाथ रखना पड़े—सचमुच यह एक अनुपादेय स्थिति है।

× × ×

अब अन्य प्रकार के उदाहरण लीजिए, जिनमें विशिष्ट शब्दों के प्रयोग के आधार पर काव्यत्व उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है—

यत्र स्म मीयते ब्रह्म कैश्चित् कैश्चिन्न मीयते।
काले निमीयते सोमो न चाकाले प्रमीयते॥ सौन्दरनन्द १.१५

[हिमालय पर्वत पर कुछ ऋषि ब्रह्म-चिन्तन में लीन हैं, किन्तु कोई हिंसा नहीं करता। यहां समय पर सोम रस तो नापा जाता है, किन्तु किसी की अकाल-मृत्यु नहीं होती।]

संस्कृत काव्य-समीक्षक ऐसे स्थलों में परिसंख्या अलंकार मानता है। इसमें 'मीयते', 'मीयते', 'निमीयते' और 'प्रमीयते' शब्दों के प्रयोग से इस अलंकार की सृष्टि की गयी है। हमारे विचार में यहां इन शब्दों का एक-साथ प्रयोग ऐसा भी नहीं है कि पाठक की वाणी को कम से कम अनुप्रास का 'रस' तो दे दे, और जब पाठक इस श्लोक

के अर्थ को जान लेता है तो किसी प्रकार का काव्य-सौन्दर्य उसके पल्ले नहीं पड़ता—'ब्रह्म-चिन्तन' और 'हिंसा न करने' में तथा 'सोम रस मापने' और 'अकाल-मृत्यु न होने' में किसी प्रकार का साम्य अथवा वैषम्य होता तो भी शायद कोई बात बनती। अतः हमारी दृष्टि में ऐसी रचनाएं केवल मात्र विशिष्ट शब्द-प्रयोग के बल पर कवि के बाह्य कौशल की ही सूचक हैं, इन्हें पढ़कर पाठकों का मन तरंगित नहीं होता।

परिसंख्या-प्रयोग का एक प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए। राजा शूद्रक के शासनकाल में कहीं कोई अव्यवस्था नहीं थी। इसे बाणभट्ट ने परिसंख्या अलंकार के माध्यम से पर्याप्त सुन्दर रूप में वर्णित किया है इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु कुछ स्थल ऐसे भी होते हैं जिनमें सहृदय को कवि के शब्द-कौशल पर तो निस्सन्देह विस्मय होता है, पर वर्ण्य विषय के प्रति उसके मन में कोई आकर्षण उत्पन्न नहीं होता। निम्नोक्त पंक्तियों में केवल ऐसे ही स्थल प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

यस्मिंश्च राजनि × × × रतेषु केशग्रहाः, × × × छत्रेषु कनक-दण्डाः, करिषु मदविकाराः, चापेषु गुणच्छेदाः, × × × शशिकृपाणकवचेषु कलंकाः, साक्ष्यक्षेषु शून्या गृहाः, न प्रजानामासन्। (कादम्बरी, पूर्व-भाग, पृष्ठ १०)

राजा के [शासनकाल] में यदि कहीं केशों का पकड़ना था तो केवल रति-क्रिया में था, [न कि प्रजा-जनों में।] स्वर्ण का दण्ड (डण्डा) केवल [राजाओं के] छत्रों में था, [न कि प्रजा-जनों में, क्योंकि ये अपराध करते ही नहीं थे, अतः उन्हें स्वर्ण-दण्ड नहीं दिया जाता था।] गुणों का छेदन (रस्सियों का काटना) केवल धनुषों में था, [न कि प्रजाजनों में, क्योंकि ये गुण-विहीन नहीं थे।] कलंक शशि में था, तथा कलंक (जंग) कृपाणों और कवचों में लगता था, [प्रजाएं कलंक-विमुक्त थीं।] शून्यगृह चौपड़ आदि खेलों में थे [न कि प्रजाजनों में, क्योंकि उनके घर तो सदा धन-धान्य से भरे रहते थे।]

[५]

दोष-निर्देशन के अन्तर्गत कतिपय ऐसे पद्य भी प्रस्तुत कर देना अप्रासंगिक न होगा जिनमें कवि का लक्ष्य वर्णयोजना के बल पर चमत्कार उत्पन्न कर देना है। एक पद्य लीजिए—

स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययाययः।
ललौ लीलां ललोऽलोलः शशीशशिशुशीः शशन्॥ किरातार्जुनीय १५.५

ऐसे पद्यों का अर्थ टीकाओं के बिना निकाल पाना सरल नहीं है, और संभावना यह भी की जा सकती है कि इस प्रकार के पद्यों का अर्थ पहले-पहल स्वयं कवि ने ही अपने

पाठकों को बताया हो, और फिर गुरु-शिष्य-परम्परा अथवा किसी अन्य परम्परा से ये अर्थ प्रचलित रहे हों। ऐसे नीरस स्थल 'चित्रालंकार' के अन्तर्गत रखे जाते हैं। यमक अलंकार के उदाहरण-स्वरूप भी प्रायः ऐसे ही पद्य प्रस्तुत किये जाते हैं। मग़ज़पच्ची करने के बाद ऐसे पद्यों से जो अर्थ हाथ लगता है वह नितान्त सामान्य कोटि का, और प्रायः इतिवृत्तात्मक होता है। अब उक्त पद्य से भी बढ़कर भारवि का ही एक और पद्य लीजिए, जिसमें एक वर्ण 'न' के प्रयोग के बल पर काव्य-चमत्कार उत्पन्न करने की कृच्छ्र-साधना की गयी है—

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥ किरात० १५.१४

इसी प्रकार निम्नोक्त पद्य में भी उक्त स्थिति दर्शनीय है—

दाददो दुद्दुद्दादी दादादो दुददीददोः।
दुद्दादं ददते दुद्दे ददाददददोऽददः ॥ शिशुपालवध १९.११४

और निम्नोक्त पद्य में यमक की छटा दर्शनीय है पर साथ ही यह छटा पाठक की सहृदयता में व्याघात भी उत्पन्न कर देती है—

विकचवारिरुहं दधतं सरः सकलहंसगणं शुचि मानसम्।
शिवमगात्मजया च कृतेर्ष्यया सकलहं सगणं शुचिमानसम् ॥[1]
—किरातार्जुनीय ५.१३

किन्तु संस्कृत के जागरूक समीक्षकों ने इस प्रकार के प्रयोगों को गर्हित एवं रसविरोधी कहा है—

यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदोऽतिरसविरोधिन्यः।
अभिमानमात्रमेतद् गड्डरिकादिप्रवाहो वा ॥
—काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), पृष्ठ २५७

अर्थात्, यमक, चित्र आदि शब्दालंकार रस के अति विरोधी हैं। इनका प्रयोग कवि के अभिमान (बाह्याडम्बर-प्रियता) का सूचक है, अथवा भेड़चाल के समान है।

---

१. यह निर्मल जल-युक्त एक मानसरोवर तालाब को धारण करता है, जिसमें कमल खिले रहते हैं, और इसमें कलहंसों का या सम्पूर्ण जाति के हंसों का निवास है। [यह स्थल] किसी कारण से कुपित पार्वती के साथ, अपने प्रमथ आदि गणों के साथ, सम्पूर्ण अविद्याओं से वियुक्त अतएव शुद्धचित, शंकर जी को भी धारण करता है।

[६]

श्रृंगार को 'रसराज' माना गया है। कारण अनेक हैं। इसका विषय सर्वहृदय-संवेद्य है। इसका सम्बन्ध मनोजगत् के साथ सर्वाधिक है। मायामय संसार की रंगीनियों को काव्य के माध्यम से चित्रित करने का यही रस एकमात्र साधन है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से देखें तो इस रस के दोनों भेदों—संयोग और वियोग, (अथवा सम्भोग और विप्रलम्भ) के अनन्त तथा चित्र-विचित्र व्यापार हैं। इस रस के आलम्वन-विभाव के अन्तर्गत नायक और नायिका के भेदों की विस्तृत श्रृंखला, तथा वियोग श्रृंगार के पांच भेद, काम की दस (किन्हीं आचार्यों के मत में वारह) दशाएं आदि—ये सव इस रस की बहुविधता की द्योतक हैं। इस रस को अन्य रसों का जन्मदाता माना गया है। जन्मदाता न सही, परम्परा से तो यह सभी रसों के साथ, किसी-न-किसी रूप में—मित्र-रूप से न सही तो शत्रु-रूप से सही, अवश्य सम्वन्धित है। सभी स्थायिभाव तो इससे सम्वद्ध हैं ही, प्राय: सभी व्यभिचारिभाव भी इसके साथ सम्वद्ध हैं, ऐसी स्थिति किसी भी अन्य रस के साथ नहीं है। और, 'श्रृंगार' को रसराज मानने का इन सव कारणों से वढ़कर कारण एक और है—इसके आलम्वन-विभाव के दोनों पक्ष—नायक और नायिका परस्पर मित्र-रूप में रहते हैं, न कि वीर, रौद्र और भयानक रसों के समान शत्रु-रूप में, और न करुण, अद्भुत और शान्त रसों के समान उदासीन रूप में। काव्यशास्त्रीय पक्ष को अलग रखके देखें तो विश्व भर के काव्य का सर्वाधिक कलेवर श्रृंगार रस को को ही समर्पित हुआ है।[1] अस्तु !

किसी भी विपय का वर्णन अपनी सीमा में रहकर ही ग्राह्य, उपादेय एवं रंजक होता है। श्रृंगार रस की सीमा का उल्लंघन ग्राम्यता दोप माना गया है। संस्कृत के के काव्य-समीक्षक को **'कटिस्ते हरते मनः'** ('तेरी कटि मेरे मन का हरण करती है) में पदगत दोप दीखता है। 'कटि' पद ग्राम्य है। **'स्वपिहि त्वं समीपे मे स्वपिम्येवाधुना प्रिये'** ('प्रिये, अव मैं सोता हूं, तू भी मेरे साथ सो जा') अथवा **'कन्ये कामायमानं मां न त्वं कामयसे कथम्'** ('हे कन्ये ! काम से पीड़ित मुझ को तुम क्यों नहीं चाहती हो') आदि वाक्यों में उसे अर्थगत दोप दीखता है। और, यह सव उसे ठीक दीखता है। काव्य में ऐसे प्रयोग कुरुचि तथा भौंडेपन के द्योतक होते हैं। वह इन्हें सदोप, गर्हित एवं त्याज्य घोपित करता है।

इसी प्रकार संस्कृत काव्य-समीक्षक ने एक 'अश्लील' नामक दोप माना है, इसके तीन भेद माने हैं—व्रीडाव्यंजक, जुगुप्सा और अमंगल। उदाहरणार्थ—

---

१. विशेप विवरण के लिए देखिए 'भारतीय काव्यशास्त्र' पृष्ठ ३९१-३९३

'दृप्तारिविजये राजन् साधनं सुमहत्तव' ('हे राजन्! मदान्ध शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए तुम्हारी सेना बहुत बड़ी है') कथन में 'साधन' शब्द में व्रीडा-व्यंजक अश्लीलता है। 'साधन' शब्द का यहां अभीष्ट अर्थ तो 'सेना' है, किन्तु साथ ही यह शब्द शिश्नवाचक भी होने के कारण व्रीडा का द्योतक है।[1] इसी प्रकार **'प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि ते तदा'** (हे तन्वि, तेरे विनाश पर—चले जाने पर—'वायु धीरे-से बही'), यहां 'वायु' शब्द अपानवायु का वाचक होने के कारण जुगुप्सा-व्यंजक है, और 'विनाश' शब्द मरण का वाचक होने के कारण अमंगल-व्यंजक है।[1] अश्लीलता दोष के उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि आधुनिक काल में जिस अर्थच्छाया में 'अश्लील' शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसके अन्तर्गत व्रीडा-द्योतक अर्थ गृहीत होता है।

इस प्रकार हमने उपर्युक्त स्थलों के आधार पर देखा कि रति अथवा प्रणय का वर्णन एक विशिष्ट सीमा तक निस्सन्देह अति हृदयहारी होता है, किन्तु उससे बढ़ जाने पर 'ग्राम्यता' अथवा 'व्रीडा-व्यंजक अश्लील' दोष की सीमा में प्रवेश कर जाता है, और कभी-कभी तो इस से भी अधिक बढ़ जाने पर, हमारे विचार में, वह साहित्य की भव्य अट्टालिका से बहिष्करणीय होकर दुर्गन्धपूर्ण वीथियों में भटकने योग्य बन जाता है। किन्तु अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि संस्कृत-काव्य-समीक्षक ऐसे स्थलों को गर्हित एवं त्याज्य न मानकर इन्हें ध्वनि-काव्य अथवा गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के भेदोपभेदों के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत करता है। जैसे—

—हे सखि! तू धन्य है कि प्रिय के साथ होने पर भी और सुरत के समय भी तू नाना प्रकार की विश्वासयुक्त चापलूसी की मीठी-मीठी बातें कह लेती है। परन्तु हे सखियो! मेरी हालत तो यह है कि प्रिय के द्वारा नीवी की ओर हाथ बढ़ाते ही—मैं सौगन्ध खाकर कहती हूं कि—मुझे कुछ भी याद रहता हो।—

धन्याऽसि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि
विस्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥ का० प्र० ४.६१

यहां वक्त्री का वास्तविक अभिप्राय यह है कि हे सखि, तू तो अधन्य है कि सुरत-क्रीड़ा के समय प्रियतम से बातें करके क्रीड़ा का वास्तविक आनन्द खो बैठती है। वस्तुतः, धन्य

---

१. हमारे विचार में 'साधन' शब्द के प्रयोग में व्रीड़ा का द्योतन नहीं होता, क्योंकि इसका 'शिश्न' अर्थ बहुप्रचलित नहीं है। 'वायु' शब्द भी जुगुप्सा का द्योतक इतना अधिक नहीं है, जितना कि 'विनाश' शब्द 'अमंगल' का द्योतक है।

तो मैं ही हूं जो कि प्रेमलीला का वास्तविक आनन्द लूटती हुई सारी सुध-बुध खो बैठती हूं।

इस पद्य में व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य-रूप में प्रस्तुत हुआ है, और यह पद्य अलंकारध्वनि-काव्य का उदाहरण माना जाता है।

—प्रियतम ने अपनी दयिता के चंचल-नेत्रों वाले मुख का बलात् चुम्बन किया तो उसकी नीवी खुल पड़ी, और उसकी लज्जा के साथ ही साथ उसका अधोवस्त्र भी नितम्ब से खिसक पड़ा—

लोलदृष्टि वदनं दयितायाश्चुम्बति प्रियतमे रभसेन।
व्रीडया सह विनीवि नितम्बादंशुकं शिथिलतामुपपेदे।। किराता० ९.४७

अब एक प्रसिद्ध पद्य लीजिए—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥ का० प्र० ५.११६

भूरिश्रवा की पत्नी ने युद्धभूमि में अपने पति के कटे हुए हाथ को देखा तो विलाप कर उठी—यह वह हाथ है जो मेरी रशना को खींचता था, पीन स्तनों का मर्दन करता था, नाभि, ऊरु और जघन का स्पर्श करता था, तथा नीवी को खोल देता था।

कवि की दृष्टि में होता होगा कभी ऐसा भी युग, जब रानियां-महारानियां, युद्धभूमि में लाशों के बीच इस प्रकार के विलाप करने बैठ जाती होंगी। सचमुच इससे बढ़कर हृदयहीनता भला और क्या हो सकती है!

टीकाकारों ने इस पद्य में अपरांग-व्यंग्य नामक गुणीभूतव्यंग्य-काव्य माना है, क्योंकि इसमें शृंगार रस का वर्णन अन्ततः करुण रस का ही पोषण कर रहा है। पर इस सम्बन्ध में उल्लेख्य है कि काव्यशास्त्रीय नियम को यदि एक ओर रखकर देखें, तो ऐसी भी क्या करुणा जो कि इस प्रकार के अश्लीलता-पूर्ण दृश्यों से पुष्ट होती हो?

ऐसे ही फूहड़पन का एक अन्य उदाहरण किरातार्जुनीय से लीजिए—

विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतसः।
सखीव काञ्ची पयसा घनीकृता बभार वीतोच्चयबन्धमंशुकम्॥

—किरातार्जुनीय ८.५१

[नायक ने जलक्रीड़ा करते समय नायिका का हाथ पकड़ा ही था कि नायिका का मन काम से अभिभूत हो गया और उसका नीवी-बन्धन ढीला पड़ने लगा, किन्तु साथ ही,

करधनी ने, जो कि जल में डूबी रहने के कारण कुछ भारी हो गयी थी, उसके अंशुक को नीचे गिरने से ऐसे रोक लिया कि जैसे कोई सखी ठीक समय पर सहायता करने आ पहुँची हो।]

इस प्रकार के फूहड़ स्थल प्रख्यात एवं अप्रख्यात सभी कवियों की रचनाओं में अनेक रूपों में मिल जाते हैं। पर आश्चर्य तो इस बात का है कि काव्यशास्त्रियों ने अनेक काव्य-तत्त्वों के उदाहरण-स्वरूप इसी प्रकार के पद्यों को ही प्रस्तुत किया है। मम्मटाचार्य जैसे मर्मज्ञ आचार्य ने ध्वनि-काव्य के बहुत-से भेदोपभेदों के उदाहरण-स्वरूप ऐसे ही पद्य उद्धत किये हैं। सत्य तो यह है कि हमें तो **'शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनाद्···बाला चिरं चुम्बिता'** जैसा बहुचर्चित पद्य भी रुचिकर प्रतीत नहीं होता, जिसे कि मम्मट और विश्वनाथ ने संयोग शृंगार के उदाहरण-स्वरूप उद्धृत किया है।[1] इस पद्य में शास्त्रीय दृष्टि से तो हमें 'अगूढ़-व्यंग्यता' की 'बू' आती है—और सामान्य व्यवहार की दृष्टि से ऐसे लगता है कि किसी दम्पती के शय्या-प्रसंग को चोरी-छिपे देख-देख रस लेने वाला कोई अभद्र पुरुष भरी महफ़िल में उस दम्पती के 'चश्मदीद वाकआत्' की कलई खोलकर रख रहा है।[2] वस्तुतः, काव्य-रचना की अपनी मर्यादा होती है। जब हम लोक में हर नग्नता का वर्णन खुले-आम नहीं करते, केवल एक सीमित दायरे में ही करते हैं, अपितु कहना चाहिए, प्रायः केवल दो सम्बद्ध व्यक्तियों में ही—प्रेमी-युगल में ही—इस प्रकार की मौखिक 'चुहल' की जाती है, अथवा दो-चार मित्रों की सीमित गोष्ठी में ही कुछ इस प्रकार की बातें की जा सकती हैं, तो इन्हें काव्य में कैसे वर्णित कर सकते हैं? काव्य-रचना तो लोकवार्ता की अपेक्षा सूक्ष्म धरातल पर अवस्थित होती है। सुरुचिपूर्ण पाठक काव्य में 'यथार्थ' को झीने परदे की ओट से देखना चाहता है, उसे स्पष्टतः उघड़ा हुआ देख लेने पर उसकी परिष्कृत रुचि को एकदम ठेस पहुँचती है। काश! संस्कृत के काव्यशास्त्रियों और टीकाकारों ने इस दोष की ओर भी ध्यान दिया होता।

□□□

---

१. काव्यप्रकाश ४.३०, साहित्यदर्पण १म परि०

२. भरी बज़्म में राज़ की बात कह दी, बड़ा बे-अदब हूँ सज़ा चाहता हूँ।

१७ भारतीय काव्य-समीक्षा-पद्धति की दृष्टि से कालिदास के एक पद्य की समीक्षा

भारतीय काव्य-समीक्षा-पद्धति की दृष्टि से बहुविध समीक्षा-पद्धतियों के विवेचन-विश्लेपण के पश्चात् अब एक संस्कृत-पद्य की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है। इसके लिए हमने 'गाहन्ताम् महिषा:...' (अभिज्ञान० २.६) प्रसिद्ध पद्य चुना है, जिसे **वामन** ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में वैदर्भी रीति के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है, (का० सू० वृ० १. २. ११), क्योंकि इसमें उन्होंने शब्दगत दसों गुणों की स्थिति स्वीकार की है, और उक्त ग्रन्थ के टीकाकार **गोपेन्द्र त्रिपुरहरभूपाल** ने 'कामधेनु' नामक टीका में उक्त सभी गुणों का समन्वय दिखाया गया है कि इस पद्य के किस-किस स्थल में कौन-कौन-सा गुण है। संभवत: इनके बाद **राघवभट्ट** ने अपनी अर्थद्योतनिका टीका में इस पद्य की व्याख्या अत्यन्त विशद रूप में करते हुए मानो अधुनातन भाषावैज्ञानिक पद्धति का आधार ग्रहण किया है। पहले पद्य लीजिए—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृंगैर्मुहुस्ताडितम्,
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्तु।
विस्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले,
लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनु: ॥[1]

—अभिज्ञान० २.६, का० सू० वृ० १.२. ११

किन्हीं संस्करणों में तीसरा पाद इस प्रकार है—

विस्रब्धं कुरुतां वराहविततिर्मुस्ताक्षतिं पल्वले।

राजा दुष्यन्त कण्व मुनि के आश्रम में शकुन्तला पर मुग्ध हो गए तो सेनापति आदि द्वारा प्रोत्साहित करने पर भी मृगया के लिए जाने को उद्यत नहीं होते, और सेनापति से कहते हैं—

---

१. देखिए पृष्ठ २६८

'आज भैंसे सींगों से बार-बार आलोड़ित निपान[1] (अर्थात् कुँएं की समीपवर्ती तलैया) के जल में खूब डुबकी लगाएं।[2] मृगों का समूह वृक्षों की छाया में झुंड बांधकर बार-बार जुगाली करे। बड़े-बड़े शूकर छोटे तालाब के किनारे पर नागरमोथा नामक घास की जड़ें निश्चिन्त होकर खोदें [और खाएं]। और, प्रत्यञ्चा ढीली कर देने से आज हमारा यह धनुष भी विश्राम करे।

[१]

सर्वप्रथम गोपेन्द्र त्रिपुरहरभूपाल द्वारा इस पद्य में दसों शब्दगुणों का समन्वय लीजिए। उनके कथानुसार—

(१) छायाबद्धकदम्बकम्' तथा 'शिथिलज्याबन्धम्' इन दोनों स्थलों में **ओज गुण** है क्योंकि यहाँ बन्ध (रचना) की गाढ़ता है।[3] गोपेन्द्र० की इस पर टिप्पणी है कि जिस प्रकार सोने की शलाका का प्रत्येक अंग परस्पर निबद्ध (संश्लिष्ट) होता है उसी प्रकार बन्ध में भी सभी अक्षरों की निबिडता (संश्लिष्टा) को गाढ़ता कहते हैं। बन्ध की गाढ़ता अथवा ओज गुण वहाँ होता है जहाँ (क) संयुक्त अक्षर होते हैं, (ख) रेफशिरस्क—वर्गों के प्रथम-द्वितीय (र्क्ख), अथवा तृतीय-चतुर्थ (र्ग्घ), अथवा प्रथम (र्क), अथवा तृतीय (र्ग) वर्णों का संयोग होता है। (ग) जहां विसर्ग अथवा जिह्वामूलीय अथवा उपध्मानीय हों। (जैसे क्रमशः—बालकः करोति; बालक ᳵकरोति, बालकः पठति; (बालक) पठति)। (घ) पद के अन्त में गुरु वर्ण होते हैं। (ङ) समास-बद्धता होती है। उक्त सभी स्थितियों में गाढ़बन्ध अथवा ओजगुण की स्थिति क्रमशः अधिकाधिक माननी चाहिए।[4]

---

१. 'आहावस्तु निपानं स्याद् उपकूपजलाशये' इत्यमरः।

२. इस पर उक्त टीकाकार गोपेन्द्र० की यह टिप्पणी है कि—महिषा हि जलमवगाह्य दशतः शिरसि दंशाम् अपवारयितुं शृंगैर्मुहुस्ताडयन्ति इति स्वभावोक्तिः। (कामधेनु)। अर्थात्, महिष जल में गरदन तक डूबे हुए मुख पर डंक मारने वाले मक्खियों-मच्छरों के दंश को निवारित करने के लिए अपने सींगों को इधर-उधर मारते हैं, जिससे जल इनके सींगों से ताड़ित होता रहता है। इस प्रकार यहां स्वभावोक्ति अलंकार है।

३. (क) गाढ़बन्धत्वम् ओजः। (वामन)

(ख) इत्यत्र बन्धस्य गाढत्वाद् ओजः। (कामधेनु)

४. बन्धस्य पदरचनाया गाढत्वं कनकशलाकावयवघटनावन्निबिडत्वम्। तत्र

उक्त दोनों स्थलों—'छायाबद्धकदम्बकम्' तथा 'शिथिलज्याबन्धम्'—में संयुक्त वर्णों के कारण गाढ़बन्धता अथवा ओज गुण है।

(२) छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलम्' इन दोनों पदों में से पहले पद में 'द्ध', 'म्ब' इन संयुक्ताक्षरों के कारण गाढ़ता है, तो 'मृगकुलम्' में संयुक्ताक्षर के अभाव के कारण शैथिल्य है—और गाढ़ता और शैथिल्य के सम्प्लव के कारण यहां प्रसाद गुण है।[1] यह उल्लेख्य है कि गाढ़ता (ओज) का विपरीत भाव 'शैथिल्य' तो दोष है, पर 'गाढ़ता +शैथिल्य' प्रसाद गुण है—शायद इसलिए कि इस प्रकार के स्थलों को पढ़ते समय पाठक को वाणी का एक प्रकार का आस्वाद-सा प्राप्त होता है।[2]—ऐसे, जैसे 'मिठाई' खाने के बाद 'नमकीन' खाने का आनन्द आता है।

(३) 'महिषा निपान-सलिलम्' में मसृणता के कारण श्लेष गुण हैं। 'मसृणता'

हेतवः—संयुक्ताक्षरत्वं, निरन्तररेफशिरस्कैर्वर्गाणां प्रथमद्वितीयैस्तृतीयचतुर्थैः प्रथमैस्तृतीयैश्च संयोगः, विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः, गुर्वन्तता समासाश्च इत्येवमादयस्तरतमभावेनावस्थिताः। (कामधेनु)

यहां यह उल्लेख्य है कि ओज गुण का वामन-प्रस्तुत उदाहरण है—'विलुलितमकरन्दा मञ्जरीर्नर्तयन्ति,' क्योंकि 'मकरन्दाः' में 'न्द' संयुक्तवर्ण है, और 'नर्तयन्ति' में संयुक्त रेफशिरस्क 'त' (र्त) है। किन्तु यदि इस स्थल को निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत कर दें तो ओज गुण नहीं रहेगा—'विलुलितमधुधारा मञ्जरीर्लोलयन्ति', क्योंकि वामन के कथनानुसार 'मधुधाराः' और 'लोलयन्ति' में उक्त स्थिति नहीं है। किन्तु वामन की यह धारणा हमें अंशतः ही ठीक प्रतीत होती है—'मधुधाराः' में तो संयुक्त वर्णों के अभाव के कारण ओज गुण नहीं है, पर 'लोलयन्ति' में तो 'न्ति' में संयुक्त वर्ण है, पर न जाने वामन ने यहां ओज गुण क्यों नहीं माना—जबकि 'मकरन्दाः' में वे ओज गुण मानते हैं।

१. इत्यत्र बन्धस्य गाढत्वशैथिल्ययोः संप्लवात् प्रसादः। (कामधेनु)

२. प्रसाद गुण का वामन-प्रस्तुत उदाहरण है—व्रजति गगनं भल्लातक्याः फलेन सहोपमाम्। [आकाश नीलिमा में भल्लातकी (भिलावा) फल के साथ सदृशता को प्राप्त हो रहा है।] उक्त स्थल के दो भाग हैं—(क) 'व्रजति गगनं भल्लातक्याः' इस में संयुक्त वर्णों के कारण गाढ़-बन्ध है, तथा (ख) 'फलेन सहोपमाम्' में संयुक्त वर्णों के अभाव के कारण शिथिल बन्ध है। अतः यहां 'गाढता' और 'शिथिलता' के सम्प्लव के कारण प्रसाद गुण है।

से तात्पर्य है—जहां बहुत से पद भी एक-पद के समान भासित हों।[1] अर्थात् जहां व्यास (समास के अभाव) में भी समास के समान प्रतीति हो।[2] उक्त दोनों पदों में समास के अभाव में भी समास की-सी प्रतीति होती है।[3]

(४) **गाहन्ताम्'''अस्मद्धनुः**—इस समस्त पद्य में जिस मार्ग (शैली) से पद्य का आरम्भ हुआ है उसी शैली से ही पद्य की समाप्ति हुई है। अतः **समता गुण** है। इसका आशय यह है कि तीसरे पाद का उपर्युक्त पाठान्तर **'विस्रब्धं कुरुतां विराह-विततिर्मुस्ताक्षतिं पल्वले'**—स्वीकार करने पर चारों पाद कर्तृवाच्य में हैं।

(५) **'गाहन्तां महिषाः'**—यहाँ 'गाहन्ताम्' में यदि आरोह है तो 'महिषाः' में आरोह है। अतः **समाधि गुण** है। दीर्घ वर्णों से आगे ह्रस्व अक्षरों के प्राचुर्य को आरोह कहते हैं, और लघु आदि शिथिलप्राय वर्णों के प्राचुर्य को अवरोह कहते हैं।[4]

(६) **'शृंगैर्मुहुस्ताडितम्'** में पृथक्-पृथक् पदों (समासाभाव) के कारण **माधुर्य गुण** है।[5]

(७) **'रोमन्थमभ्यस्यतु'** में अजरठ (कोमल अर्थात् श्रुतिसुख) बन्ध होने के कारण **सौकुमार्य गुण** है।[6]

(८) **'शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः'** में बन्ध की विकटता के कारण **उदारता गुण** है। किसी रचना को सुनते समय ऐसा प्रतीत हो कि इसके पद नाच से रहे हैं—वर्णों के सम्बन्ध में श्रोताओं की इस प्रकार की लीलायमानता 'विकटता' अथवा

---

१. **मसृणत्वं श्लेषः।**
(मसृणत्वं नाम यस्मिन् सति बहूनि अपि पदानि एकवद् भासन्ते। (वामन)

२. **यत्र हि व्यासेऽपि समासवदसमास स श्लेषः।** (कामधेनु)

३. श्लेष का वामन-प्रस्तुत उदाहरण है—

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।'

इस पद्यांश में अनेक पद समास के अभाव के कारण अलग-अलग हैं, पर इसे पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि यह एक ही पद हो।

४. **दीर्घादगुर्वक्षरप्राचुर्ये आरोहः। लघ्वादिशिथिलप्रायत्वे चावरोह इति।** (कामधेनु)

५. **समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरमिति।** (कामधेनु)

६. **अजरठत्वं सौकुमार्यमिति। बन्धस्याजरठत्वं कोमलत्वं श्रुतिसुखत्वमिति यावत्।** (कामधेनु)

'उदारता' कहाती है।[1] गोपेन्द्र० के अनुसार उदारता से अभिप्राय है—क्रमपूर्वक अक्षरों और पदों का बढ़ते चले जाना। पद के प्रथम आदि अक्षरों की अगले पद के प्रथम आदि अक्षरों के साथ सदृशता होना।[2] उक्त स्थल में अक्षर नाचते-से—क्रम-पूर्वक आगे-आगे बढ़ते से—एक प्रकार की गति में बद्ध से—तो प्रतीत होते हैं, पर यहां हमें गोपेन्द्र० के अनुसार—'एक पद के अक्षर जिस क्रम से हों, उसी क्रम से दूसरे पद के अक्षर भी हों'—इस तथ्य की प्रतीति नहीं हुई—

। ।। S S । S S । S
शिथिल । ज्या । बन्धम् । अस्मद्धनुः ।

(९) इस पद्य में अर्थ की अभिव्यक्ति तुरन्त हो जाती है, अतः यहां **अर्थव्यक्ति गुण** है।

(१०) इस समस्त पद्य में सभी पद उज्ज्वल हैं—अतः यहां **कान्ति गुण** है। उज्ज्वलता से तात्पर्य है पुराणच्छाया (पुरानी नकल) का अभाव। गोपेन्द्र० के अनुसार 'पत्र' कहने के स्थान पर 'किसलय', 'जलधौ' के स्थान पर 'अधिजलधि', 'रात्रि' के स्थान पर 'रजनी', 'कमलमिव' के स्थान पर 'कमलायते' कहना, आदि, कान्ति गुण कहाता है।

यहां एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या स्वयं कालिदास को इस एक ही पद्य में—इसकी रचना करते समय, अथवा इसकी रचना हो जाने के पश्चात् —वामन-सम्मत उक्त सभी गुणों का (—यदि ये उसके समय में प्रचलित हों, तो—) समावेश अभीष्ट रहा होगा?—हमारा विश्वास है कि कदापि नहीं, क्योंकि कालिदास कवि थे, अतः उनका लक्ष्य किसी काव्यशास्त्रीय तत्त्व को लक्ष्य में रखकर किसी पद्य की रचना करना नहीं था, जैसा कि दण्डी ने 'काव्यादर्श' में, अथवा जयदेव ने 'चन्द्रालोक' में उदाहरणों की रचना इसी उद्देश्य से की है। महान् कवियों के आगे तो ये तत्त्व मानों हाथ बांधे चले आते हैं—**अलंकरणान्तराणि हि दुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति।** (ध्वन्यालोक २.१६ वृत्ति)

वामन-सम्मत 'वैदर्भी' रीति का लक्षण है—**'समग्रगुणा वैदर्भी'**, और इसी कारण वामन ने वैदर्भी रीति को श्रेष्ठ माना है कि इसमें दसों गुण विद्यमान होते हैं, जबकि गौडीया में दो गुण होते हैं—ओज और कान्ति, और पांचाली में भी दो गुण

---

१. बन्धस्य विकटत्वं यदसावुदारता। यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानि इति जनस्य वर्णभावना भवति तद्विकटत्वम्। लीलायमानत्वम् इत्यर्थः। (वामन)

२. विकटत्वमिति क्रमशो वर्धमानाक्षरपदत्वम्। पदप्रथमाद्यक्षराणां पदान्तरप्रथमाद्यक्षरैः सादृश्यं च। (कामधेनु)

होते हैं—माधुर्य और सौकुमार्य। किन्तु हमारा विचार है कि रीति-सिद्धान्त की बहुविध शिथिलताओं में से एक शिथिलता यह भी है कि 'वैदर्भी रीति' के उदाहरण मिल सकना असम्भव नहीं हैं, तो दुष्प्राप्य अवश्य हैं, और जो पद्य मिलेंगे भी, उनमें टीकाकार उपर्युक्त पद्य के समान खींचतान करने पर ही दसों गुणों को ढूंढ निकालेगा। अभी तो गोपेन्द्र० ने 'गाहन्ताम्···'पद्य में केवल शब्दगुण ही ढूंढे हैं, अर्थ-गुणों को ढूंढ निकालने का प्रयास नहीं किया—यदि वह यह प्रयास भी करते तो अधिक सम्भावना यही है कि इन्हें इसमें सभी अर्थगुण भी मिल जाते। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी गुणों को एकत्र केवल एक ही पद्य में—दिखाने के लिए दुरूह प्रक्रिया का आधार तो लेना पड़ता है, साथ ही, परस्पर-विरोधी अथवा परस्पर-विभिन्न गुणों को एक ही पद्य में दिखा देने से उस पद्य का काव्य-सौन्दर्य भी दोलायमान-सा प्रतीत होता है कि अमुक पद्यांश में तो ओज गुण है, किन्तु अमुक पद्यांश में प्रसाद गुण है, आदि। अस्तु! जो हो, हमारा यहां विवेच्य विषय यह नहीं है कि रीति-सिद्धान्त में शैथिल्य ढूंढा जाए, अपितु यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र में किसी रचना के पठनानन्तर उसके वाह्य स्वरूप को लक्ष्य में रखकर उसकी समीक्षा करने का एक ढंग उपरिनिर्दिष्ट भी रहा है, जिसे हम 'शैलीविज्ञान' का भारतीय रूप कह सकते हैं।

[२]

अब इस पद्य पर **राघवभट्ट**[1] की टिप्पणियां लीजिए, जिसे हम भारतीय 'शैली-विज्ञान' के आधार पर की गयी 'समीक्षा' कह सकते हैं—'अरने (जंगली भैंसे) **सींगों से बार-बार ताडित (उछाले हुए) तलैया के जल का आलोड़न करें'**—इससे कालिदास को महिषों के इस स्वभाव का उद्घाटन करना अभीष्ट है कि तलैया में स्थित भैंसे जब शिकार किये जाने के भय से विमुक्त हो जाते हैं तो अपने सींगों से बारी-बारी से जलताड़न करने लगते हैं। इसी प्रकार इस पद्य के अगले दो पादों में मृगों और शूकरों के स्वभाव के सम्बन्ध में भी ऐसी ही चर्चा की गयी है।[2]

—**छाया में कई झुण्ड बांधकर बैठा हुआ मृगकुल जुगाली करे**—इससे यह आभासित होता है कि जो बेचारे मृग भयत्रस्त होने के कारण सदा भागते रहते हैं, जो

---

१. इस प्रकरण में कुछ स्थानों पर नवकिशोर की 'किशोरकेलि' टीका से भी उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं, तथा इस तथ्य का यथास्थान संकेत कर दिया गया है।

२. **अनेन त्रासाभावात् प्रकृतिप्रत्यासत्तौ श्रृंगाभ्यां पर्यायेण जलताडनं महिषजाति-सक्ता एवमग्रिमयोरपि जातिकथनम् उन्नेयम्।**

(स्वभाव-वर्णन के कारण इस पद्य में अन्य अलंकारों के अतिरिक्त 'स्वभावोक्ति' अलंकार भी है। देखिए पृष्ठ ३३६)

ये भी नहीं जानते कि कभी आराम से बैठकर बातचीत भी की जाती है, और जिन्हें जुगाली करने का अवसर भी कभी-कभार ही मिल पाता होगा, अन्यथा भागते भी रहते हैं और खाते भी रहते हैं, वे अब धीरे-धीरे यह सीख जाएं कि आपस में कैसे दृढ़ परिचय प्राप्त किया जाता है।[1]

—छाया में अनेक कदम्ब (झुण्ड) बांधकर बैठे हुए मृगकुल—यहां 'कदम्ब' और 'कुल' दोनों शब्दों का प्रयोग करने का कारण यह है कि छाया के तले मृगों का एक झुण्ड नहीं है, अपितु अनेक झुण्ड हैं।[2]

—'वराह-पति' ('बड़े-बड़े शूकर') पद के प्रयोग से यह अभीष्ट है कि ऐसे ही भयंकर वन्य जन्तुओं का शिकार करने हम लोग निकलते हैं।[3]

—इन तीन प्रकार के पशुओं में वराह के साथ 'पति' (श्रेष्ठ) शब्द का प्रयोग क्यों किया है—वह इसलिए कि भैंसे आरम्भ में तो अपनी बहादुरी दिखाते हैं, पर अन्त में भीरु बन जाते हैं, और मृग तो स्वभाव से भीरु होते ही हैं, किन्तु वराह लौटकर फिर हमला करते हैं, तथा आक्रमण करने के विभिन्न तरीकों में निपुण होते हैं।[4]

—'विस्रब्धम्' ('विश्वासपूर्वक, निश्चिन्त होकर') पद का प्रयोग केवल शूकरों के साथ किया गया है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि महिष और मृग विश्वस्त और निश्चिन्त नहीं थे—वे भी थे, यह तो स्वतः स्पष्ट है, क्योंकि इस स्थिति में हुए बिना वे उपर्युक्त कार्य नहीं कर सकते। किन्तु यहां 'विस्रब्ध' पद का प्रयोग इसलिए किया गया है कि जैसे अश्व घास को ऊपर-ऊपर से ही चरते हैं, उसकी जड़ तक नहीं पहुंचते, वैसे शूकर नहीं करते—ये तो नागर-मोथा की जड़ को भी खोद-खोद कर खा रहे थे—जिसके लिए निश्चिन्तता का होना अत्यावश्यक है।[5]

---

१. परस्परवार्ताऽनभिज्ञानां पलायनपरायणानां रोमन्थो परिचितचर इवासीत् तस्येदानीं शिक्षाक्रमेण परिचयदार्ढ्यं भवतु इत्युक्तं भवति।

२. कदम्बानां बहुत्वात् कुलमत्र अन्यपदार्थः।

३. वराह-पतिभिः सूकरश्रेष्ठैः इत्यनेन तादृशानामस्मन्मृगयासंरम्भगोचरत्वमिति प्रकाश्यते।

४. आपातशौण्डाः परिणतिभीरवो महिषाः, स्वभावभीता मृगाः, वराहस्तु परावृत्तिचतुराः प्रकारकोविदश्च इति श्रेष्ठत्वम्।

५. पूर्ववाक्ययोर्विश्वासमन्तरेण तादृशं विशिष्टं कर्म कर्तुमेव न शक्यत इति तत्र विश्वासोऽर्थायतः। अत्र तुरगवदाद्यन्त-(दात-) घासग्रासन्यायेनापि मुस्ताक्षतिः संभवतीति विस्रब्धमित्युपात्तम्।

—'इदम्' पद के प्रयोग से यहां यह तथ्य आभासित होता है कि यह वह धनुष है जो कि अनेक प्रकार की दानव-सेना का विनाशक है। इस प्रकार 'इदम्' शब्द में वाच्यार्थ से इतर अर्थ का ग्रहण होने के कारण अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि है।[1]

—'अस्मद्धनुः शिथिलज्याबन्धं विश्रामं लभताम्' (हमारा यह धनुप शिथिल प्रत्यंचा वाला होकर विश्राम करे)—यहां 'अस्मद्' (हम) शब्द का प्रयोग खटकता है। जब राजा जानता है कि धनुप उसी का है तो फिर 'अस्मद्' शब्द का प्रयोग क्यों? तो इस दोप को दूर करने के लिए 'अस्मद्-धनुः' में 'षष्ठी तत्पुरुष' के स्थान पर 'अस्मत्' को 'पंचमी बहुवचनान्त' पृथक् पद के रूप में स्वीकार करना चाहिए कि यह धनुष अब हमारे पास से दूर ही रहे,[2] अर्थात् इसकी निष्क्रियता तभी संभव है जबकि वह राजा से दूर रहेगा।

—'अस्मद्धनुः' में नवकिशोरकर के अनुसार 'अस्मद्' शब्द से यह भी ध्वनित होता है कि राजा तभी विश्राम कर सकता है, जब वह धनुष को अपने-आप से अलग करके इसे विश्राम करने दे।[3]

—'अस्मद्धनुः' में नवकिशोरकर के अनुसार 'अस्मद्' से अभिप्रेत राजा है, जो कि चेतन है, और 'धनुः' अचेतन है। किन्तु यहां चेतन (राजा) को कर्ता न बनाकर अचेतन (धनुष) को कर्ता बनाया गया है। इस प्रकार अचेतन वस्तु में चेतनत्व के आरोप करने से काव्य में चारुता आ गयी है।[4]

—'विश्रामं लभतामिदं च···धनुः' में 'च' (और) पद का प्रयोग इस तथ्य का द्योतक है 'कि अब इस धनुष के विपय में भी जान लीजिए कि जब इस पर प्रत्यञ्चा

---

१. इदं नानाविध-दानव-सेनाविनाशित्वाद् अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यम्।

२. अत्र राजवचनेन धनुषः स्वसम्बन्धे ज्ञाते पुनः अस्माद् इति अवकररूपम् इति ये मन्यन्ते तैः पंचमीबहुवचनतया भिन्नपदत्वेन व्याख्येयम्। अस्मत्सकाशाद् विरतं भवतु इत्यर्थः। अतएवास्मद् इति बहुवचनमपि सबीजम्।

३. अस्मद्धनुरित्येन आत्मनः सर्वागस्वामित्वस्य जीवनरूपत्वं धनुषो ध्वन्यते, तस्मात् तस्य विश्रामाभावे सर्वमप्यंगं संशयितं स्याद् अतः तस्य विश्राम आवश्यकः। (किशोरकेलि-टीका)

४. अस्मदर्थस्य चेतनस्य तत्कर्तृत्वे युक्तोऽप्यचेतने धनुषि तत्कर्तृत्वारोपणं चारुत्वाऽऽवहनाय यदुक्तं व्यक्तिविवेकारैः "प्रकृतमपि यत्र हित्वाऽकर्तृकत्वं युष्मदर्थस्य चारुत्वायाऽन्यत्रारोप्येत गुणः स तु न दोप।" इति। (किशोरकेलि-टीका)

चढ़ायी जाती है तो तत्काल ही जंगली पशु भय-युक्त हो जाते हैं,[1] और जब इससे उतार ली जाती है तो ये तत्काल ही भय-मुक्त हो जाते हैं, और इसी प्रकर्ष के कारण ही **'अस्मत्'** पद में बहुवचन का प्रयोग सहेतुक है।

—दुष्यन्त शकुन्तला के वियोग में दुःखी है, किन्तु अन्य प्राणियुग्म तो वियोग-वश दुःखी न हों—इसी अभिप्राय से राजा ने उपर्युक्त कथन कहे हैं। **'महिषाः'**, **'मृग-कुलम्'** और **'वराहपतिभिः'** पदों से केवल 'पुंलिंग' अभीष्ट नहीं हैं, अपितु इन तीनों पदों में 'एकशेष समास' है। 'महिषाः' का विग्रह है—**'महिष्याश्च महिषाश्च'** (भैंसे और भैंसें), ये दोनों ही तालाब में थे, न कि केवल भैंसे। इसी प्रकार 'मृगकुल' पद का विग्रह है—**'मृग्यश्च मृगाश्च'**, (हिरनियां और हिरन) अथवा 'कुल' शब्द निम्नोक्त कोश-प्रमाण के आधार पर 'मिथुन' का वाची भी माना जा सकता है—**'कुलं जनपदे गृहे'**।[2] उक्त स्थिति 'वराहपतिभिः' की भी है।

—इतना ही नहीं, **'मुस्ता'** **'विश्रान्ति'**[3] और **'ज्या'**—इन शब्दों के स्त्री-लिंगवाची होने के कारण इन पर नायिका का आरोप किया जा सकता है, तथा **'मुस्ताक्षति'** में **'क्षति'** शब्द से 'नखक्षत, दन्त-क्षत' की व्यंजना होती है, और (**'छाया-बद्धकदम्बकम्'** में) **'आबद्ध'** शब्द से 'प्रेम' की व्यंजना होती है, क्योंकि 'आबन्ध' शब्द के कोश के आधार पर तीन अर्थ हैं—दृढ़बन्ध, प्रेम और आभूषण।[4]

---

१. चकारेण च इदमस्मद्वनुरारूढमवतीर्णं वा तदैव संरम्भगोचराणां भयविस्रम्भाविति कोऽपि प्रकर्षो व्यज्यते।

२. अन्यु ते राज्ञो नायिका-वियोगेन दुःखितस्याऽन्येषां तद्वियोगाद् दुःखं मा भवतु इत्यभिप्रायेण उक्तिरिति वदन्ति, तेषां महिष्यश्च महिषाश्च एकशेषेण, मृग्यश्च मृगाश्चेत्येकशेषेण, अथवा 'कुलं जनपदे गृहे' इति कोशान्मृगमिथुनाक्षेपकेण कुलशब्देन···।

३. राघवभट्ट के अनुसार 'विश्रामम्' पद अपाणनीय है, अतः वे इसके स्थान पर 'विश्रान्तिम्' पद का प्रयोग करने के पक्ष में हैं—**'विश्रामम्' इति अपाणनीयः पाठः। 'विश्रान्तिम्' इति पठनीयम्।** परन्तु नवकिशोरकर के अनुसार 'विश्राम' शब्द यद्यपि अपाणनीय है, तथापि अनेक कवियों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण ग्राह्य है—**यथोक्तं भट्टनारायणपादैः**—

'विश्रामस्यापशब्दत्वं वृत्त्युक्तं नाद्रियामहे।
मुरारिभवभूत्यादीनप्रमाणीकरोति कः॥' (किशोरकेलि-टीका)

४. मुस्ताविश्रान्तिज्यानां नायिकात्वारोपवशेन क्षतौ नखदन्तक्षतारोपेण। आबन्धो दृढबन्धे स्यात् प्रेमालंकारयोरपि इति कोशाद् आबन्धशब्दस्य स्नेहार्थत्वेनेति व्याख्येयम्।

अब इस पद्य में कुछ **अलंकारों** की चर्चा—प्रथम तीन पादों में महिष आदि के स्वभाव का वर्णन होने के कारण **स्वभावोक्ति** अलंकार है। सारे पद्य में 'गाहन्ताम्', 'अभ्यस्यतु', 'क्रियताम्' और 'लभताम्'—इन चार क्रियाओं के समुच्चय के कारण समुच्चय अलंकार है। राजा स्वयं तो कुछ भी कार्य नहीं कर रहा, फिर भी नानाविध क्रियाएं स्वतः सम्पन्न हो रही हैं—यह विरोध है। इसका परिहार यह है कि राजा की अकर्मण्यता से ही तो महिष आदि की अपनी-अपनी क्रियाएं उनमें स्वभाव-वश सम्पन्न हो सकी हैं—अतः यहां **विरोधाभास** अलंकार है। महिष आदि की क्रियाओं का हेतु है—धनुष की विश्रान्ति, किन्तु यह हेतु स्पष्टतः नहीं कहा गया; अतः यहां **काव्यलिंग** अलंकार व्यंग्य-रूप में है। धनुष से ज्या के उतरते ही महिष आदि की क्रियाएं होने लगी हैं—अतः **चपलातिशयोक्ति** अलंकार है।[1]

× × ×

इस प्रकार उपर्युक्त रूप से काव्य-सौन्दर्य-द्योतक ऊहापोह प्रस्तुत करते हुए भी राघव भट्ट ने इस पद्य में **भग्नप्रक्रम** दोष के बहुविध रूपों का निर्देश किया है—

इस पद्य के पहले, दूसरे और चौथे पादों में 'महिषाः', 'मृगकुलम्' और 'धनुः' ये तीनों कर्तृवाचक पद प्रथमा विभक्ति में प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु तीसरे पाद में 'वराह-पतिभिः' पद में कर्ता में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है, अतः यहां **'कारक-प्रक्रमभंग'** नामक दोष है,[2] और इस दोष को दूर करने के लिए 'क्रियताम्' के स्थान पर 'कुर्वन्तु' पद का प्रयोग करते हुए निम्नोक्त पाठ प्रस्तुत किया जा सकता है— **'कुर्वन्त्वस्तभियो वराहपतयो मुस्ताक्षतिं पल्वले।'** (वराह-पति निर्भय होकर तालाब में—अर्थात् तालाब के किनारे पर उगे—हुए नागरमोथा खोद-खोदकर खाएं।)[3]

---

१. **स्वभावोक्तिः पादत्रये। क्रिया-समुच्चयः सर्वस्मिन्। स्वस्याक्रियत्वाद् अन्येषां नानाक्रियाजननाद् विरोधः, वस्तु-स्वाभाव्यादाभासत्वम्। काव्यलिंगं व्यंग्यम्। कार्यकारणयोः समकालत्वेनोक्तेरतिशयोक्तिः।**

२. 'कारक-प्रक्रमभंग' से यहां' विभक्ति-प्रक्रमभंग' अभिप्रेत है।

३. काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उपर्युक्त 'कारक-(विभक्ति-) प्रक्रमभंग' दोष का निराकरण करने के उद्देश्य से निम्नोक्त पाठ प्रस्तुत किया है—**'विश्रब्धाः रचयन्तु शूकरवरा मुस्ताक्षतिं पल्वले'**। (का० प्र० ७.२५१, वृत्ति)। किन्तु इस पाठ से **'गाहन्ताम्', 'अभ्यस्यताम्', 'लभताम्'** क्रियाओं के साथ **'रचयन्तु'** क्रिया के कारण 'क्रियागत भग्नप्रक्रमता' दोष उत्पन्न हो गया है।

इस पद्य में चार क्रियाएं हैं। इनमें से **'गाहन्ताम्'** आत्मनेपद है, **'अभ्यस्यतु'** परस्मैपद है, **'क्रियताम्'** आत्मनेपद है और **'लभताम्'** आत्मनेपद है। किन्तु राघवभट्ट को क्रियाओं का यह क्रम खटकता है कि दूसरी क्रिया **'अभ्यस्यतु'** तो परस्मैपद है, है, और शेप तीन क्रियाएं आत्मनेपदी हैं। तीसरे पाद **'विश्रब्धं क्रियताम्···'** का उपर्युक्त पाठान्तर **'कुर्वन्त्वस्तभियो···'** कर देने से अब क्रियाएं इस प्रकार हो जाती हैं— आत्मनेपदी, परस्मैपदी, परस्मैपदी और आत्मनेपदी, और इस क्रम में राघवभट्ट को आरोह और अवरोह प्रतीत होता है—पहली आत्मनेपदी क्रिया (गाहन्ताम्) आरोहात्मक है, फिर परस्मैपदी क्रिया (अभ्यस्यतु) अवरोहात्मक है, फिर परस्मैपदी (कुर्वन्तु) अवरोहात्मक है, और अगली आत्मनेपदी क्रिया (क्रियताम्) आरोहात्मक है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि जैसे आरोह के बाद अवरोह कर चुकने के बाद फिर आरोह करने के लिए कुछ ज़रा-सा दुबकना अपेक्षित रहता है, इसी प्रकार यहां भी आत्मनेपदी (आरोहण) क्रिया के बाद परस्मैपदी (अवरोहण) क्रिया के प्रयुक्त कर चुकने के बाद एक और परस्मैपदी (अवरोहण) क्रिया प्रयुक्त की गयी है, जो कि अगली आत्मनेपदी (आरोहण) क्रिया के लिए आवश्यक है। यहां यह उल्लेख्य है कि आरोह और अवरोह का अथवा अवरोह और आरोह का क्रम वामन के अनुसार 'समाधि गुण' माना जाता है / **आरोहावरोहक्रमः समाधिः।** का० सू० वृ० ३.१.१३ (देखिए पृष्ठ ३३०)

किन्तु साथ ही, राघवभट्ट यह भी कहते हैं कि आत्मनेपदी अथवा परस्मैपदी धातुओं को किसी एक विशिष्ट क्रम में रखने या न रखने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। दुष्यन्त को महिषों, मृगों, शूकरों तथा धनुष की आशंसा में लोट् लकार का प्रयोग करना अभीष्ट था, और उन्होंने इसका निर्वहण **'गाहन्ताम्' 'अभ्यस्यतु', 'क्रियताम्'** (**'कुर्वन्तु'**) और **'लभताम्'** क्रियाओं के माध्यम से सम्यग् रूप से कर दिया है, इसलिए धातु आत्मनेपदी हो या परस्मैपदी—इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, अतः यह प्रक्रम-भंग का विषय है ही नहीं। जैसे कि बाल-रामायण के निम्नोक्त श्लोक में आत्मनेपदी अथवा परस्मैपदी धातुओं के प्रयोग-क्रम की कोई चिन्ता नहीं की गयी[2]—'भव' और 'धारय' ये दोनों परस्मैपदी है, 'दधीथाः' और 'कुरुत' आत्मनेपदी हैं, तो 'करोति' परस्मैपदी है—

---

१. ननु कारकप्रक्रमभंगे परिहृते सति प्रक्रम-भंगो नैव परिहृत इति चेत्,—मैवं वोचः। अनेन पाठेन सोऽपि परिहृत एव। यतः पूर्वमात्मनेपदं, पश्चात् परस्मैपदं, पुनः परस्मैपदं, पुनरात्मनेपदम् इत्यारोहावरोहरूपः क्रमोऽस्तु।

२. किंच महिषादिविषयतया आशंसालक्षणोऽर्थोऽभिप्रेतः कवेः। स च निर्व्यूढ एव कविनेति नायं प्रक्रमभंगदोषस्य विषयः। यथा (बालरामायणे)—'पृथ्वि स्थिरा भव···।' (इत्यत्र)।

पृथ्वि स्थिरा भव भुजंगम धारयैनां, त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः ।
दिक्कुञ्जराः कुरुत तत् त्रितये दिधीषा देवः करोति हरकार्मुकमाततत्यम् ॥

अब वचन और लिंग-विषयक क्रम को लीजिए (क) इस पद्य में **'महिषाः'** वहुवचन है तो **'मृगकुलम्'** एकवचन है, फिर **'वराहपतिभिः'** (अथवा उक्त संशोधित पाठ में **'वराहपतयः'** वहुवचन है तो 'धनुः' एकवचन है,[1] और यह क्रम ठीक ही है। इसी प्रकार (ख) यहां **'महिषाः'** और **'मृगकुलम्'** क्रमशः पुलिंग और नपुंसकलिंग है, तो **'वराहपतिभिः'** (अथवा **'वराहपतयः'**) और 'धनुः' क्रमशः पूर्ववत् पुलिंग और नपुंसकलिंग है ।[2] यह क्रम भी ठीक ही है।

किन्तु इस पद्य में **'विशेषण-प्रक्रमभंग'** दोष है—अन्तिम तीन पादों में क्रमशः **'मृगकुलम्'** का विशेषण **'छायाबद्धकदम्बकम्'** है, उपर्युक्त पाठान्तर स्वीकार कर लेने पर **'वराहपतयः'** का विशेषण **'अस्तभियः'** है, तथा 'धनुः' का विशेषण 'शिथिलज्या-बन्धम्' है, और ये तीनों विशेषण बहुव्रीहि समास में हैं, किन्तु प्रथम पाद में 'महिषाः' का विशेषण प्रस्तुत नहीं किया गया, अतः इस विशेषण-प्रक्रमभंग को दूर करने के लिए यह संशोधित पाठ स्वीकार करना चाहिए—**'गाहन्तां महिषा निपानसलिलं घ्नन्तो विषाणैर्मुहुः'** ।[3] अब इस संशोधित पाठ से 'सलिल' के विशेषण 'ताडितम्' के स्थान पर 'महिषाः' का विशेषण 'घ्नन्तः' हो जाएगा, और इससे पद्य में विशेषण-सम्बन्धी एकरूपता भी सम्पन्न हो जाएगी।

—इस पद्य में **'क्रम-प्रक्रमभंग'** (पदविषयक प्रक्रमभंग) भी लक्षित होता है, किन्तु राघवभट्ट इसे स्वीकार नहीं करते। इस विषय को समझने के लिए पहले दूसरा चरण लीजिए, जिसमें चार पद हैं—**'छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थम् अभ्यस्यतु ।'** यहां पहले कर्ता का विशेषण (छायाबद्धकदम्बम्) है, फिर कर्ता **(मृगकुलम्)** है; फिर कर्म **(रोमन्थम्)** है, और अन्त में क्रिया **(अभ्यस्यतु)** है। यह क्रम यथावत् है—'विशेषण' पहले होना चाहिए और 'विशेष्य' बाद में, जो कि यहां **'छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलम्'** में है। पहले कर्ता, फिर कर्म और फिर क्रिया होनी चाहिए—यहां भी ऐसा ही है—**'मृगकुलं रोमन्थम् अभ्यस्यतु ।'** किन्तु इस प्रकार के क्रम (कर्तृविशेषण, कर्ता, कर्म, क्रिया) का निर्वहण अन्य तीनों चरणों में नहीं किया गया। अतः इस पद्य में

---

१. एवं वचनप्रक्रमभंगोऽपि परिहृतो भवति । पूर्वं बहुवचनं, पुनरेकवचनं, पुनर्बहुवचनं, पुनरेकवचनम्, इत्येव क्रमः ।
२. एवं पुंनपुंसककर्तृनिर्देशात् लिंगक्रमभंगोऽपि परिहृतः ।
३. विशेषण-प्रक्रमभंगोऽपि 'घ्नन्तो विषाणैर्मुहुः' इति परिहृतो भवति ।

क्रमप्रक्रमभंग' दोष मानना चाहिए। किन्तु राघवभट्ट यहां यह दोष नहीं मानते। उनके कथनानुसार—उपर्युक्त क्रम (पहले कर्ता, फिर कर्म और फिर क्रिया) का भंग विधि-वाक्यों में ही सदोष होता है, अनुवाद-वाक्यों में नहीं होता। किन्तु प्रकृत पद्य 'विधि-वाक्य' न होकर 'अनुवाद-वाक्य' है।[1]

उनके इस कथन पर विचार करने से पहले उद्देश्य और विधेय को समझ लें। वाक्य के दो अंश होते हैं—उद्देश्य (अनुवाद्य) और विधेय। जिस प्राप्त अथवा सिद्ध वस्तु का अन्य धर्म से सम्बन्ध जोड़ने के लिए कथन किया जाता है वह **उद्देश्य** अथवा **अनुवाद्य** कहाता है, और जिस अप्राप्त धर्म का विधान किया जाता है, वह **विधेय** कहाता है। उदारणार्थ, **'बालकः पठति'** वाक्य में 'बालकः' प्राप्त अथवा सिद्ध वस्तु है, और इसका अन्य धर्म (पठति) से सम्बन्ध जोड़ने के लिए कथन किया गया है, अतः 'बालकः' उद्देश्य (अनुवाद्य) है। इस वाक्य में 'पठति' विधेय है, क्योंकि 'पठति' द्वारा 'पठन-कर्म' का, जो कि अप्राप्त धर्म है, विधान किया गया है। 'पठति' को इस अप्राप्त धर्म (पठन) का विधान-कर्ता इसलिए कहा गया है कि इसके स्थान पर 'गच्छति' का विधान भी हो सकता है। अस्तु! इस वाक्य में 'बालकः' उद्देश्य (अनुवाद्य) है, और 'पठति' विधेय है, किन्तु इसके विपरीत **'यः क्रियावान् स पण्डितः'** में 'क्रियावान्' उद्देश्य है, और 'पण्डित' विधेय है। **निष्कर्षतः, विधेय प्रधान होता है, और वक्ता को इसे ही निर्दिष्ट करना अभीष्ट होता है, और उद्देश्य (अनुवाद्य) अप्रधान होता है।** विधेय (प्रधान) और उद्देश्य (अप्रधान) की स्थिति केवल वाक्यों में नहीं होती, भाषा के अनेक अंगों में होती है। जहां समास-प्रयोग के कारण विधेय (प्रधान) को उद्देश्य (अप्रधान) बना दिया जाता है, वहां भारतीय काव्यशास्त्री 'अविमृष्टविधेयांश दोष स्वीकार करता करता है। जैसे—**स्वर्गग्रामटिका-विलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः।**' इस वाक्य में कवि को 'वृथात्व' को विधेय (प्रधान) रूप से निर्दिष्ट करना अभीष्ट है, पर यहां 'वृथा' पद समास-बद्ध हो जाने के कारण उद्देश्य (अप्रधान) हो गया है।[2]

अब राघवभट्ट का आशय लीजिए। **'गाहन्तां महिषा'**···'पद्य में माना कि इसके दूसरे पाद में पदों का क्रम उपर्युक्त रूप में यथावत् प्रस्तुत किया गया है (कर्तृ विशेषण, कर्ता, कर्म और क्रिया), और शेष पादों में यह पद-क्रम उक्त रूप से नहीं निभाया गया, पर राघवभट्ट के अनुसार इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि कवि को (अथवा वक्ता दुष्यन्त

---

१. **न चात्र द्वितीयचरण इव कर्तृविशेषणकर्तृ-कर्म-क्रिया-क्रमेण निबन्धाभावात् क्रमप्रक्रमभंग इति वाच्यम्। कर्त्रादि-व्यस्तत्वस्य विधिवाक्य एव दुष्टत्वान्नानुवादवाक्ये। प्रकृतस्य चानुवादवाक्यत्वात्।**

२. विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ ३०७-३०८

को) इन तीनों वाक्यों को विधि-रूप (प्रधान-रूप) में निर्दिष्ट करना अभीष्ट नहीं है, अनुवाद-रूप (अप्रधान-रूप) में ही निर्दिष्ट करना अभीष्ट है···**'प्रकृतस्य चानुवाद-वाक्यत्वात् ।'** सम्भवतः, इस कथन से राघवभट्ट का आशय यह है कि इस पद्य के चारों वाक्यों में दुष्यन्त स्वयं कार्य न करके महिषों, मृगों, वराहों और धनुष से उनके कार्य करा रहा है, अतः ये चारों वाक्य उद्देश्य-(अनुवाद-) वाक्य हैं, विधेय-वाक्य नहीं हैं। और इसी कारण उसे किसी भी वाक्य पर बल देना अभीष्ट नहीं है, अतः चारों वाक्य किसी भी क्रम से रख दिये गये हैं, और यह एक संयोग-मात्र है कि दूसरे पाद में निम्नोक्त क्रम प्रस्तुत हो गया है—कर्तृविशेषण, कर्ता, कर्म और क्रिया। परन्तु हमारा विचार है कि इस पद को छोड़कर शेष तीनों पादों में कालिदास ने कम-से-कम एक पद्धति का तो अवलम्बन किया ही है कि क्रिया को पहले स्थान दिया है—**'गाहन्ताम्, 'क्रियताम्'** (अथवा संशोधित पाठ के अनुसार **'कुर्वन्तु'**), और **'लभताम्'**। साथ ही, यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि पद्य-काव्य में छन्द के आग्रहवश किसी विशिष्ट पद-क्रम को निभा सकना प्रायः असम्भव हो जाता है।

—अब **विशेषण-क्रम-सम्बन्धी 'भंग'** को लीजिए। इस पद्य के पहले पाद में **'निपानसलिलम्,'** विशेष्य पहले है, और **'ताडितम्'** विशेषण बाद में। दूसरे पाद में **'छायाबद्धकदम्बकम्'** विशेषण पहले है और **'मृगकुलम्'** विशेष्य बाद में। तीसरे पाद में यदि उपर्युक्त संशोधित पाठ स्वीकार किया जाए तो **'अस्तभियः'** विशेषण पहले है, और **'वाराहपतयः'** विशेषण बाद में, तथा चौथे पाद में **'शिथिलज्यावन्धम्'** विशेषण पहले है तथा 'धनुः' विशेष्य बाद में। इस प्रकार केवल पहले पाद को छोड़कर शेष तीनों पादों में विशेषण पहले है, अतः यहां विशेषण-प्रक्रमभंगता दोष मानना चाहिए।

किन्तु राघवभट्ट इस दोष को भी नहीं मानते। उन्होंने महिमभट्ट की सात कारिकाएं[1] प्रस्तुत करते हुए यह मान्यता स्थिर की है कि वहिरंग विशेषण यदि विशेष्य से पहले न रखकर पीछे भी रख दिए जाएं तो इससे भी विशेष्य की विशिष्टता सूचित हो जाती है, इससे 'विशिष्टता' में कोई अन्तर नहीं पड़ता।[2] महिमभट्ट का आशय इस प्रकार है—विशेषण दो प्रकार के होते हैं—अन्तरंग और वहिरंग। धातु अथवा नाम से क्रमशः पूर्व और पश्चात् उपसर्ग और निपात का प्रयोग 'अन्तरंग विशेषण' कहाता है। जैसे 'प्रकरोति और सुपुरुष' 'इन दोनों पदों में विशेषण-द्योतक 'प्र' और 'सु' उपसर्ग क्रिया अथवा नाम से पहले प्रयुक्त हुई हैं, तथा इन्हें 'अन्तरंग विशेषण' कहा जाता है, क्योंकि इन्हें मूल पद से पृथक् नहीं कर सकते।[1] इसी प्रकार 'करोत्येव' तथा 'राम एव

---

१. विशेषणं हि द्विविधम्···अनौचित्यं प्रसज्यते ॥ व्यक्तिविवेक १.८०-९०

२. वहिरंगं (विशेषणं) तु व्यवहितमपि स्वां शक्तिं विशेष्योपदधाति एव।

तत्र गच्छति' में 'एव' निपात का प्रयोग 'करोति' और 'रामः' के बाद हुआ है, तथा इसे भी अन्तरंग विशेषण कहा जाता है, क्योंकि इसे भी हम मूल पद से दूर नहीं रख सकते। यदि उक्त वाक्य को 'रामः तत्र गच्छत्येव' इस रूप में परिवर्तित किया जाए तो 'एव' निपात 'राम के स्थान पर 'गच्छति' की ही विशिष्टता प्रकट करेगा। इसलिए उपसर्ग और निपात का प्रयोग अन्तरंग विशेषण कहाता है। किन्तु इसके विपरीत वहिरंग विशेषण इस प्रकार के होते हैं—'ताडितं निपानसलिलम्', 'शिथिल-ज्याबन्धं धनुः' आदि। ऐसे स्थलों में विशेषण आगे या पीछे कहीं भी आ सकता है। यही स्थिति उक्त पद्य की भी है। अतः यहां 'विशेषण-प्रकम-भंगता दोष नहीं है। वस्तुतः पद्यों में छन्द के आग्रहवश विशेषण को सर्वत्र विशेष्य से पूर्व रख सकना सम्भव नहीं हो पाता।

[३]

इस प्रकार हमने देखा कि संस्कृत-काव्य के समर्थ समीक्षक किसी स्थल की समीक्षा करते समय उसके प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक पद और साथ ही कहीं-कहीं वर्णों का भी विविध दृष्टियों से अनुशीलन, परीक्षण एवं सन्तोलन करते हुए, तथा उनकी पौर्वापर्य स्थिति के औचित्य को ध्यान में रखते हुए मानो अधुनातन शैलीविज्ञान आयामों का विविध आधार ग्रहण किया है। जो हो, प्राचीन भारतीय टीकाकारों द्वारा तो इस नूतन समीक्षा पद्धति से प्रभावित होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, इधर आधुनिक शैलीवैज्ञानिक भी इन टीकाकारों से किसी भी रूप में प्रभावित नहीं हैं। यदि इन दोनों प्रकार के समीक्षकों में कहीं किसी प्रकार का साम्य लक्षित होता है, तो इसका एकमात्र कारण है मानव-मन का ऐक्य। और इसी कारण मानव-जाति विभिन्न क्षेत्रों, विषयों और शास्त्रों में प्रायः एकसमान निष्कर्षों पर पहुँचाती आयी है—यह अलग बात है कि कोई मानव-वर्ग किसी निष्कर्ष पर पहले पहुंचा है, और कोई बाद में। किन्तु साथ ही, यह भी उल्लेख्य है कि यह सदा आवश्यक नहीं होता कि किसी एक विषय के चिन्तक-गण उस विषय के एक ही प्रकार के पक्षों पर विचार करें, और यदि करें भी तो—वे सदा सदा एक-समान ही निष्कर्षों पर पहुंचें—उनके निष्कर्ष कभी अन्यथा-रूप में हो सकते हैं, कभी विलोम रूप में तो कभी नितान्त विपरीत रूप में।

□□□

---

१. यद्यपि वैदिक संस्कृत में यह स्थिति नहीं होती। इसमें उपसर्गों का प्रयोग पहले, बाद में, पर्याप्त दूर और पृथक् भी होता है। जैसे—

—वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रम्। ऋग्० १०.७३.११

—उद्वेति प्रसवीता जनानाम। ऋग्० ७.६३.२

१८. काव्य-सृजन की प्रक्रिया : कवि, पाठक और समीक्षक का पारस्पारिक सम्बन्ध

समीक्षक समीक्षण-कार्य करते समय कवि के मन की थाह भी लेता चलता है, और उसका प्रयास यह रहता है कि वह कवि के भावों के अनुरूप ही भावों का अनुभव अपने पाठकों को कराए।—और इसी प्रक्रिया के साथ—सीधे रूप से तो नहीं, पर विलोम रूप से—एक और समस्या जुड़ी हुई है कि काव्य का सृजन[1] करते समय कवि की स्थिति किस प्रकार की होती है। सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि समीक्षण-कार्य करते समय समीक्षक का ध्यान कवि की रचना-प्रक्रिया पर नहीं जाता। उसे यह ज्ञात करने की आवश्यकता ही नही रहती कि रचना करते समय कवि की मनःस्थिति कैसी रही होगी—उसे तो बस 'रचित' रचना से ही आस्वादन प्राप्त करने के बाद उसका समीक्षण करना होता है, पर वास्तविक स्थिति यह नहीं है। माना कि बाह्य रूप से वह कवि की रचना से ही जुड़ा होता है, पर आन्तरिक रूप से वह कवि के हृदय से भी जुड़ा होता है—वह उसकी अनुभूतियों को समझ-परख रहा होता है, उसके मानसिक सुख-दुःख और राग-विराग की थाह पा रहा होता है, और इसी स्थिति के साथ-ही-साथ समीक्षक के मन में यह प्रक्रिया भी प्रकारान्तर से सम्बद्ध रहती है कि रचना करते समय कवि की मनःस्थिति किस प्रकार की रही होगी, तभी वह किसी कवि के सम्बन्ध में इस प्रकार के निर्णय दे पाने में समर्थ होता है कि वह किन-किन प्रसंगों में भाव-प्रवण हो उठा है और उसकी भाव-प्रवणता रचना में कितनी सीमा तक सार्थक सिद्ध हुई है, अथवा वह किसी अन्य कवि के सम्बन्ध में यह निर्णय देता है कि यह एक सामान्य कोटि का कवि है, जो मात्र घटना को ही लेखनी के बल पर प्रकट करना जानता है, मार्मिकता के क्षणों को वह अपनी कल्पना और अपने कवित्व-कौशल के बल पर उभार सकने में समर्थ नहीं हो पाता। अस्तु ! अब आइए, भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से काव्य-सृजन की प्रक्रिया जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार-विमर्श करें।

---

१. संस्कृत में 'सर्जन' शब्द है, किन्तु हिन्दी में 'सृजन' प्रचलित हो गया है।

[१]

भारतीय काव्यशास्त्र में 'काव्य-सृजन' की प्रक्रिया के सम्बन्ध में विवेचन एक-साथ नहीं मिलता। हाँ, काव्यहेतु-प्रसंग के अन्तर्गत शक्ति अथवा प्रतिभा से सम्बन्धित विवेचन से विशेषतः, और काव्यप्रयोजन-प्रसंग तथा अन्य स्थलों से सामान्यतः, काव्य-सृजन की प्रक्रिया पर प्रकारान्तर से प्रकाश पड़ जाता है।

पहले काव्यहेतु-प्रसंग लीजिए। सर्वप्रथम भामह ने 'प्रतिभा' को काव्य का हेतु माना,[1] तथा साथ ही कवि से यह अपेक्षा रखी कि वह विभिन्न शास्त्रों का ज्ञाता हो।[2] भामह के बाद दण्डी ने तीन काव्य-हेतु माने—नैसर्गिक प्रतिभा, निर्मल शास्त्रज्ञान और अमन्द अभियोग (अभ्यास),[3] तथा रुद्रट और कुन्तक ने भी विभिन्न नामों से यही तीन काव्य-हेतु स्वीकार किये—शक्तिव्युत्पत्ति और अभ्यास। वामन ने भी तीन हेतु गिनाये—लोक (लोक-व्यवहार-ज्ञान), विद्या (विभिन्न शास्त्रज्ञान), और प्रकीर्ण। 'प्रकीर्ण' के अन्तर्गत उन्होंने छह हेतुओं को सम्मिलित किया—लक्ष्यज्ञता (काव्यों का अनुशीलन), अभियोग (अभ्यास) वृद्धसेवा (गुरु द्वारा शिक्षा-प्राप्ति), अवेक्षण (उपयुक्त शब्दों का चयन), प्रतिभान (प्रतिभा) और अवधान (चित्त की एकाग्रता)।[5] इस प्रकार वामन के अनुसार आठ काव्य हेतु हुए। सारग्राही मम्मट ने उपर्युक्त सभी काव्यहेतुओं को निम्नोक्त कारिका में प्रस्तुत किया है—

शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ का०प्र० १.३

अर्थात् (१) शक्ति, (२) लोक, काव्य, काव्यशास्त्र, व्याकरण आदि के अवेक्षण के द्वारा प्राप्त निपुणता, तथा (३) काव्य के मर्मज्ञ व्यक्तियों से प्राप्त शिक्षा के द्वारा अभ्यास—इन तीनों का समन्वित रूप—काव्य-रचना का हेतु है। स्पष्ट है कि मम्मट ने इन तीन काव्य-हेतुओं में पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा सम्मत सभी काव्य-हेतुओं को समाविष्ट कर दिया है, तथा इन तीनों की सत्ता को पृथक्-पृथक् स्वीकार न करते हुए इनके समन्वित रूप को ही काव्य का 'हेतु' माना है—हेतुर्न तु हेतवः।

---

१. गुरूपदेशादध्येतु शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः। का०अ० (भामह) १.५

२. काव्यालंकार (भामह) १.९,१०

३. काव्यादर्श १.१०३

४. (क) काव्यालंकार (रुद्रट) १.४ (ख) वक्रोक्तिजीवित १. २४ वृत्ति

५. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १.३.१,१.३.११

अब काव्य-सृजन की पृष्ठभूमि में प्रतिभा पर प्रकाश डालना अपेक्षित है। शक्ति अथवा प्रतिभा के स्वरूप-विवेचन में विभिन्न काव्याचार्यों द्वारा प्रस्तुत निम्न परिभाषाएं अवेक्षणीय हैं—

रुद्रट—जिसके बल पर कवि अपने एकाग्र मन में विस्फुरित विभिन्न अभिधेय (वर्ण्य विषय) को अनुकूल शब्दों में अनायास अभिव्यक्त करता जाता है, उसे शक्ति (प्रतिभा) कहते हैं।[1]

भट्ट तौत—[वर्ण्य विषय को] नये-नये [रूपों] में उद्घाटित करने वाली प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं—**प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।**

अभिनवगुप्त—अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं—**प्रतिभाऽपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा।**

मम्मट—कवित्व-निर्माण के बीज-रूप विशिष्ट संस्कार को शक्ति कहते हैं—**शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः।** (काव्यप्रकाश १.३ वृत्ति)

जगन्नाथ—काव्य की रचना के अनुकूल शब्दार्थ को प्रस्तुत कर देने की क्षमता प्रतिभा कहाती है—**सा (प्रतिभा) काव्यघटनाऽनुकूलशब्दार्थोपस्थितिः।** (रसगंगाधर, १म अ०, पृष्ठ ६)

उक्त सभी परिभाषाओं का निष्कर्ष यह है कि काव्य-रचना के समय कवि वर्णनीय विषय को अपनी कल्पना-शक्ति के बल पर उसके अनुकूल शब्दार्थ के माध्यम से इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि वह पाठक के लिए हृदयहारी बन जाता है—और यह सब कर सकने की क्षमता—राजशेखर के शब्दों में—कवि की 'कारयित्री' प्रतिभा में होती है,[2] रुद्रट ने इसे 'सहजा प्रतिभा' कहा है,[3] और कारयित्री अथवा सहजा प्रतिभा को हम संक्षेप में 'प्रतिभा' कह देते हैं।

---

१. देखिए पृष्ठ ३५१ '**मनसि सदा**…'

२. राजशेखर के अनुसार प्रतिभा दो प्रकार की होती है—कारयित्री (Creative) और भावयित्री (Contemplative)। सहृदय में केवल भावयित्री प्रतिभा होती है, जिसके आधार पर वह काव्य का आस्वाद प्राप्त करता है, और कवि में दोनों प्रतिभाएं होती हैं—सहृदय-रूप में वह काव्यास्वाद प्राप्त करता है तो कवि-रूप में काव्य का निर्माण करता है।

३. रुद्रट ने प्रतिभा के दो रूप किये हैं—सहजा और उत्पाद्या। उत्पाद्या प्रतिभा से इनका तात्पर्य है—व्युत्पत्ति और अभ्यास से 'उत्पन्ना' अथवा 'पोष्या' प्रतिभा।

काव्य-रचना करते समय प्रतिभा ही कवि का एक मात्र संवल होती है। केवल व्युत्पत्ति अथवा केवल अभ्यास अथवा केवल इन दोनों के बल पर काव्य-रचना सम्भव नहीं हैं। छन्दःशास्त्र से आधार पर किसी इतिवृत्तात्मक कथन को पद्य में बांध देने मात्र से वह रचना 'काव्य' नहीं कहाती, और न ही उस पद्य में किसी अलंकार अथवा गुण के समावेश से उसे काव्य कहेंगे। प्रतिभा के अभाव में केवल 'अभ्यास' को भी काव्य-हेतु मानना संगत नहीं है,[1] क्योंकि विश्व में ऐसे अनेक कवि हैं जिनकी पहली रचना ही अमर हो गयी है। वाल्मीकि का प्रथम श्लोक **'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः...'** इस तथ्य का सबल प्रमाण हैं। दण्डी ने यों तो उक्त तीन काव्य-हेतु माने, तथा साथ थी यह भी संकेत किया है कि 'प्रतिभा के अभाव में श्रुत (शास्त्र) और यत्न (अभ्यास) के द्वारा उपासिता सरस्वती किसी-किसी पर अनुग्रह कर ही देती है,'[2] पर उनके इस कथन का ही मानो आनन्दवर्धन ने खण्डन करते हुए कहा है कि 'किसी रचना में कवि की शक्ति (प्रतिभा) के अभाव से जन्य दोष तो तुरन्त और अनायास ही स्पष्ट रूप से दिखायी दे जाता है, पर व्युत्पत्ति के अभाव से जन्य दोष को कवि की प्रतिभा आच्छादित कर देती है।'[3] दूसरे शब्दों में, व्युत्पत्ति में अशक्ति-जन्य दोष को आच्छादित करने की क्षमता नहीं है। अतः प्रतिभा (शक्ति) ही काव्य-रचना का अनिवार्य हेतु हैं।

काव्य-रचना करते समय प्रतिभा के अतिरिक्त व्युत्पत्ति और अभ्यास की क्या स्थिति रहती है?—मम्मट ने प्रतिभा को कवित्व का वीज स्वीकार करते हुए भी शेष दोनों की अनिवार्यता की ओर भी स्पष्ट संकेत किया है—हेतुर्न तु हेतवः, और इस मान्यता की पुष्टि जयदेव ने इस प्रकार से की है कि 'जिस प्रकार लता की उत्पत्ति का हेतु मिट्टी और जल से युक्त वीज है, उसी प्रकार काव्य-रचना का कारण व्युत्पत्ति और अभ्यास से युक्त प्रतिभा है।'[4] किन्तु वस्तुतः, जयदेव का यह उदाहरण सुघटित

---

१. राजशेखर के अनुसार मंगल नामक किसी आचार्य ने केवल अभ्यास को काव्यहेतु माना है—'अभ्यास इति मंगलः।'

२. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुवन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिताऽपि करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥ का० आ० १.१०४

३. अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवाऽवभासते॥ ध्वन्या० ३.६ वृत्ति

४. प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धवीजोत्पत्तिर्लतामिव॥ चन्द्रालोक १.६

एवं सटीक नहीं है, क्योंकि केवल प्रतिभा के बल पर, व्युत्पत्ति के अभाव में भी—अशिक्षित ग्रामीणों द्वारा—सुन्दर एवं कल्पना-पुष्ट ग्राम्य-गीतों की रचना की जाती है, तथा अभ्यास के अभाव में भी वाल्मीकि का प्रथम पद्य काव्य का सुन्दर उदाहरण माना जाता है। इस विवाद को मानो समाप्त करने की चेष्टा करते हुए हेमचन्द्र तथा कुछ अन्य आचार्यों ने प्रतिभा को तो काव्य का एक मात्र हेतु माना और व्युत्पत्ति और अभ्यास को—काव्य का नहीं—प्रतिभा' का परिष्कारक हेतु माना—**'प्रतिभाऽस्य हेतुः, व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या।'** (काव्यानुशासन, पृष्ठ ६), और वस्तुतः यही स्थिति ही मान्य है। कवि अपनी कल्पना के बल पर (जो कि प्रतिभा का एक अंग है) वर्ण्य वस्तु को नये-नये रूपों में प्रकट करते हैं, किन्तु साथ ही साथ, उनके द्वारा पूर्वपठित काव्य, शास्त्र आदि उनकी सहायता करते चलते हैं, और यदि वह किसी श्रेष्ठ कवि अथवा काव्य के मर्मज्ञ विद्वान् से अपनी रचना की परख कराता रहता है, तो उसकी कविता में उत्तरोत्तर निखार आता रहता है—यह ठीक ही है, पर व्युत्पत्ति और अभ्यास के अभाव में भी केवल प्रतिभा के आधार पर, काव्य की रचना होना नितान्त सम्भव है।

[२]

क्या सभी कवियों की प्रतिभा एक सी होती है—उत्तर स्पष्ट है कि नहीं, अन्यथा सभी कवियों और उनके काव्यों में समानता होती। किसी एक आशय अथवा कथानक को लक्ष्य में रखकर विभिन्न कवियों की रचनाओं में जो स्पष्ट अन्तर दिखायी देता है, उसका मूल कारण प्रतिभा का तारतम्य ही है। इस कथन की पुष्टि में दो पद्य लीजिए, जिनमें 'लज्जा' ('अवहित्था') का वर्णन किया गया है—

कृते वरकथालापे कुमार्यः पुलकोद्गमैः।
सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जावनताननाः॥ ध्वन्यलोक ५.५ (वृत्ति)

अर्थात् वर की चर्चा के अवसर पर मुख नीचा किए हुए कुमारियां पुलकों के उद्गम से आन्तरिक इच्छा को सूचित करती हैं।

—एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥ कुमारसंभव ६.८४

अर्थात्, देवर्षि (सप्तमण्डल) के ऐसा कहने पर [कि पार्वती का विवाह शिव के साथ कर दिया जाए] पिता [हिमालय] के पास बैठी पार्वती मुंह नीचा करके मानों खेल-खेल में कमल की पंखुड़ियां गिनने लगी।

उक्त दोनों पद्यों में दूसरा पद्य निस्सन्देह अपेक्षाकृत कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण एवं सरस है।

कुन्तक के कथनानुसार कवियों में प्रतिभा उनके स्वभाव के अनुरूप होती है—सुकुमार-स्वभाव-युक्त कवियों की प्रतिभा 'सहजा' (सुकुमार) होती है, विचित्र-स्वभाव-युक्त कवियों की प्रतिभा 'विचित्रा, और उभय-स्वभाव-युक्त कवियों की प्रतिभा 'मिश्रिता' शोभाशालिनी होती है।[1] कुन्तक की इस धारणा को काव्य-सृजन के प्रसंग में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि रचना करते समय कवि की निजी प्रकृति भी उसका साथ देती चलती है, और यही कारण है कि कुछ कवि शृंगार, करुण, हास्य जैसे कोमल रसों से सम्बन्धित रचनाओं के प्रणयन में जितने सफल होते हैं, वीर, रौद्र, भयानक जैसे कठोर रसों के प्रणयन में वे उतना सफल नहीं होते। भवभूति उत्तररामचरित्र के माध्यम से करुण रस का (अथवा करुण-विप्रलम्भ शृंगार रस[2]) का उद्रेक करने में जितना सफल हुए हैं, उतना मालतीमाधव और महावीरचरित्त के माध्यम से क्रमशः शृंगार रस और और वीर रस के उद्रेक में सफल नहीं हुए।

कुन्तक-सम्मत काव्य के छह गुण—(क) औचित्य और सौभाग्य, तथा (ख) माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य—भी कवि के स्वभाव के द्योतक हैं। इनमें से प्रथम दो गुण साधारण कहाते हैं, क्योंकि ये दोनों कवि-स्वभाव पर आधृत उक्त तीनों मार्गों—सुकुमार, विचित्र और मध्यम—में समान रूप से और अनिवार्यतः रहते हैं। शेष रहे अन्तिम चार गुण। कुन्तक ने इनकी स्थिति सुकुमार और विचित्र मार्गों में भिन्न-भिन्न रूप से मानी है, तथा मध्यम मार्ग में यथाभिलाषित रूप में। अतः इन चार गुणों को हम उपर्युक्त दो 'साधारण' गुणों की तुलना में 'विशेष' गुण कह सकते हैं।

[३]

काव्य-रचना करते समय कवि की मनःस्थिति कैसी रहती है? इस विषय पर भारतीय काव्यशास्त्र में स्पष्ट कथन नहीं मिलते, पर प्रकारान्तर से इधर-उधर बिखरे हुए संकेत अवश्य मिल जाते हैं। काव्य-प्रयोजन-प्रसंग में छह प्रयोजनों में से यश, अर्थ और अनर्थ-निवृत्ति का साक्षात् अधिकारी कवि को माना गया है, और व्यवहार-ज्ञान और कान्ता-संमित उपदेश का साक्षात् अधिकारी सहृदय को। किन्तु यह पांचों प्रयोजन गौण हैं, छठा प्रयोजन इन सबसे उत्कृष्ट है, और वह है—सद्यःपरनिर्वृति, अर्थात् त्वरित आह्लाद-प्राप्ति अथवा रसास्वादन,[3] जिसका अधिकारी सहृदय तो है ही,

---

१. वक्रोक्ति-जीवित १.२४ वृत्ति

२. देखिए भारतीय काव्यशास्त्र पृष्ठ २४५-२५०

३. सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्। (का० प्र० १.२ वृत्ति)

साथ ही इसका अधिकारी कवि को भी माना गया है, किन्तु तत्क्षण के लिए कवि को भी सहृदय मान लिया जाता है।[१]

वस्तुत:, इसी मान्यता में ही उक्त प्रश्न के कि—'रचना-निर्मिति के समय कवि की मन:स्थिति क्या होती है?'—विविध संकेत छिपे पड़े हैं। रोहिताश्व के मृत शरीर पर हरिश्चन्द्र के विलाप को देख-सुनकर किसी भी व्यक्ति का शोकाकुल अथवा करुणार्द्र हो जाना नितान्त सम्भव था, किन्तु रस-सिद्धान्त के अनुसार काव्य-निर्माण के समय कवि के लिए यह समस्त घटना विशिष्ट न रहकर सधारण बन जाती है, और अब लौकिक कारण, कार्य और सहकारिकारण क्रमश: विभाव, अनुभाव और संचारिभाव में परिवर्तित हो जाते हैं—किसी भी दर्शक के समान कवि के लिए भी हरिश्चन्द्र अब पुत्र-विरह से सन्तप्त कोई पिता बन जाता है, और रोहिताश्व एक विशिष्ट पुत्र न रहकर कोई पुत्र बन जाता है। इस प्रकार यह घटना कवि के लिए देश-काल की सीमा से अनालिंगित हो जाती है। परिणामत:, कवि 'निजत्व' और 'परत्व' तथा यहां तक कि 'उदासीनत्व' के बन्धन से मुक्त हो जाता है—उसकी यह स्थिति पूर्ववर्ती राग-द्वेष से मुक्त होती है, उसे किसी भी अन्य ज्ञान से वास्ता नहीं रहता—उसे अपने किसी सगे-सम्बन्धी के मृत पुत्र की—यहां तक कि यदि वह स्वयं ऐसा दुर्भाग्यशाली व्यक्ति है तो अपने मृत पुत्र की—स्मृति नहीं आती, और यही उसकी रसास्वादन की स्थिति है, क्योंकि इसी स्थिति में उसका 'शोक' स्थायीभाव, विभाव आदि का संयोग पाकर करुण रस में निष्पन्न हो जाता है। इसी स्थिति को 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' माना गया है—और केवल इसी स्थिति में ही वह समस्त साधारणीभूत घटना-चक्र को अपनी वाणी अथवा लेखनी की नोक पर लाने में समर्थ हो सकता है—इसी क्षण उसका दोहरा व्यक्तित्व होता है—रसास्वादन के कारण वह सहृदय कहाता है, और काव्य-निर्मिति के कारण कवि।

लेखन-कार्य तो वस्तुत: रसानुभूति के साथ-साथ चलने वाली बाह्य क्रियामात्र है, रसानुभूति का सम्बन्ध तो कवि के आन्तरिक उद्वेगों और अन्तस्तल में उथल-पुथल मचा रहे भावावेशों के साथ है, जो काव्य-लेखन के रूप में साथ ही साथ अभिव्यक्त हो रहे होते हैं। किन्तु जब कवि को भावानुकूल कोई अनुचित शब्द नहीं मिल रहा होता, अथवा कोई नूतन वाग्विलास (अलंकार) नहीं सूझ रहा होता, अथवा कथानक को कोई नया मोड़ देने के लिए उसे कोई सूत्र नहीं मिल रहा होता तो कवि की रसानुभूति

---

२. (क) कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। अ० भा०, १म भाग, पृष्ठ २९५,
(ख) नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः। ध्व० लोचन, पृष्ठ ९२,
(ग) रसास्वादनकाले कवेरपि सहृदयान्त:पातित्वात्। का० प्र० (बा०बो०पृष्ठ १०

में वाधा भी पड़ती है, पर प्रथम तो सफल महान् कवियों के मार्ग में ऐसी वाधाएं यदा-कदा ही आती हैं। जब वे समाधिस्थ होकर लिख रहे होते हैं तो इन्हें शब्द-चयन की आवश्यकता नहीं रहती, विषयानुकूल वाक्य-विन्यास स्वतः एवं अनायास होता रहता है, फिर भी, उक्त वाधाएं उसी प्रकार उपस्थित होती हैं, जिस प्रकार किसी पाठक को काव्य का कोई स्थल और किसी दर्शक को नाटक का कोई दृश्य समझ में नहीं आ रहा होता, और इन वाधाओं के दूर होते ही कवि भी सामान्य सहृदय के समान, रसानुभूति की तरंगों में फिर से आप्लावित होकर रचना-कार्य में लीन हो जाता है। अस्तु ! इस प्रकार हमने देखा कि काव्यप्रयोजन-प्रसंग के अन्तर्गत रचना-प्रक्रिया का एक वहुमूल्य तत्त्व निहित है; और वह है—रसानुभूति के माध्यम से लेखन-कार्य में तल्लीनता।

तल्लीनता, चित्त की एकाग्रता अथवा समाधिस्थता काव्य-सृजन-प्रक्रिया की एक अनिवार्य शर्त है। कवि कालिदास ने अपनी रचनाओं में इस तथ्य को अनेक स्थलों पर प्रकारान्तर से अभिव्यक्त किया है। केवल एक स्थल लीजिए—राजा अग्निमित्र ने मालविका का चित्र देखा तो उस पर मोहित हो गया, किन्तु साथ ही, उसके मन में यह सन्देह भी वना रहा कि चित्रकार ने उसकी कान्ति का कहीं अधिक अंकन न कर दिया हो, पर जब उसे साक्षात् देखा तो उसे लगा कि चित्रकार उसके वास्तविक सौन्दर्य को अंकित करने में असमर्थ रहा है—यह तो चित्र की अपेक्षा भी कहीं अधिक कान्तिमती है, और कवि की इस असमर्थता का एक मात्र कारण है—चित्र-निर्माण के समय उसकी 'समाधि में शिथिलता'—

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ॥[1] मालविकाग्निमित्र २.२

[४]

यो तो कवि प्रायः जगत् में घटित विषयों को अपनी कल्पना के वल पर काव्य का रूप दे देता है, किन्तु कुछ विषय ऐसे भी होते हैं जिन्हें कवि स्वयं गढ़ लेता है,[2] और इस दूसरी स्थिति में इन्हें वह या तो स्वयं कहता है या किसी पात्र के मुख से कहलवाता है। ध्वनि-काव्य के अनेक भेदों में ये तीन भेद भी स्वीकार किये गये हैं। इनमें से अन्तिम

---

१. इसी प्रकार—'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां···।' (मेघदूत, उत्तर० ४५) में भी कालिदास ने इसी आशय को प्रकट किया है।

२. ऐसे स्थलों में जहां कवि कल्पना के वल पर किसी नूतन अथवा मौलिक उपमान का प्रयोग करता है, वहां वामन ने कान्ति गुण माना है। कान्ति कहते हैं—'उज्ज्वलता' को, और उज्ज्वलता से आशय है—नवीनता अथवा मौलिकता, और इसका अभाव 'पुराणच्छाया' कहाता है। (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३.१.२५)

दो (१) कविप्रौढोक्ति-सिद्ध तथा (२) कविनिबद्धवस्तु-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध भी प्रकारान्तर से 'सृजन-प्रक्रिया' की ओर निर्देश करते हैं। एक उदाहरण लीजिए—मानिनी मान किये बैठी है, किन्तु ज्यों ही उसका प्रियतम उसका गाढ़ आलिंगन करने के लिए उद्यत हुआ कि मानिनी का मान उसके हृदय से डर के मारे झट से निकल भागा कि कहीं वह इनके गाढ़ालिंगन के बीच भिच न जाए—

गाढालिंगनरभसोद्यते दयिते लघु समपसरति ।
मनस्विन्या मानः पीडनभीत इव हृदयात् ॥ काव्यप्रकाश ४.६६

कवि की अभिव्यक्ति वही सफल मानी जाती है जिसमें सौन्दर्यजनक उपकरण सायास न भरे जाकर सहज भाव से प्रयुक्त हों। किसी महान् कवि की सृजन-प्रक्रिया पर ही मानों प्रकाश डालते हुए उपर्युक्त आशय को संस्कृत के काव्य-समीक्षक ने निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत किया है—अलंकार का स्वस्थ प्रयोग कवि के आयास पर निर्भर नहीं है। ये तो रस में दत्तचित प्रतिभावान् कवि के सामने एक के बाद एक, किसी प्रकार के आयास के बिना—हाथ बाँधे—चले आते हैं'—**अलंकरणान्तराणि हिनिरूप्यमाण-दुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावता कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति।** (ध्वन्यालोक २.१६ वृत्ति)

कवि की सृजन-प्रकिया के सम्बन्ध में उक्त सभी प्रसंगों से बढ़कर एक प्रसंग और है। काव्य का आधार है—'भाव', अर्थात् स्थायिभाव एवं संचारिभाव, और इसे 'भाव' इसलिए कहा जाता है कि यह कवि की मूल अन्तःप्रवृत्ति को प्रकाशित करते हैं, **कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।** अर्थात्, जो उसके मन में है, वही शब्दार्थ (अर्थात् अभिव्यक्ति) के माध्यम से काव्य बन जाता है। यही कारण है कि किसी एक ही कथानक पर आधारित विभिन्न कवियों की रचनाओं में उस कथा के पात्र, कवि के मानसिक धरातल पर निर्मित होने के कारण, मूलतः एक होते हुए भी, अलग-अलग से दीखतें हैं—वाल्मीकि, कालिदास, और इधर तुलसी और मैथिलीशरण गुप्त के राम स्पष्टतः अलग-अलग हैं। काव्य में वर्णित हो जाने पर राम-सीता, महादेव-पार्वती, दुष्यन्त-शकुन्तला आदि पात्र अब ऐतिहासिक अथवा पौराणिक पात्र न रहकर कवि के मानस पुत्र एवं पुत्रियां बन जाते है।[1]

---

१. इसी प्रश्न को रस-निष्पत्ति के प्रसंग में बहुविध रूपों में उठाकर अन्ततः यही स्वीकार किया गया है कि दर्शक और अभिनेता का सम्बन्ध ऐतिहासिक पात्रों से न होकर कवि-निर्मित पात्रों—कवि के मानस पुत्र-पुत्रियों—के साथ होता है, और फिर यह सम्बन्ध भी, साधारणीकरण-व्यापार के माध्यम से मिटकर रसानुभूति में सहायक बनता है।

[५]

काव्य-सृजन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में, आइए, अब एक और दृष्टि से विचार करें। समीक्षक किसी काव्य-स्थल में सौन्दर्यजनक उपकरण के निर्णय करने के लिए, प्रायः सहृदय की दृष्टि से विचार करता है, किन्तु कभी-कभी वह कवि की विवक्षा का ही आधार ग्रहण कर लेता है। उदाहरणार्थ दो स्थल लीजिए—

(१) सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुविम्बमिव।[1]

इस पद्यांश में मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार कवि की विवक्षा श्लेष के माध्यम से उपमा अलंकार को पुष्ट करना है। हमारे विचार में सहृदय वस्तुतः श्लेष से चमत्कृत होता है, न कि उपमा से। अतः यहां श्लेष अलंकार मानना चाहिए, न कि उपमा अलंकार—क्योंकि कवि की विवक्षा से बढ़कर सहृदय के भावोद्वेलन को ही काव्यगत सौन्दर्य का निर्णायक मानना चाहिए। किन्तु इसके विपरीत निम्नोक्त पद्य में कवि की विवक्षा को ही आधार मानकर उत्प्रेक्षा अलंकार का चमत्कार माना गया है, न कि वीर रस का—

(२) विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती॥[2] का०प्र० १.५

[हयग्रीव के डर के मारे इन्द्र ने अपनी राजधानी अमरावती नगरी की अर्गला वन्द करली तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो अमरावती-रूपी नायिका ने डर के मारे द्वार-रूपी अपने नेत्र वन्द कर लिये हों।]

इस स्थल में वीर रस की उद्भावना होने पर भी समीक्षक कहते हैं कि यहां कवि की विवक्षा, उत्प्रेक्षा अलंकार को ही प्रस्तुत करने में अधिक है न कि वीर रस को—**उत्प्रेक्षयां कवेः तात्पर्यात् सन्तोऽपि वीर-रसादयो व्यंग्याः तिरोधीयन्ते।** (काव्यप्रकाश, वा० बो० टीका, पृष्ठ २४)। टीकाकार का तात्पर्य यह है कि कवि को काव्य-रचना करते समय अमरावती को नायिका उत्प्रेक्षित करना जितना अभीष्ट रहा होगा उतना वीर रस का वर्णन नहीं।[2]

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ २३४

२. शत्रुओं के अभिमान को चूर्ण-चूर्ण करने वाले जिस [हयग्रीव] को यों ही [घूमने के लिए, न कि अमरावती पर विजय प्राप्त करने के लिए] अपने महल से निकला हुआ सुनकर भी घबराये हुए इन्द्र के द्वारा जिसकी अर्गला डाल दी गयी है, ऐसी [इन्द्र की राजधानी] अमरावती ने मानो डर के मारे अपनी आंखें वन्द-सी कर ली हैं।

इस प्रकार के समीक्षण-संकेतों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि काव्य-रचना के समय कवि का लक्ष्य वर्ण्य विषय के अनुरूप पदावली को प्रस्तुत करने का तो होता ही है, साथ ही, अपने वर्ण्य विपय को प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से वह उसे सामान्यतया प्रचलित अभिव्यक्ति में प्रस्तुत न कर उससे अतिशयित किसी विशिष्ट अभिव्यक्ति में प्रस्तुत करता चलता है, किन्तु उस समय उसे यह जानने की नितान्त चिन्ता नहीं रहती कि उसकी यह विशिष्ट अभिव्यक्ति काव्यशास्त्र के किस तत्त्व के अन्तर्गत आती है—और इस सब सृजनप्रक्रिया का मूल कारण है—प्रतिभा अथवा शक्ति, जिसकी सर्वश्रेष्ठ परिभाषा, हमारी दृष्टि में, रुद्रट ने निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत की है—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः[१] ॥ का० अ० (रुद्रट) १.५५

अर्थात् जगत् के बहुविध विषय कवि के सुसमाधिस्थ मन में पैठकर जब सहज शब्दावली के माध्यम से प्रस्फुटित हो उठते हैं तो वे काव्य का रूप ग्रहण का लेते हैं—और इस प्रक्रिया का मूलभूत हेतु है—रचयिता की प्रतिभा ।

प्रसंगतः, यह उल्लेख्य है कि पाश्चात्य काव्यशास्त्री काव्य-सृजन की प्रेरणा आत्माभिव्यक्ति को स्वीकार करता है । 'यह प्रेरणा व्यक्ति के अन्तरंग, अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म संघर्ष से उद्भूत होती है ।'[२] इस शब्दावली से उक्त कथन से तुलना करने पर निम्नोक्त साम्य प्रकारान्तर से परिलक्षित होते हैं—

सुसमाधिस्थ मन = मनोजगत् (आत्मा)
अभिधेय = वाह्य जगत् अथवा वर्ण्य विषय (अनात्मा)
विस्फुरण = अभिव्यक्ति की अदम्य इच्छा
अक्लिष्ट पद = सुन्दर अभिव्यक्ति ।

उपर्युक्त परिभाषा को समझने के लिए अब कालिदास का एक पद्य लीजिए, जिसमें काव्य-सृजन-प्रक्रिया पर ही मानो प्रकारान्तर से प्रकाश डाला गया है—

चित्तनिवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगाद्,
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे,
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥ अभिज्ञान० २.६

---

१. देखिए पृष्ठ ३४४ (रुद्रट)

२. आस्था के चरण (डॉ० नगेन्द्र) में *'साहित्य की प्रेरणा'* नामक लेख के आधार पर।

[राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला के अपूर्व रूप को देखा तो विदूषक से बोला—'एक ओर मैं शकुन्तला के अद्‌भुत रूप को देखता हूं, और दूसरी ओर विधाता की अद्‌भुत सृजन-क्षमता को देखता हूं तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि शकुन्तला को गढ़ने के लिए विधाता ने पूर्णतः सत्त्वस्थ या समाहित होकर पहले इसे अपने चित्त में बिठाया होगा। उस समय उसके मन में रूप-सौन्दर्य का उफ़ान उठ रहा होगा। और फिर, उसने एक ऐसा स्त्री-रत्न बनाया होगा जो—पुराने चौदह रत्नों से—नितान्त भिन्न बन गया।]

कवि भी ठीक ऐसा ही करता है। जगत् के किसी एक आकर्षक पदार्थ को देखकर पहले उसका मन उसके अपूर्व सौन्दर्य से अभिभूत हो उठता है, फिर सत्त्वस्थ अथवा समाहित होकर वह उसे अपने चित में बिठाता है, और फिर अन्ततः, उपयुक्त शब्दों के माध्यम से वह उसे एक ऐसा रूप दे देता है कि वह पदार्थ अब एक नूतन एवं विलक्षण रूप ग्रहण कर लेता है। और, इस कवि-रचना को पढ़-सुनकर हम लोग ऐसे चमत्कृत हो उठते हैं, जैसे दुष्यन्त विधि की रचना 'शकुन्तला' को देख आत्मविभोर हो उठे थे।

'चित्ते निवेश्य परिकल्पित सत्त्वयोगाद्' के स्थान पर '**चित्रे निवेश्य परिकल्पित-सत्त्वयोगा**' यह पाठ भी मिलता है—'विधाता ने पहले शकुन्तला के रूप को अपने मानसिक चित्र में बिठाया, और फिर उसमें सत्त्व (प्राणों) का संचार कर दिया।' इधर, कवि भी तो अपने वर्ण्य विषय का एक चित्र अपने मन में अंकित करता है, और फिर अपनी कल्पना के माध्यम से उसमें प्राण का संचार कर उसे प्रमाता के लिए हृदयहारी बना देता है।

इसी प्रसंग में कालिदास का ही एक और कथन उल्लेख्य है जिसमें यह संकेत मिलता है कि कवि लेखन-कार्य के समय यथेष्ट मनःस्थितियों से भरा-पूरा होकर अभीष्ट वर्ण्य विषय को अपने मन में घड़ लेता है, ऐसे, जैसे दिलीप की रचना करते समय विधाता सभी प्रकार की सामग्रियों से समाहित होकर ही यह कार्य सम्पन्न करने बैठा था—

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना।[1] रघुवंश १.२९

[जिस सामग्री से ब्रह्मा ने पंचभूतों की रचना की थी, उसी सम्पूर्ण सामग्री[2] से उसने दिलीप की रचना की।]

---

१. **समाधीयतेऽनेनेति समाधिः कारण-सामग्री।** (मल्लिनाथ)
पूर्ण सामग्री की समाहिति के सम्बन्ध में यह घटना उल्लेख्य है—कहते हैं कि एक बार व्यासजी अपने विशाल तथा सर्वज्ञान-प्रदायक ग्रन्थ महाभारत की रचना से

[६]

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से काव्य-सृजन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में समग्रत: कह सकते हैं कि—

कवि, रचना के क्षणों में, समाविस्थ रहकर—परिणामत:, जगत् के विभिन्न नियमों-उपनियमों, ऐतिहासिक तथ्यों और शास्त्रीय प्रतिमानों से नितान्त निरपेक्ष रहते हुए[1]—अपनी विषयवस्तु को, तदनुकूल पदावली के माध्यम से, नूतन, सर्वांग-पूर्ण एवं हृदयहारी रूप में अनायास अभिव्यक्त करता चलता है, और इस सब प्रक्रिया का आधारभूत एक मात्र कारण है—उसकी कारयित्री प्रतिभा, अथवा संक्षेप में कहें तो प्रतिभा अथवा शक्ति।

अन्तत:, यह उल्लेख्य है कि कभी-कभी कवि काव्यशास्त्रीय अथवा छन्द:शास्त्रीय नियमों से निरपेक्ष न रहकर अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र आदि शब्दालंकारों को लक्ष्य में रखकर रचना करने लग जाता है, और कभी-कभी किसी इतिवृत्तात्मक तथ्य मात्र को पद्यबद्ध कर देता है। किन्तु इस प्रकार की रचनाओं को 'काव्य' न कहकर 'पद्यबद्ध इतिवृत्त' कहना चाहिए, अन्यथा वैद्यक शास्त्र, विधि-शास्त्र से सम्बन्धित रचनाओं को भी काव्य कहना पड़ेगा। पर वस्तुत:, इस प्रकार की रचनाएं वास्तविक काव्य कहाने की अधिकारिणी नहीं होतीं।

□ □ □

असन्तुष्ट होकर ब्रह्मा जी के पास पहुँचे तो उन्हें सुझाव दिया गया कि यदि आप पूर्ण पुरुष श्रीकृष्ण को चरित-नायक बनाकर कोई ग्रन्थ लिखेंगे तो आप को परम शान्ति एवं सन्तुष्टि मिलेगी—श्रीमद्भागवत इसी सुझाव का ही सुपरिणाम है, जो कि व्यास जी की शान्ति एवं सन्तुष्टि का कारण बना।]

१. (क) अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

(ख) नियतिकृतनियमरहिताम् ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥ का०प्र० १-१

उपसंहार

काव्य-समीक्षा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है काव्य के शब्दार्थ [वाचक शब्द और वाच्य अर्थ के समन्वित रूप] के परीक्षण द्वारा काव्य का समीक्षण प्रस्तुत करना, और उस समीक्षण के आधार पर धीरे-धीरे विभिन्न काव्यतत्त्व···जैसे भारतीय दृष्टि से गुण, रीति, अलंकार, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि—नियत होते रहते हैं। ठीक यही स्थिति भारतेतर काव्य-समीक्षा-पद्धति की भी है। और फिर इन्हीं काव्यतत्त्वों को लक्ष्य में रखकर समीक्षा का प्रचलन प्रायः हो जाता है। वस्तुतः यही क्रमिक स्थिति प्रत्येक विज्ञान की होती है—प्रयोग > सिद्धान्त > प्रयोग > सिद्धान्त, आदि। काव्य-समीक्षा भी वस्तुतः एक प्रकार का विज्ञान ही है।

(१)

भारतीय काव्य-समीक्षा (यों कहिए, संस्कृत-समीक्षा) का आरम्भ समीक्षण-प्रक्रिया के किस रूप से स्वीकार किया जाए—इसका निर्णय करना कठिन है। हमारे समक्ष इस दिशा में दो रूप हैं—व्युत्पत्ति और पदपाठ। व्युत्पत्ति का मूल कार्य है—शब्द की धातु खोज निकालना। चारों वेदों में व्युत्पत्ति-परक बहुविध स्थल मिल जाते हैं, और इस स्थिति का शायद कारण यह है कि ऋषि अपने श्रोताओं को उनका अर्थ समझाना चाहता हो। सम्भावना यह भी की जा सकती है कि इन व्युत्पन्न शब्दों में से कुछ शब्द समाज में अधिक प्रचलित न हुए हों, और इनका अर्थ समझाने के लिए ऋषि को इनकी व्युत्पत्ति प्रस्तुत करनी पड़ी हो। अथवा इनमें से कुछ शब्दों को उसने स्वयं घड़ा हो, और तभी, इन शब्दों की व्युत्पत्ति देने की आवश्यकता उसने महसूस की हो। कारण जो भी हो, काव्य-समीक्षण का सर्वप्रथम उपलब्ध सोपान 'व्युत्पत्ति' है, क्योंकि काव्य के शब्द और उसके अर्थ के परिचय के बाद ही काव्य के समीक्षण की ओर बढ़ा जा सकता है, और शब्द के अर्थ का बोध कराने का, एक सीमा तक, समर्थ साधन व्युत्पत्ति है।

'व्युत्पत्ति' की प्रमुख पद्धति है शब्द की मूल धातु के आधार पर अर्थ का निर्देश करना। प्रश्न है कि यह मूल धातु कहाँ से आयी, जिसे लक्ष्य में रखकर व्युत्पत्ति निर्णीत

की जाती है। उदाहरणार्थ—'**शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा,**' अर्थात् 'शरीर' शब्द की सिद्धि 'शृ' धातु (शीर्ण होना) से, अथवा 'शम्' धातु (नष्ट होना) से होती है। '**लोम लूनाते-र्लीयते वा**', अर्थात् 'लोम' शब्द की सिद्धि 'लु' धातु (काटना) से, अथवा 'ली' धातु (लीन होना, छुपे रहना) से होती है, इत्यादि। इस सम्बन्ध में दो विकल्पात्मक प्रश्न उपस्थित होते हैं—(१) क्या समाज के व्यक्ति मूल धातु से पहले परिचित रहते हैं, और शब्द का बोध उन्हें बाद में होता है? अथवा (२) क्या शब्द का बोध उन्हें समाज में प्रयुक्त भाषा के माध्यम से स्वतः हो जाता है, और मूल धातु के ज्ञान की उन्हें नितान्त आवश्यकता ही नहीं रहती। इन दोनों विकल्पों में से दूसरा विकल्प ही पर्याप्त सीमा तक ठीक है कि समाज के व्यक्ति समाज में प्रचलित भाषा के माध्यम से शब्दों और उनके अर्थो से अनायास परिचित होते रहते हैं—धातुबोध से उन्हें क्या लेना-देना? और यह भाषा-चिन्तक ही होता है कि जो ध्वनि तथा अर्थ के स्तर पर शब्दों को एक धातु से सम्बद्ध करता रहता है, तथा इस प्रकार मूल धातु का निर्णय करता रहता है। इसी प्रक्रिया से धीरे-धीरे व्युत्पत्ति-पद्धति का जन्म हो गया। जो हो, 'व्युत्पत्ति' को हम शैलीवैज्ञानिक समीक्षण (शैलीविज्ञान के प्रायोगिक पक्ष) का पहला सोपान कह सकते हैं, जिसके बहुविध रूप हमें सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में—वेद, उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों में—यत्र-तत्र मिल जाते हैं।

मूल धातु की खोज ने शब्दों की सिद्धि को जन्म दिया। उदाहरणार्थ, पठति और पपाठ—पठ् धातु से बने हुए ये दोनों शब्द क्रमशः वर्तमान और परोक्ष भूत के रूप हैं, जिन्हें सुविधा के लिए क्रमशः लट् और लिट् नाम दिया गया, और इन शब्दों की सिद्धि विभिन्न प्रत्ययों, आगमों, आदेशों के माध्यम से की गयी। इस सिद्धि के लिए जो नियम बनाये गये होंगे, वे पहले वाक्यों में होंगे, और फिर धीरे-धीरे इन्हें वैयाकरणों ने सूत्रों में बद्ध कर दिया होगा, और यही सूत्र ही, फिर, वेदों के भाष्यों और काव्यों की टीकाओं में उद्धृत किये जाने लगे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि व्युत्पत्तियाँ तो हर वेद-भाष्य में मिलती हैं, पर शब्दों की सिद्धि के लिए व्यापारिक सूत्र केवल परवर्ती भाष्यों में मिलते हैं, पूर्ववर्ती भाष्यों में नहीं मिलते। साथ ही, यह भी उल्लेख्य है कि भाष्यों और टीकाओं में सूत्रों को उद्धृत करते हुए इनके द्वारा शब्दों की सिद्धि का निर्देश कर देने से शब्दों के अर्थ-बोध में कोई सहायता नहीं मिलती, और न ही इनके द्वारा शब्दों के व्युत्पत्ति-बोध में कोई सहायता मिल पाती है, फिर भी, भाष्यों और टीकाओं में सूत्रों को उद्धृत करने की परिपाटि अद्यावधि चली आयी है।

× × ×

अब पद-पाठ को लीजिए। विभिन्न प्रकार के पाठों (घन-पाठ, जटा-पाठ, पद-पाठ, आदि, विकृतियों) के निर्माण की आवश्यकता वेद-मन्त्रों के मूल पाठ के क्रम को

अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए पड़ी होगी। किन्तु पद-पाठ का एक लाभ यह भी हुआ कि इसके द्वारा वेद-मन्त्रों के अर्थ-बोध का कार्य भी अनायास सिद्ध हो गया, क्योंकि पद-पाठ करते समय सन्धि, समास, स्वर, आदि, का भी ध्यान रखा जाता है, जो कि पाठक को अर्थावबोध कराने में सहायक सिद्ध होते हैं। अतः पद-पाठ को काव्य-समीक्षण का दूसरा सोपान मान सकते हैं, और पद-पाठ को ही टीका-ग्रन्थों में प्रस्तुत 'अन्वय' का स्रोत—प्रत्यक्षतः न सही, प्रकारान्तर से तो—अवश्य मान सकते हैं, जिसके द्वारा काव्य का, विशेषतः किसी पद्य का, अर्थ जानने में सुगमता होती है।

यद्यपि काल-क्रम की दृष्टि से व्युत्पत्ति और पद-पाठ में से प्रथम स्थान व्युत्पत्ति का है, क्योंकि व्युत्पत्तियाँ वेदों में भी उपलब्ध हैं,और विभिन्न पद-पाठ तभी प्रस्तुत किये गये जबकि वेद-मन्त्रों का अस्तित्व हो चुका था—क्योंकि, जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है, पद-पाठ वेद-मन्त्रों के क्रम को यथावत् बनाये रखने के लिए ही किये गये, किन्तु बोद्धा (श्रोता और पाठक) की दृष्टि से व्युत्पत्ति से पहले पद-पाठ को स्थान मिलना चाहिए, क्योंकि वेद-मन्त्रों के अर्थावबोध के लिए बोद्धा पहले पद-पाठ को जानना चाहता है, और बाद में व्युत्पत्ति को। इन दोनों में से 'पद-पाठ' को जानने की आवश्यकता तो उसे अनिवार्यतः रहती है, किन्तु 'व्युत्पत्ति' जानने की आवश्यकता उसे अनिवार्यतः नहीं रहती। इसी प्रकार कालिदास आदि के पद्यों का 'अन्वय' वह पहले जानना चाहता है, और फिर उसे शब्दों की व्युत्पत्ति को जानने की आवश्यकता का अनुभव होता है, और वह भी, प्रत्येक शब्द की नहीं, अपितु किन्हीं शब्दों की, जिनका प्रचलित अर्थ उसे ज्ञात नहीं होता। हाँ, 'व्युत्पत्ति' को यदि प्रकारान्तर से शब्द के 'अर्थ' का पर्यायवाची मान लें तो काव्य के अध्ययन के लिए व्युत्पत्ति की आवश्यकता सदा बनी रहती है।

[२]

जो हो! पद-पाठ की महत्ता अधिक स्वीकृत की जाए अथवा व्युत्पत्ति की, ये दोनों एकत्र रूप में काव्य के प्रत्येक शब्द के अर्थ के अवबोध तक ही साथ देते हैं, काव्य के आन्तरिक पक्ष को, उसके सौन्दर्य को, जानने-पहचानने के लिए तो पाठक की अपनी अनुभूति सहायक बनती है, जोकि न तो गुरु के द्वारा शिक्षण से, और न ही किसी प्रकार के शास्त्रीय सिद्धान्तों के अध्ययन से उपजती अथवा पनपती है। रचना के प्रत्येक वाक्य के अर्थावबोध के पश्चात् पाठक की सहृदयता के क्षण शुरु हो जाते हैं। सहृदयता के इन क्षणों पर विचार करने से पूर्व काव्य में शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करना अपेक्षित है। 'शब्दार्थ' को काव्य का शरीर कहा गया है। यहाँ 'शब्द' से अभिप्रेत है वाचक शब्द, और 'अर्थ' से अभिप्रेत है वाच्य अर्थ। प्रश्न है कि क्या काव्य के प्रसंग में शब्द और अर्थ का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है, अथवा ये दोनों काव्य-शरीर के

अविभाज्य अंग हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि ये दोनों प्रत्यक्षतः और व्यवहारतः पृथक्-पृथक् है, क्योंकि किसी शब्द के पठन अथवा श्रवण के पश्चात् उसके अर्थ की प्रतीति होती है, किन्तु मूलतः ये दोनों अविभाज्य हैं, क्योंकि अर्थ के विना कोई भी शब्द एक नादमात्र होता है। यही कारण है कि 'साहित्य' शब्द से यह अभिप्रेत है कि जहां शब्द और अर्थ का 'सहितभाव' हो, अर्थात् हम इन्हें एक दूसरे से पृथक् न कर सकें, अथवा जहाँ 'शब्द और अर्थ' एक दूसरे के हित में लगे हुए हों। इसका तात्पर्य यह है कि अनेक पर्यायवाची शब्दों के होते हुए भी, कवि द्वारा प्रयुक्त वही शब्द 'वाचक' कहाने योग्य है, जोकि उसके अभीष्ट अर्थ का निर्देश करता है, और 'वाच्य अर्थ' वही कहाता है जो कि इस शब्द से निःसृत होकर—नितान्त स्वाभाविक रूप में ही, किसी प्रकार की खींचतान किये विना—सहृदय-जनों के लिए अन्ततः कवि के विवक्षित अर्थ का निर्देश कर सकने की क्षमता रखता है, तथा आह्लादकारी होता है।[1] इसी कारण शब्द और अर्थ दोनों के समन्वित रूप को ही 'काव्य' ('काव्य-शरीर') कहा गया,[2] न कि केवल शब्द को, चाहे वह रमणीयता से विशिष्ट भी क्यों न हो, और न ही केवल अर्थ को।[3]

किन्तु इस स्वीकृति में भी कि शब्द और अर्थ के समन्वित रूप को ही 'काव्य-शरीर' कहा जाए एक अन्य समस्या प्रारम्भ हो जाती है कि यह माना कि काव्य के अधिकतर स्थलों में शब्द के अर्थ के अवबोध के वाद ही सहृदयता के क्षण आरम्भ होते हैं, और हमें काव्य का आनन्द मिलने लगता है, पर काव्य के कुछ स्थल ऐसे भी होते हैं, जिनको पढ़ते अथवा सुनते ही— अर्थात् उनके अर्थ का अवबोध हुए विना ही—हमें एक प्रकार का आनन्द आने लगता है, तो फिर क्यों न ऐसे स्थलों में केवल शब्द को ही काव्य का शरीर स्वीकार किया जाए, उदाहरणार्थ—**'मधुरया मधुवोधितमाधवी…'** जैसे स्थलों में। किन्तु इन स्थलों से प्राप्त आह्लाद को काव्य का आनन्द न मानकर नाद-सौन्दर्य का (प्रकारान्तर से 'संगीत' का) ही आनन्द मानना चाहिए। फिर भी, इसे उपचार से काव्य का ही आनन्द कह दिया जाता है, किन्तु काव्य का वास्तविक आनन्द तो उस क्षण से आरम्भ होता है जव हम उक्त श्लोक का वाच्यार्थ

---

१. शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥ व० जी० १.९

२. (क) शब्दार्थ-शरीरं तावत् काव्यम्। (ध्वन्यालोक)
(ख) तेन शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्। (व० जी० १.७ वृत्ति)

३. न शब्दस्यैव रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वम्, नाप्यर्थस्येति।
(व० जी० १.७ वृत्ति)

समझ लेते हैं कि मधुकरी 'मधु' (वसन्त) के समागम से उत्फुल्ल होकर गुंजार कर उठी है। इस अर्थ के ज्ञान होते ही उक्त पद्य के एक-एक वर्ण से हमें मधुकरी की मन्द-मन्द गुंजार सी निकलती प्रतीत होने लगती है, और इस प्रकार पूर्ववर्ती क्षणों का नाद-सौन्दर्य इस परवर्ती क्षणों में भुज्यमान काव्यानन्द की प्राप्ति में सहायक बन जाता है। इस प्रकार इस तर्क के आधार पर भी यद्यपि शब्द और उसके अर्थ—दोनों के समन्वित रूप—को ही काव्य का शरीर माना गया है, फिर भी, शब्द और अर्थ में से अर्थ को प्रधानता दी गयी है, क्योंकि अर्थ के बोध के बिना काव्याह्लाद प्राप्त नहीं हो सकता। काव्याह्लाद का साधन अर्थ है, और अर्थ का साधन शब्द है। इस प्रकार शब्द की अपेक्षा अर्थ को ही अधिक महत्ता दी गयी है—**शब्दार्थयोरेकात्मकत्वेऽप्यर्थांशस्यैव प्राधान्यमुपयोगवशात्।**[1] (वाक्यपदीय २. १३०)

[३]

जैसाकि अभी ऊपर कह आये हैं, अर्थविबोध के पश्चात् पाठक की सहृदयता के क्षण शुरू हो जाते हैं। वह कभी मूल पाठ के किसी एक विशिष्ट वर्ण, पद, वाक्यांश अथवा वाक्य में से किसी के द्वारा चमत्कृत होता है, अथवा कभी किन्हीं वर्णों, पदों, वाक्यांशों अथवा वाक्यों में से किसी के द्वारा,[2] पर ये विशिष्ट वर्ण, पद, वाक्यांश और वाक्य काव्य-सौन्दर्य की अनुभूति में उपकरणमात्र होते हैं, सौन्दर्य की अनुभूति तो समग्र काव्य-स्थल से होती है। उदाहरणार्थ—'**तटी तारं ताम्यत्यतिशशियशाः**...'[3] में 'तटी' शब्द की स्त्रीलिंगता काव्य-सौन्दर्य की अनुभूति में सहायकमात्र है, काव्य-सौन्दर्यानुभूति तो समग्र पद्य की होती है, ठीक वैसे, जैसे पौधे पर लगा एक पुष्प अथवा लगे अनेक पुष्प समस्त पौधे के सौन्दर्य-बोध में सहायक बनते हैं—सौन्दर्य तो पूरे पौधे का, अथवा पूरी डाली का, ही होता है। इसी प्रकार किसी एक अंग की सुघड़ता तो शरीर के सौन्दर्य का उपकरणमात्र ही होती है, सौन्दर्य तो पूरे शरीर का होता है। केवल यह ज्ञान हो जाना सौन्दर्यबोध नहीं है कि उक्त पद्य में 'तट' शब्द को—जो कि तीनों लिंगों में प्रयुक्त किया जा सकता है—पुल्लिंग और नपुंसकलिंग में प्रयुक्त न किया

---

१. माना कि शब्द और अर्थ एकात्मक हैं—अर्थात् दोनों मिलकर ही भाषा का स्वरूप निर्धारित करते हैं, किन्तु इन दोनों में अर्थ-अंश की प्रधानता रहती है, क्योंकि उसी का ही उपयोग होता है, अर्थात् वक्ता उसी की ही अभिव्यक्ति केलिए शब्द का प्रयोग करता है।

२. इस सम्बन्ध में 'भाषा-परक समीक्षा' देखिए (पृष्ठ २५२-२७९)

३. देखिए पृष्ठ २७०

जाकर जानबूझ कर स्त्रीलिंग—'तटी'—रूप में प्रयुक्त किया गया है, अपितु सौन्दर्य-बोध तभी होता है जब इस ज्ञान के क्षणों में, साथ-ही-साथ, पूरा पद्य भी ध्यान में रमा रहता है।

सौन्दर्यानुभूति के बोध के क्षणों में सामान्य मानव काव्यशास्त्रीय शब्दावली में 'सहृदय' कहाता है। जब कोई पाठक अथवा प्रेक्षक कवि के मनोगत भावों की तह तक जा पहुँचता है—जब उसका और कवि का हृदय एक-समान हो जाता है—तभी वह व्यक्ति 'सहृदय' जैसे गौरवपूर्ण विशेषण का अधिकारी बन जाता है। सहृदयता के इन क्षणों में वह काव्य के सौन्दर्य से अभिभूत हो उठता है, इससे उसके चित्त की द्रुति, दीप्ति अथवा व्याप्ति होती है, वह इन क्षणों में सब कुछ भूल उसी का हो जाता है। वह संसार की किसी घटना अथवा व्यक्ति से सम्बद्ध नहीं होता, उसे अपने-पराये का ध्यान नहीं होता, और सच तो यह है कि उसे अपना भी ध्यान नहीं रहता। किन्तु यदि किसी महाकाव्य को पढ़ते-पढ़ते, अथवा किसी नाटक को देखते-देखते, वह संसार की किसी घटना अथवा व्यक्ति से, किसी अपने अथवा पराये से, अथवा अपने-आप से जुड़ जाता है, तो उसका वह क्षण उसकी सहृदयता का क्षण नहीं होता। उस क्षण वह सांसारिक व्यक्ति बन चुका होता है—संसार की किसी घटना में लीन होकर सांसारिक सुख अथवा दुःख का अनुभव कर रहा होता है, काव्य के सुख से (जिसे भारतीय काव्यशास्त्र 'रस' अथवा 'काव्याह्लाद' कहता है) वह अलग हो जाता है। किन्तु फिर, जब वह 'लोक' से लौटकर पुनः 'काव्य-क्षेत्र' में आ पहुंचता है तो फिर उसे काव्य-सुख की उपलब्धि होने लगती है।

समीक्षण का कार्य सहृदयता के बाद शुरू होता है, पर सभी सहृदय समीक्षक नहीं बन पाते। अधिकतर सामाजिक अपनी सहृदयता के क्षणों में अनुभूत सुख को दूसरों के प्रति व्यक्त नहीं कर पाते—बहुत हुआ तो बस इतना ही कह दिया कि 'अत्यन्त सुन्दर काव्य पढ़ा हमने', अथवा 'वह नाटक तो असीम आनन्ददायक था', आदि।[1] किन्तु काव्य के सौन्दर्य का वर्णन करने वाला व्यक्ति (समीक्षक) सामान्य व्यक्ति से उच्च धरातल पर अवस्थित होता है। सहृदयता के क्षण तो दोनों प्रकार के व्यक्तियों में होते हैं, किन्तु सहृदयता के क्षणों में भोगे हुए आह्लाद को समर्थ रूप में

---

१. भामह का कहना है कि 'किसी वर्णनीय पदार्थ के सम्बन्ध में 'अत्यन्त सुन्दर', 'बहुत बढ़िया', 'क्या कहने', आदि, कह देना वाणी के सौन्दर्य का द्योतक नहीं है—'**न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।**' उनकी यह धारणा समीक्षण पर भी घटित होती है कि किसी रचना के सम्बन्ध में उक्त प्रकार के प्रशंसात्मक कथन रचना की समीक्षा नहीं कहाते।

अभिव्यक्त करने के क्षण सहृदयता के क्षणों से परवर्ती होते हैं। प्रत्येक सहृदय समीक्षक नहीं होता, पर प्रत्येक समीक्षक समीक्षण-कार्य से पूर्व निःसन्देह सहृदय बन चुका होता है।

प्रश्न है कि क्या समीक्षक समीक्षण के क्षणों में सहृदय नहीं होता। उत्तर है—'नहीं'। समीक्षा करते समय जिन क्षणों में वह काव्य-सौन्दर्य में आत्म-विभोर हो उठता है उसके वे क्षण निःसन्देह सहृदयता के होते हैं—इन क्षणों में उसे भले ही सहृदय कहा जाए, पर जब वह समीक्षण कर रहा होता है हम उसे सहृदय न कहकर 'समीक्षक' कहते हैं। हाँ, 'सहृदयता' के पूर्ववर्ती क्षण उसके समीक्षण-कार्य में सहायक अवश्य बनते हैं, क्योंकि 'सहृदयता' की स्मृति समीक्षण-कार्य में सहायक बनती रहती है। समीक्षक अपनी सहृदयता के क्षणों की स्मृति को चित्त में संजोये काव्य के वर्ण, शब्द, वाक्य, प्रकरण, आदि, को परखता है, इनके माध्यम से उद्भूत सौन्दर्य को उद्घाटित करता है—यह सौन्दर्य उन वर्ण, आदि, का तो होता है, पर उनके बाह्य रूप का न होकर आन्तरिक रूप का होता है। उदाहरणार्थ, उपर्युक्त पद्य 'तटी तारं ताम्यति...' में 'तटी' शब्द की स्त्रीलिंगता इस शब्द का बाह्य रूप है, पर 'तटी' शब्द की स्त्रीलिंगता से किसी नायिका का बोध होना—यह 'तटी' शब्द का आन्तरिक रूप है।[1]

समीक्षक अपने समीक्षण-कार्य के द्वारा कवि के मन की थाह भी लेता चलता है—इस थाह को भले ही वह शब्दों द्वारा प्रायः व्यक्त नहीं करता, पर इस कार्य का सुपरिणाम यह होता है कि वह अपने चित्त में कवि के भावों के अनुरूप ही भावों का अनुभव करता है, और अपने पाठकों को भी उन्हीं भावों का ही अवगमन करा देता है। कुछ स्थल ऐसे भी होते हैं जहां वह कवि के मन की थाह नहीं ले पाता। परिणामतः, उसके समीक्षण में यथातथ्यता नहीं आ पाती। वह ऐसे स्थलों से इस प्रकार के भावों को प्रकट कर बैठता है, जो कवि को नितान्त अभीष्ट नहीं होते। समीक्षक के ये अंश या तो समीक्ष्य काव्य को अवहीन कर देते हैं, या उसे इतना ऊंचा उठा देते हैं कि लगता है समीक्षक अपनी भाव-प्रवणता के कारण मूल विषय से काफ़ी दूर जा पड़ा है। समीक्षक के ऐसे कुछ स्थल तो क्षम्य होते हैं, पर जब उसकी समीक्षा कवि के भाव से दूर—बहुत दूर—जा पड़ती है, अथवा इस प्रकार के स्थलों से भरी पड़ी होती है तो ऐसा समीक्षक अपने पाठकों की अवहेलना एवं गर्हणा का पात्र बन जाता है।

[४]

समीक्षण-कार्य का एक स्वतः उद्भूत फल संभवतः यह भी होता है कि काव्य-सौन्दर्य का परीक्षण करते-करते काव्य के जिस तत्त्व के कारण समीक्षक को सौन्दर्य

---

१. भारतीय काव्यशास्त्री इसे अभिधेयार्थ से भिन्न अर्थ (व्यंग्यार्थ) कहता है।

लक्षित होता है वह उसका नामकरण भी कर देता है। उदाहरणार्थ, उसे प्रस्तुत और अप्रस्तुत में साम्य लक्षित हुआ तो उसने इस काव्य-तत्त्व को उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, प्रतीप, आदि, नाम दे दिया। यदि उसे काव्य-सौन्दर्य विरोधात्मकता के कारण प्रतीत हुआ तो उसने इस काव्यतत्त्व को विरोध, विषम, विभावना, विशेषोक्ति, आदि, नाम दे दिया। इसी प्रकार यदि उसे परस्पर-सम्बद्ध वस्तुओं की श्रृंखला के कारण काव्य-सौन्दर्य का आभास हुआ तो इसे उसने एकावली, सार, कारणमाला, आदि, नाम दे दिया। उक्त सभी काव्य-तत्त्वों को अलंकार नाम कब दिया गया होगा—यह एक विचारणीय प्रश्न है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, आदि, ऐसे काव्य-तत्त्व हैं जिनका अवबोध सर्वप्रथम हुआ होगा, पर इन्हें 'काव्य का अलंकार' माना जाए—हमारा विचार है कि यह धारणा बहुत बाद की है। यह अलग बात है कि उपमा आदि को अलंकार कहने के बाद ऐसे अन्य काव्य-तत्त्वों को भी अलंकारों में समाविष्ट किया जाने लगा हो। तात्पर्य यह कि सादृश्यमूलक काव्य-तत्त्व के 'उपमा' नाम पड़ जाने के बाद ही उपमा को 'अलंकार' कहा गया होगा। संस्कृत-काव्यशास्त्र में अलंकार के अतिरिक्त गुण, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, आदि, तथा इनके भेदोपभेदों का नामकरण भी इसी सहज प्रवृत्ति का ही द्योतक है। और इधर, शैलीवैज्ञानिक क्षेत्र में भी समीक्षक इसी प्रवृत्ति के आधार पर विभिन्न काव्य-तत्त्वों को विपथन, समानान्तरता, अस्पष्टता, असंगतता, संक्षिप्तता, चयन, आदि, नामों से अभिहित कर देता है। वस्तुतः, समीक्षण-कार्य करते-करते विभिन्न सौन्दर्य-विधायक तत्त्वों को कोई यथावत् नाम दे देना समीक्षण-पद्धति का एक अवश्यंभावी एवं स्वतःसिद्ध परिणाम है।

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि प्रायः प्रत्येक काव्यस्थल में रस, अलंकार, गुण, ध्वनि-भेद, वक्रोक्ति-भेद, आदि, में से, अथवा विपथन, समानान्तरता, अस्पष्टता, असंगति, संक्षिप्तता, आदि, में से एक से अधिक काव्य-तत्त्व समाविष्ट रहते हैं, इस स्थिति में जिस काव्य-तत्त्व का चमत्कार प्रधानता से लक्षित हो रहा होता है, वह स्थल उसी काव्य-तत्त्व का उदाहरण मान लिया जाता है, किन्तु शेष तत्त्व परस्पर एक-दूसरे के चमत्कार का पोषण करते हुए अन्ततः प्रमुख काव्य-तत्त्व का ही पोषण करते हैं—ऐसे, जैसे सरिता में तरंगें परस्पर एक दूसरे को लहराती हुई भी मूलतः समस्त जलराशि के ही सौन्दर्य का कारण बनती हैं, और तरंगें जितनी अधिक होंगी, जलराशि का सौन्दर्य उतना ही अधिक निखरेगा।[1]

टीकाकारों को तो हम बड़ी सरलता से 'समीक्षक' कह सकते हैं, पर क्या काव्य-शास्त्रियों को भी 'समीक्षक' कह सकते हैं? इसका उत्तर 'नहीं' में ही है। भरत से लेकर

---

१. देखिए पृष्ठ २२५-२२६

जगन्नाथ तक सभी का कार्य अलंकार, गुण, आदि, विभिन्न काव्य-तत्त्वों के स्वरूप का निर्देश करना है, और उनके स्वरूप को समझाने के लिए विभिन्न काव्य-ग्रन्थों से उदाहरण ढूंढ निकालना है—उदाहरण नहीं मिलते तो इसकी पूर्ति वे स्वयं अपनी ओर से पद्य बनाकर कर देते हैं, भले ही उन्हें किसी दोष का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए सदोष पद्य की भी रचना क्यों न करनी पड़े। अतः उद्देश्य की भिन्नता के कारण हम उन्हें समीक्षक नहीं कह सकते। इन्हें समीक्षक मानने के पक्ष में कहा जा सकता है कि इनके ग्रन्थों में यद्यपि टीकाकारों के समान किसी एक ग्रन्थ को लक्ष्य में रखकर समीक्षा नहीं की जाती, अपितु भिन्न-भिन्न काव्य-तत्त्वों को लक्ष्य में रखकर उनके उदाहरणों की समीक्षा अलग-अलग रूप से की जाती है, किन्तु फिर भी, इन के ग्रन्थों में—विशेषतः वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट जैसे आचार्यों के ग्रन्थों में—हमें समीक्षण-प्रक्रिया के बहुविध तत्त्व अनायास मिलते जाते हैं। अतः हम इन्हें इस दृष्टि से एक सीमा तक तो समीक्षक कह ही सकते हैं, पर नामकरण तो प्रधानता के ही आधार पर होते हैं—**प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति**। अतः हम इन्हें समीक्षक न कहकर 'काव्यशास्त्री' अथवा 'काव्याचार्य' जैसे अपेक्षाकृत कहीं अधिक महिमाशाली व्यक्तित्व से मण्डित करते हैं। टीकाकार इन काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित अलंकार, गुण, रीति, आदि, का उल्लेख यथावत् रूप में करते हुए इनके माध्यम से अपने विवेच्य ग्रन्थ के विभिन्न स्थलों में काव्य-सौन्दर्य दिखाते चलते हैं। इस प्रकार काव्यशास्त्री यदि सिद्धान्तों के निर्देशक होते हैं, तो टीकाकार उन सिद्धान्तों के प्रयोग-कर्ता होते हैं। अतः काव्यशास्त्रियों को समीक्षक न कहकर टीकाकारों को ही समीक्षक कहा जाता है।

[५]

इसी प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय है कि काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट शास्त्रीय सिद्धान्तों को लक्ष्य में रखकर टीकाकारों द्वारा की गयी 'समीक्षा' समीक्षण-पद्धति का कहां तक उपकार अथवा अपकार करती है, तथा पाठक के लिए कहाँ तक ग्राह्य बनती है।

समीक्षक किसी रचना को एक सामान्य पाठक के रूप में पढ़ना प्रारम्भ करता है, तथा एक सामान्य सहृदय के समान उसका रसास्वादन करता है, और इसके बाद उसका समीक्षण-कार्य प्रारम्भ होता है। रचना के गुण एवं दोष उसके चित्त में उमड़-घुमड़ रहे होते हैं—वह उन्हें व्यवस्थित एवं वर्गीकृत रूप में लेखनी के माध्यम से प्रगट करता है, और इसके द्वारा वह रचना के प्रति पाठकों को आकृष्ट करता है, यदि मूल लेखक जीवित हुआ तो उसे अपने दृष्टिकोण से परिचित कराता है, तथा साथ ही, उसे रचना के दोषों से परिचित कराके भविष्य के लिए सावधान भी करता है।

एक बहुविज्ञ एवं बहुश्रुत व्यक्ति होने के नाते समीक्षक को उस रचना के पढ़ते समय उससे सम्बन्धित अन्य विषयों एवं तथ्यों की स्मृति भी अनायास आती रहती है, और वह उसके आधार पर भी रचना की परख करता है, अथवा दिखाता है कि मूल लेखन ने इतर वाङ्मय से प्रभावित रहकर उससे क्या और कितनी सामग्री ग्रहण की है, तथा उसे अनुकूल रूप में प्रस्तुत किया है अथवा प्रतिकूल रूप में।

इन शास्त्रों में से उसका सर्वाधिक ध्यान व्याकरण और काव्यशास्त्र की ओर जाता है। व्याकरण से अननुमोदित शब्दों अथवा वाक्यों के प्रयोग तो उसे बेहद खटकते हैं, और इन त्रुटियों का संकेत वह प्रायः कर देता है। साथ-ही, काव्यशास्त्रीय नियमों पर भी उसका ध्यान अनायास चला जाता है; और इसके अनुसार भी वह रचना का समीक्षण कर देता है। मल्लिनाथ और राघवभट्ट जैसे काव्य-मर्मज्ञ और शास्त्र-निष्णात टीकाकार तो काव्य-रचनाओं की समीक्षा काव्यशास्त्रीय मान्यताओं के आधार पर करके वस्तुतः काव्यशास्त्र का उपकार ही करते हैं, क्योंकि इनके द्वारा प्रस्तुत लक्ष्य और लक्षण के सटीक समन्वय का सुफल यह होता है कि विभिन्न काव्यतत्त्वों—रस, अलंकार, ध्वनि, आदि, के भेदोपभेदों के सुन्दर, और कवित्वपूर्ण उदाहरणों का एक भण्डार-सा तैयार होता जाता है। टीकाकारों द्वारा पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय धारणाओं से सहायता लेते हुए समीक्षण-कार्य करने का एक सहज एवं सुखद परिणाम यह भी होता है कि पाठक को काव्यशास्त्रीय विभिन्न तत्त्वों का परिज्ञान अनायास होता रहता है, उसकी रुचि का परिष्कार होता है; अधिकाधिक काव्य-ग्रन्थों के अध्ययन की ओर उसकी अभिरुचि की वृद्धि होती है; और किन्हीं स्थितियों में तो उसमें भी समीक्षण-प्रतिभा का उदय होने लगता है, अथवा उसमें अभिवृद्धि होने लगती है।

किन्तु इस प्रकार की शास्त्रीय समीक्षा से समीक्षा के क्षेत्र में एक ख़तरा भी बना रहता है। कुछ ऐसे समीक्षक भी होते हैं, जोकि काव्यशास्त्र के बने-बनाये नियमों पर आधारित रहकर ही अपना समीक्षण-कार्य करते हुए समीक्षण-कार्य के प्रति वास्तविक उत्तरदायित्व नहीं निभाते। इस पद्धति को अपनाने से वस्तुतः उनका समीक्षण-कार्य सरल हो जाता है—वह बस अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, रस, आदि, के भेदोप-भेदों को लक्ष्य में रखकर रचना का समीक्षण करते हुए रचना को उक्त भेदोपभेदों के चौखटे में फ़िट करते चलते हैं। इस प्रकार की बनी-बनायी समीक्षा-पद्धति को अपनाने का परिणाम यह होता कि इससे समीक्षक को अपनी ओर से कुछ भी कहने का अवकाश नहीं रहता। रचना का जो भी प्रभाव उसके मन पर पड़ता है वह उसे प्रकट न कर, मात्र शास्त्रीय चौखटों को ही समीक्षण का आधार बना लेता है, और इस तरह समीक्षण-प्रतिभा दीप्त होने के स्थान पर मन्द पड़ने लगती है। ऐसी समीक्षण-पद्धति का एक दुष्परिणाम और भी होता है कि जिन पाठकों की समीक्षण-कार्य के प्रति किंचित् प्रवृत्ति

एवं रुचि नहीं होती, वे भी इस बने-बनाये मार्ग को अपनाकर समीक्षक बन बैठते हैं, और ये तथाकथित समीक्षक समीक्षण-कार्य का प्रायः कुछ भी उपकार न कर, इसका अपकार ही करते हैं। इन समीक्षाओं के पाठक निस्सन्देह काव्यशास्त्र-विषयक विभिन्न धारणाओं से परिचित हो जाते हैं, पर जिन पाठकों में जो थोड़ी-बहुत समीक्षण-प्रतिभा होती है उसे इनसे कोई नया आयाम नहीं मिलता, इसलिए वह पुराने ढर्रे पर ही सन्तोष करने पर विवश बने रहते हैं। किन्तु यह सब, जैसाकि ऊपर संकेत कर आये हैं, मल्लिनाथ और राघवभट्ट जैसे मर्मज्ञ टीकाकारों पर किसी भी रूप में घटित नहीं होता। वे तो लक्ष्य और लक्षण के समुचित समन्वय द्वारा काव्यशास्त्र के नूतन मार्गों और सरणियों को उद्घाटित करते रहते हैं।

[६]

संस्कृत-काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में समीक्षाशास्त्रीय सिद्धान्त मूलतः सामाजिक (प्रेक्षक, सहृदय) द्वारा प्राप्त आस्वाद को केन्द्र मानकर प्रस्तुत किये गये हैं। रस का भोक्ता सहृदय है।[1] इसके आस्वाद से पूर्व वही व्यंग्यार्थ का ज्ञाता है। साधारणीकरण की प्रक्रिया में 'असाधारण विभावादिक' (अर्थात् एक विशेष घटना-चक्र) उसीके लिए साधारण रूप ग्रहण करता है। शब्दार्थ के शोभाजनक अनुप्रास एवं उपमा आदि अलंकार उसे चमत्कृत करते हैं। माधुर्य आदि तीन गुण उसी की द्रुति, दीप्ति, व्याप्ति नामक तीन चित्तवृत्तियों के अपर पर्याय कहाते हैं। दोष जब उसके रसास्वाद में बाधक बनते हैं तो दोष कहाते हैं, अन्यथा नहीं कहाते। इतना ही नहीं, जब स्वयं कवि अपने काव्य से रसास्वाद प्राप्त करता है तो सहृदय बनकर ही, और काव्यशास्त्रीय दृष्टि से तत्क्षण के लिए उसे कवि न मानकर सहृदय माना जाता है।[2] और यों भी, सहृदय तथा कवि दोनों में भावयित्री प्रतिभा होती है, और कवि में, इसके साथ ही साथ, कारयित्री प्रतिभा भी होती है।

समीक्षक किसी काव्य-स्थल में सौन्दर्यजनक उपकरण के निर्णय करने के लिए, प्रायः सहृदय की दृष्टि से विचार करता है, किन्तु कभी-कभी वह कवि की विवक्षा का आधार ग्रहण कर लेता है। उदाहरणार्थ—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती॥[3] का० प्र० १.५

---

१. कविः करोति काव्यानि रसं जानाति पण्डितः।

२. रसास्वादनकाले कवेरपि सहृदयान्तःपातित्वात्। का० प्र० (बा०बो०) पृष्ठ १०-११

३. शत्रुओं के अभिमान को चूर्ण-चूर्ण करने वाले जिस [हयग्रीव] को यों ही [घूमने के लिए] अपने महल से निकला हुआ सुनकर भी घबराये हुए इन्द्र के द्वारा जिसकी

'हयग्रीव के डर के मारे इन्द्र ने अपनी राजधानी अमरावती नगरी की अर्गला बन्द कर ली तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो अमरावती-रूपी नायिका ने डर के मारे द्वार-रूपी अपनी आंखें मूंद ली हों'—

इस स्थल में वीर रस की उद्भावना होने पर भी समीक्षक कहते हैं कि यहां कवि की विवक्षा 'उत्प्रेक्षा अलंकार' को ही प्रस्तुत करने में अधिक है, न कि वीर रस को—**उत्प्रेक्षायां कवेः तात्पर्यात् सन्तोऽपि वीर-रसादयो व्यंग्याः तिरोधीयन्ते।** (काव्य-प्रकाश, बा० बो० टीका, पृष्ठ २४)। टीकाकार का तात्पर्य यह है कि काव्य-रचना करते समय अमरावती को नायिका के रूप में उत्प्रेक्षित करना कवि को जितना अभीष्ट रहा होगा उतना वीररस का वर्णन अभीष्ट नहीं रहा होगा। वस्तुतः देखा जाए तो यह दृष्टिकोण कवि के साथ-साथ स्वयं सहृदय का भी हो सकता है। वीर रस के उपयुक्त सामग्री—विभावादि—के होते हुए भी यहां उत्प्रेक्षा अलंकार का ही चमत्कार सहृदय को बलात् और सर्वप्रथम आकृष्ट करता है। किन्तु इसके विपरीत एक पद्य और लीजिए—

सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव।

[वह नगर अब चन्द्रबिम्ब के समान हो गया है—चन्द्रबिम्ब 'सकल-कल' (सकल-कलाओं से युक्त) है, तो यह नगर भी 'सकलकल' (कलकल—शोर—से युक्त) है।]

मम्मट और विश्वनाथ ने यहां उपमा अलंकार (श्लेषानुप्राणित उपमा अलंकार) माना है, और वस्तुतः कवि का उद्दिष्ट भी यहां चन्द्र-बिम्ब और नगर का सादृश्य निर्दिष्ट करना है। किन्तु हमारा विचार है कि सहृदय ऐसे स्थलों को पढ़ते ही सर्वप्रथम श्लेष से ही चमत्कृत होता है, उपमा का चमत्कार उसे गौण एवं परवर्ती प्रतीत होता है—यहां तक कि सुरुचिपूर्ण पाठक को ऐसे स्थलों में उपमा हास्यास्पद-सी प्रतीत होती है। 'नैषधचरित' में दमयन्ती के स्वयंवर के वर्णन-स्थल में जो 'पंच-नलीय' व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है वहां कवि की अभीप्टि के अनुसार श्लेष के माध्यम से सहृदय भी एक ही पद्य के पांचों अर्थों से भले ही चमत्कृत हो उठे, किन्तु ऐसे काव्य-स्थलों में जहां कोई प्रखर पंडित टीकाकार एक ही पद्य के (उदाहरणार्थ, भागवतपुराण के प्रथम पद्य के) बीसियों अर्थ निर्दिष्ट कर देता है, चाहे ये सभी अर्थ स्वयं कवि को अभीष्ट न भी हों, तो ऐसे अर्थ सहृदय को रुचिकर प्रतीत नहीं होते। इस प्रकार इस प्रसंग में हमारा निष्कर्ष यह है कि क्योंकि सहृदय ही आस्वाद का भोक्ता है, अतः उसी को लक्ष्य में रखकर किस काव्यस्थल में किस काव्य-तत्त्व की प्रधानता है—इसका निर्णय सहृदय के

अर्गला डाल दी गयी है—इस प्रकार की [इन्द्र की राजधानी] अमरावती ने डर के मारे अपनी आंखें बन्द-सी कर लीं।